दो शब्द—

परम-करुणामय कलियुग-पावनावतार श्रीश्रीकृष्णचैतन्यदेव की असीम अनुकम्पा से, उनके परम दयितस्वरूप, मनोभीष्ट- सस्थापक, भक्ति-रस-प्रस्थानाचार्य श्रीरूपगोस्वामि-प्रभुपाद की अनुपम रचना- "श्रीविदग्ध-माधव नाटक" सुधी पाठकवृन्द के हस्तकमलो मे समर्पण करते हुए मुझे अति हर्ष है। त्रैमासिक "श्रीहरिनाम" के साथ साथ वैसे तो छोटे-मोटे अनेक प्रकाशन श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन मण्डल की ओर से बराबर प्रकाशित होते ही चले आ रहे हैं, किन्तु श्रीकृष्णदास कविराजकृत श्रीचैतन्यचरितामृत तथा श्रीजीवगोस्वामिविरचित श्रीश्रीगोपालचम्पू जैसे विशाल ग्रन्थ-रत्नो के बाद मण्डल की ओर से यह एक तीसरी बहुमूल्य भेट है।

यह वह अनवद्य ग्रन्थ-रत्न है जिसके विषय मे स्वय श्रीमन्महाप्रभु ने समस्त भक्तो के बीच स्पष्ट शब्दो मे कहा था—

मधुर प्रसन्न ईहाँर काव्य सालङ्कार।
ऐछे कवित्व बिनु नहे रसेर प्रचार॥
श्रीचैतन्यचरितामृत ३-१-१४३॥

—रूपगोस्वामि की यह रचना मधुर कवित्व से पूर्ण है, अलङ्कार-युक्त है एव चित्त को प्रसन्नता विधान करने वाली है। ऐसे कवित्व के विना रस का प्रचार नही हो सकता है।"

अर्थात् यह रचना अतिरसमय है। इसके अध्ययन मनन, से चिन्मय-रस का आस्वादन प्राप्त हो सकता है। सर्वरस-मुकुटमणि मधुररस दो प्रकार का हैं। स्वकीया-भावमय मधुररस तथा परकीया-भावमय मधुर रस। परकीय-भावमय मधुररस मे ही सर्वाधिक रस का उल्लास है। उसी रस का अशेष-विशेष आस्वादन करने के लिये ही रसिक-चूडामणि भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण श्रीवृन्दावन प्रकट-लीला को प्रकाशित करते हैं। इस

श्रीवृन्दावन प्रकट-लीला में चौसठकलान्वित, अतुलकेलि सौन्दर्य-माधुर्य-मूर्ति विदग्ध श्रीगोकुल-युवराज महाभावस्वरूपिणी श्रीवृषभानुनन्दनी के विच्छेदमय-उत्ताल तरङ्गराशि युक्त विलास महासागर में कैसे डुबकियां लेते हैं। इस समस्त का अपूर्व आस्वादन रसज्ञ पाठकवृन्द इस रचना में करेंगे।

नाटकीय-पात्रो का परिचय एवं सम्पूर्ण ग्रन्थान्तर्गत वर्णित सात अङ्कों की संक्षिप्त विवरणसूची तथा स्वकीया-भाव क्या है ? परकीया-भाव क्या है ? परकीया भाव का क्या वैशिष्ट्य है, ? व्रज-प्रकटलीला का क्या विषय है ? श्रीकृष्ण चैतन्यदेव के मत में क्या क्या समधिक विशेषताएं हैं ? इन सब का अवतरणिका में विस्तृत वर्णन कर परमाभिवन्दनीय श्रीहरिदास जी महाराज(न्याय वैशेषिक शास्त्री, प्राचीन व नव्य न्यायाचार्य काव्य-व्याकरण सांख्य न्यायाचार्य, काव्य-व्याकरण सांख्य मीमांसा वेदान्त तर्क-तर्क तर्क वैष्णवदर्शन तीर्थ) ने जहां रसिक पाठकों को ग्रन्थवर्णित गूढ विषयों को समझनेमें महान सुयोग प्रदान किया है,वहाँ मण्डल तथा सम्पादक को भी चिराभारी किया है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ दो प्रकार के संस्करणों मे प्रकाशित किया गया है। एक तो संस्कृत मूल के साथ और दूसरा केवल हिन्दी अनुवाद। जो पाठक संस्कृत से अनभिज्ञ हैं, उन्हें केवल हिन्दी-संस्करण ही अनुकूल रहेगा। हिन्दी संस्करण में भी मूल ग्रन्थ की पद्य-गद्य श्लोक क्रमसंख्या के अनुसार संख्या दी गयी है। संस्कृत-संस्करण में क्रम संख्या के साथ-साथ श्लोकों की संख्या पृथक् रूप मे दी गयी है एवं श्लोकों की वर्णानुक्रमणिकानुसार श्लोक सूची भी प्रकाशित की गई है।

जीव-स्वभाववश प्रकाशन में त्रुटि-विच्युतिसमूह का रहना, विशेषतः मुझ जैसे शास्त्र-अनभिज्ञ, साधन रहित जीव के पक्ष मे स्वाभाविक है, अतः उदार पाठकवृन्द उसे सुधार लेने का अनुग्रह करेगे।

वैष्णवदासानुदास

श्यामलाल हकीम

★

अवतरणिका



करुणामय भगवान् श्रीकृष्ण चैतन्य देव की अनुकम्पा से श्री विदग्ध-माधव नामक नाटक का मनोरम संस्करण प्रकाशित हुआ। इस अनुपम ग्रन्थ के रचयिता भक्तिरस-प्रस्थानाचार्य सुप्रसिद्ध नामा श्रीरूप गोस्वामी है। आप श्री चैतन्यदेव के केवल परिकर ही नही थे किन्तु श्रीचैतन्य देव के अभीष्ट संस्थापक तो थे ही,साथ ही श्रीचैतन्य देव के प्रिय स्वरूप, दयित-स्वरूप, प्रेमस्वरूप, सहजातिरूप, निजानुरूप, अभिन्नरूप, तथा स्वविलास रूप भी थे। श्रीचैतन्यदेव से उपदेश प्राप्त कर कालवश लुप्त हुई श्रीवृन्दावन की रसकेलि वार्ता का पुन प्रकाशन सर्वप्रथम आपने ही किया है। आपका चरित्र श्रीचैतन्य चन्द्रोदय नाटक, श्रीचैतन्यचरितामृत आदि ग्रन्थों मे सुविस्तृत रूप से वर्णित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना १५८० सम्वत् मे गोकुल मे हुई एव नाटक का नामकरण ' विदग्धमाधव" हुआ।

विदग्ध शब्द का अर्थ रसिक, निपुण, पारङ्गत, सर्वमनोहर तो सुप्रसिद्ध है ही किन्तु विदग्ध शब्द का अर्थ ग्रन्थकार के मत मे चतु षष्टि कलान्वित है। सुरम्य मधुर सर्वसल्लक्षणान्वित, बलीयान् नवतारुण्य, वावदूक, प्रियवद, सुधी, सुप्रतिभ, धीर, विदग्ध, चतुर, सुखी, कृतज्ञ दक्षिण, प्रेमवश्य, गम्भीरताम्बुधि वरीयान्, कीर्तिमान्, नारीमोहन, नित्य-नूतन, अतुल्यकेलिसौंदर्य, प्रेष्ठ, वशीस्वनान्वित गुणयुक्त विशेष प्रेमानन्दरसो के उत्ताल तरङ्गमय महावारिधि श्रीराधाविलास विच्छेद चिह्नित-माधव हैं श्रीमान् गोकुल–युवराज।

श्रव्य दृश्य भेद से काव्य दो प्रकार का है। प्रस्तुत ग्रन्थ रङ्गालय मे अभिनय के योग्य दशविध रूपकमें प्रथम व प्रधानतम है ग्रन्थकार ने साहित्य दर्पण की प्रक्रिया के वर्जनपूर्वक श्रीभरतमुनि के मत से 'नाटक चन्द्रिका'

नामक ग्रन्थ की रचना की है। उस लक्षण ग्रन्थ के दृष्टान्त रूप से विदग्ध-माधव, ललितमाधव नाटकद्वय का प्रणयन किया। इन ग्रन्थों में नाटक के लक्षण पूर्णरूप से रक्षित हुए हैं नायक भेद-दिव्य, दिव्यादिव्य,अदिव्य ख्यात-मिश्र, क्लृप्त, प्रस्तावना, आशीर्वाद, नमस्क्रिया, वस्तुनिर्देश,नान्दी, प्ररोचना, आमुख, कथोद्घात, प्रवर्तक, प्रयोगातिशय, उद्घात्यक, अवलम्बित, प्रकृति सन्धि, बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी एवं प्रधान कार्य व अङ्ग कार्य अवस्था आरम्भ, यत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति, फलागम, सन्ध्यङ्ग-मुख, प्रतिमुख, गर्भ विमर्श, उपसंहृति, द्वादश बीजभेद, त्रयोदश प्रतिमुख सन्धिभेद, चतुर्दश निर्वहण संधिभेद ३६ भूषण भेद, ४ पताका स्थान, विष्कम्भक, चूलिका, अङ्कास्य, अङ्कावतार, प्रवेशकादि, अर्थोपक्षेप समूह, स्वगत, प्रकाश जनान्तिक आदि नाट्योक्ति समूह, अङ्कस्वरूप, गर्भाङ्कस्वरूप अङ्कसख्या नाटकीय रस, सस्कृत प्राकृत भाषा विधान, भारती प्रभृति वृत्ति चतुष्टय, नर्म, और उसके भेद प्रभृति लक्षण ग्रन्थोक्त विषयों का निर्वाह इन नाटकद्वय में सुन्दर रूप से हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में धीरोदात्त व लालित्य गुण युक्त श्रीकृष्ण ही दिव्य नायक, एव रस, रसराज शृङ्गार है। सात अङ्क युक्त प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रत्येक अङ्क मे ही ग्रन्थकार ने विविध कला कुशलता से दर्शकों तथा श्रोतृवर्ग के लिये आनन्दवर्धक सामग्री का पूर्णरूप से सन्निवेश किया है।

\+ + +

नाटकीय पात्रों का विवरण इस प्रकार है—

१ सूत्रधार— नाटक प्रस्तावनाकार।

२ पारिपार्श्विक— सूत्रधार सहचर।

३ श्रीकृष्ण— श्रीयशोदानन्दन, नाटक-नायक विदग्ध-माधव, व्रजनागर।

४ श्रीनन्द— श्रीकृष्णपिता श्रीव्रजेश्वर।

५ श्रीमधुमङ्गल— श्रीसान्दीपनिमुनिपुत्र, सान्दीपनिमुनि ने अपनी मैया पौर्णमासीको परिचर्या के लिये इसे गोकुल में भेजा था। पौर्णमासी ने इसको श्रीकृष्ण का सखा बनाया। श्रीकृष्ण का यह प्रिय वयस्य विदूषक।

६	श्रीराम—	श्रीरोहिणीनन्दन, श्रीबलराम, श्रीकृष्ण के अत्यन्त प्रिय बड़े भाई।
७	श्रीदाम	श्रीकृष्ण के श्रेष्ठ सखा, श्रीराधा के बड़े भाई।
८	श्रीसुबल—	श्रीकृष्ण के प्रिय नर्म सखा, परमप्रेष्ठ।
९	अभिमन्यु—	गोप, जटिलापुत्र, श्रीराधा का मायाविवर्तित पति और चन्द्रावलि के मायाविवर्तित पति भारुण्डा पुत्र गोवर्धन मल्ल का प्रिय सखा।
१०	श्रीपौर्णमासी—	श्रीसान्दीपनि-जननी, श्रीनारद शिष्य, सब ब्रजवासियों की माननीया, श्रीगुरुदेव के आदेश से स्वमोष्ट श्रीकृष्णप्रेम मे व्यग्र-चित्ता होकर श्रीराधाकृष्ण लीलारस संभोग संघटन सहायक सेवा के लिये गोकुल में अवस्थित,सर्वसिद्धि विधायिनी, श्रीकृष्णदूती गणान्तर्भुक्ता।
११	श्रीनान्दीमुखी	सान्दीपनि कन्या, जिसे पौर्णमासी ने श्रीराधा के साहचार्य मे नियुक्त किया है। विविध सन्धान कुशल सखी।
१२	श्रीयशोदा—	श्रीव्रजराज-ग्रहिणी, श्रीकृष्णमाता।
१३	श्रीराधा—	श्रीवृषभानु कन्या, गोपिका शिरोमणि श्रीकृष्ण वल्लभतमा। वृन्दावनेश्वरी, विन्ध्यपर्वत के सम्बन्ध से चन्द्रावली की कनिष्ठा, नाटक नायिका
१४	श्रीललिता—	प्रधाना श्रीराधा-सखी, अष्टसखियों मे अन्यतमा, सर्वस परमाध्यक्षा।
१५	श्रीविशाखा—	द्वितीया श्रीराधासखी, अष्टसखियों में अन्यतमा, आलेख्य-संगीत-विचक्षणा।
१६	मुखरा—	यशोदा-धात्री,वृषभानु की श्वश्रू श्रीराधा को माता मही, वृद्धा गोपी।
१७	जटिला—	अभिमन्यु [गोप]की जननी, श्रीराधा की सास गोवर्धन-जननी, भारुण्डा की सखी वृद्धा गोपी।

१८ श्रीपद्मा— प्रधाना चन्द्रावली-सखी, निकु ज-गृहिणी, नग्नजित कन्या ।

१६ श्रीचन्द्रावली— चन्द्रभानु कन्या, विन्ध्य-पर्वत के सम्बन्ध से श्रीराधा की ज्येष्ठा सोदरा, भारुण्डापुत्र गोवर्द्धन मल्ल की माया प्रत्यायिता पत्नी, करोला की नातिनी, राधा की प्रतिपक्षीया, राधा से किञ्चित न्यूना कृष्ण-वल्लभा, प्रतिनायिका, द्वितीया नायिका।

२० श्रीवृन्दा— श्रीवृन्दावन-वनदेवी, दूतीगणवर्या, श्रीराधा की कानन-सखी।

२१ सारङ्गी— जटिला की भगिनी पुत्री, विशाल की भगिनी।

२२ श्रीशैव्या— चन्द्रावली-सखि।

२३ कराला— चन्द्रावली की मातामही वृद्धागोपी।

सप्ताङ्क—सम्वलित इस नाटक के प्रथम अङ्क मे वेणुनाद-विलास, द्वितीय मे मन्मथ-लेख, तृतीय मे श्रीराधा-सगम, चतुर्थ मे वेणुहरण पचम मे श्रीराधा प्रमादनम्, षष्ठ में शारद विहार एव सप्तम में गौरीतीर्थ-विलास सुवर्णित हैं।

एक और श्रीरूप गोस्वामी का कवित्व-माधुर्य, उसमें भी राधाकृष्ण के अनन्त सौदर्य माधुर्यमय रससिन्धु की अनन्त तरङ्गराशि, सुतरा अनेकानेक अपूर्व चित्त चमत्कारी उपभोग्य वस्तु इस नाटक में सन्निविष्ट है।

प्रथमाङ्क मे –नाटकीय लक्षण समूह के अनुसार यथारीति नान्दी, प्ररोचनादि, नान्दिमुखी व पौर्णमासी के कथोपकथन में श्रीकृष्ण के प्रति श्रीराधा को प्रगाढ अनुराग-सूचना, श्रीकृष्णनाम का अपूर्व महिमा-उट्टङ्कन (तुण्डे ताण्डविनी) पद्मपलाश लोचन पीताम्बर धारी वनमाली श्यामसुन्दर का गोष्ठ-प्रवेश, नन्दयशोदा के वात्सल्यादि वर्णन पूर्वक अपरूप वृन्दावन का शोभा-समृद्ध दर्शन श्रीकृष्ण के वशी वादन से वस्तुनिचय का स्वभाव व्यत्यय (रुन्धन्नम्बुभृत), जलधर का गतिरोध, तम्बुरु की चमत्कारिता, सनकादि का समाधिभङ्ग, ब्रह्म का विस्मयोत्पादन, राजा वलि की अस्थिरता

नागराज का मस्तक घूर्णन एवं ब्रह्माण्डकटाह का आवरण भेद करके अपूर्व मुरली ध्वनि-नाद, वृन्दावन में वासन्ती सुषमा (क्वचिद् भृङ्गीगीतं) पौर्णमासी के द्वारा श्रीराधाकृष्ण की पूर्व-राग परीक्षा, राधा नाम के श्रवण से श्रीकृष्ण का भाव विकार, एक ओर सखीगण के साथ श्रीराधा का काननप्रवेश, इसीसमय मुरली-ध्वनि श्रवण से श्रीराधा की अपूर्व आनन्द वेदना, विशाखा के हाथ में चित्रपट देख कर उक्त वेदना की वृद्धि।

द्वितीयाङ्क में— निदारुण चिन्ता देखकर विशाखा के प्रश्न के उत्तर में भानुनन्दिनी कहती हैं— वह मरकतमणिविनिन्दित शिखि शिखण्ड-धारी नवीन-युवा ने चित्रपट से वाहर निकल कर मुझे कटाक्ष-बाण से विद्ध किया है। श्रीराधा स्वप्न क्या जागरण, दिन क्या रात समस्त सुध-वुध खो कर कहती हैं— 'कदम्ब तरु मूल में' उस कामुक चूड़ामणि ने आकर मना करने पर भी मेरा हस्त धारण किया है। उसके स्पर्श से मुझे महाविव्हलता आई है। सखि ! अब मूर्छा ही मेरा दु:खमोचन करे। मुझे इस व्याधि से मुक्त करने के लिये तुम सब चेष्टा न करो। अब मृत्यु ही मेरा मङ्गल है। इसके बाद कहती हैं:— लज्जा की बात है, मेरी तीन पुरुषों में रति हुई— (एकस्य श्रुतमेव) 'कृष्ण' इस नामधारी में, दूसरे वंशीवादन-कारी में एवं तीसरे चित्रपट मे अङ्कित पुरुष में एकदा रति, क्या सर्वनाश !!! यह पुरुष त्रय एक श्रीकृष्ण ही हैं— यह बात सुनने के बाद श्रीराधा का स्वस्थता–लाभ नान्दीमुखी श्रीराधा के अन्तर-भाव को देखकर पौर्णमासी को निवेदन करने के लिये जाती है। अनन्तर पौर्णमासी व मुखरा की बात-चीत श्रीराधा का पूर्वरागजनित हृदयभाव व दैहिक-चेष्टा स्पष्ट रूप से प्रकाशित होती हैं। वे दोनों देखती हैं कि श्रीराधा की चित्तभूमि में कोई एक नवीन ग्रह प्रविष्ट हुआ है। यह था नवानुराग वीर का अति दुर्गम गम्भीर-विक्रम वैचित्र्य। प्रगाढ अनुराग विवर्त सचमुच ही बुद्धि के अगोचर हैं, क्योंकि (पीड़ाभिनव कालकूट) नन्दनन्दन-निष्ठ प्रेम का ऐसा ही स्वभाव है जो एक साथ वक्र व मधुर है। श्रीराधा का उत्कट भाव देखकर पौर्णमासी अनंग लेख प्रस्तुत करने का निर्देश करती हैं। इसके बाद— श्रीकृष्ण का पूर्वराग श्रीराधारचित कर्णिकार कुसुम कोरक पत्र का समर्पण, ललिता श्रीकृष्ण से श्रीराधा की अवस्था कहती है। परन्तु श्रीकृष्ण मे ब्रह्मचर्य का गर्व देख कर उदासीन होने पर, ललिता जब निराश होकर चली जाती है

श्रीकृष्ण का पश्चात्ताप वर्णित हुआ है— (श्रुत्वा निष्ठुरता)। इसके बाद श्रीराधा की उत्कण्ठा व्याकुलता व निदारुण खेद, विशाखा से विविध सान्त्वना सुनकर श्रीराधा कहती हैं (यत्सोत्सग सुखाशया) जिसकी सगप्राप्ति की कामना मे मैंने धर्मनाश करके भी गुरुजन-लज्जा आदि सबको त्याग दिया है वे श्रीकृष्ण अब निराश करते हैं तब मरण ही—श्रेय है। यह कह कर श्रीराधा मूर्च्छित हो जाती हैं, विशाखा श्रीकृष्ण-अङ्गस्पृष्ट विलेपन माल्यादि व श्रीकृष्ण-नाम के द्वारा चेतनता सम्पादन करती है। अनन्तर श्रीराधा कालियदह मे घुमकर प्राण त्याग करने का निश्चय करके विशाखा को लेकर द्वादशादित्य तीर्थ की ओर जाती हैं। इस समय श्रीकृष्ण भी मधुमगल के साथ भानुतीर्थ में उपस्थित होकर देखते हैं कि प्राण-सर्वस्व श्रीराधा अपनी सखी से चिर विदा माग रही है (गृहान्त खेलन्त्यो)। श्रीकृष्ण को उद्देश्य करके श्रीराधा कहती हैं—'जिसके लिये हम सब गृह-धर्म छोडकर कुपथ-चारिणी हुई हैं। अहो! अब उसका उदासीन होना क्या उचित है? विशाखा बोली— (अकारुण्य कृष्ण यदि)। फिर श्रीराधा कहती हैं सखि! श्रीकृष्ण अकरुण हो इसमे कोई दोष नही हैं, परन्तु मेरे इस अन्तिम अनुरोध की रक्षा करना—वह यह कि, मेरे शरीर को वृन्दावन के तमाल तरु की शाखा मे बाधकर रखना, श्रीराधा का यह अन्तिम भाव सबके लिये मर्मान्तिक होता है मरण निश्चय करके श्रीराधा विशाखा को बहाना बनाकर पुष्प चयन के लिये भेजकर सोचती हैं, मरूँगी निश्चित ही, किन्तु मरने के पहले और एक बार त्रैलोक्यमोहन मुख को देख कर ही मरूँगी। यह सोचकर विशाखा से कहती है—सखि। उस चित्रपट को और एक बार अच्छी तरह दिखा दो। चित्र पट नही है—विशाखा से यह सुन कर राधा श्रीकृष्णमूर्ति के ध्यान मे मग्न हो जाती हैं। इस समय श्रीकृष्ण सामने उपस्थित हो जाते हैं और विशाखा कहती है—सखि! एक बार देखो, ध्यान का साक्षात् फल। श्रीराधा नेत्र उन्मीलन कर देखती हैं। उससे अपने को जाग्रत् स्वप्न के बीच अवस्थित पाती हैं। श्रीरूप अति निपुणता के साथ आसन्न-मृत्यु श्रीराधा को लौटा लाते हैं। किन्तु प्रेमलीला मे दुर्दैव रूपा बुड्ढी जटिला आ कर रोडा डालती है। अमा प्रतिपदी चाद की रेखा उगकर ही डूब जाती है।

तृतीयाङ्क मे— खञ्जनाक्षी श्रीराधा की विलास-मञ्जरी के द्वारा

श्रीकृष्ण चित्त भ्रमर को मुग्धता पादन को देखकर पौर्णमासी श्रीराधा विषयक कथा का उट्टङ्कन करती हैं। जिसमे श्रीकृष्ण की अवहित्था, मधुमङ्गल के मुख से श्रीकृष्ण के जागरण आदि अवस्थाओ को सुनकर पौर्णमासी आश्वस्त होती हैं एव श्रीराधा के मूर्च्छान्त विविध भाव विकार का विवरण देते हुये श्रीकृष्ण के अनुमति सूचक दक्षिण नयन निमीलन को देख कर सकेत स्थान का निर्देश करके प्रस्थान करती है। तब श्रीराधा *विशाखा के साथ श्रीकृष्णमिलन की तीव्र उत्कण्ठा प्रकाश करती हैं* पौर्णमासी श्रीकृष्ण के पास श्रीराधा की अनेकानेक चेष्टाओ के कहने से भी श्रीकृष्ण की उदासीनता दूर नही कर सकी— ऐसा श्रीराधा को कहती है और अतएव दूसरा उपाय ढूण्ढने की बात कहती हैं। इस बात से श्रीराधा को उत्तानयन देखकर पौणमासी पुनर्वार आश्वासन देकर श्रीकृष्ण के प्रौढ प्रेम की अभिव्यक्ति करके ललिता से कहती है। 'तुम सकेतित कणिकार कुञ्ज मे श्रीराधा को अभिसार कराओ' अब श्रीकृष्ण-राधा-निर्दिष्ट माकन्द कुञ्ज मे आ कर विशाखा को न देख कर व्याकुल हो उठते हैं, कुछ ही क्षणो के बाद विशाखा आकर कहती है— "अभिमन्यु ने श्रीराधा को मथुरा भेज दिया है" यह बात सुनकर श्रीकृष्ण मूर्च्छित हो जाते हैं। विशाखा पुनर्वार श्रीराधा का अपूर्व अनुराग प्रकट करके (दूरादप्यनुसङ्गत *श्रीकृष्ण को* 'सान्त्वना देकर सकेत कुञ्ज की ओर ले जाती हैं। इस समय विशाखा के विलम्ब से श्रीराधा की विविध आशङ्का, उद्वेग, खेद आदि सकेत कुञ्ज में दोनो का मिलन, सखियो का रगारस, नवसगम मे श्री राधा की लज्जा भयादि निवारण के लिये सखियो की चेष्टादि का वर्णन है। आगे इस समय मुखरा को देखकर श्रीकृष्ण का वना तराल मे प्रवेश, मुखरा का निद्रा के आवेश मे गृहमध्य मे प्रवेश पुनर्वार श्रीकृष्ण की कुञ्ज मे आगमन पुष्प उतारने के छल से ललिता विशाखा का बाहर गमन, निकुञ्ज की चन्द्रशालिका मे श्रीराधा-कृष्ण का गमन आदि वर्णित है।

चतुर्थाङ्क मे— पूर्वराग व सम्भोगादि के द्वारा स्वपक्षीय रस विवृत किया गया है। फिर रस पुष्टि के लिये विपक्ष मद वणन मे प्रवृत्त होकर ग्रन्थकार वैशाखी पूर्णिमा से लेकर चारो रात्रियो का बर्णन करते हैं। नान्दीमुखी के साथ विपक्षा पद्मा सखि की बातचीत से पता चलता है कि अब नागरीगुरु, नयनानन्द-श्रीनन्दनन्दन ने श्रीगोवर्द्धन कन्दरागृह मे

गमन किया है। सुवल के विकट कृष्ण की श्रीचन्द्रावली-दर्शन-लालसा का ज्ञापन,एवं मुरली-निनाद,मुरली सुनकर चन्द्रावलि का आक्षेप,चन्द्रावली को सामने देखकर स्तुति, आदि वर्णन किये गये हैं। यहां पर श्रीकृष्ण का प्रेम वहुनिष्ठ की भांति प्रकाशित होता है।

श्रीराधा विषयक ऐसी प्रगाढ़ प्रेमोत्कण्ठा धारण करते हुये भी, श्रीकृष्ण चन्द्रावलो की कुंज में जाकर उसी प्रकार के भाव का प्रकाश किया करते हैं.किन्तु यह शठता के सिवा और कुछ नही था क्योंकि-श्रीकृष्ण कहते हैं-- हे लोचनेन्दीवरचन्द्रिका चन्द्रावलि ! तुम्हारे विरह में मैं अत्यन्त अवसन्न हो रहा था, अकस्मात् कानन में मधुर-रसा, शीतल-स्पर्शी अमृतमयी राधा ने मुझ से मिल कर मेरे संताप का निवारण किया है। यह बात कहते न कहते ही कह बैठे 'धारा धारा' गोत्र स्खलन को देखकर चन्द्रावली की असूया प्रकाशित होती है, कृष्ण के साथ चन्द्रावली पद्मा का विदग्धतापूर्ण प्रणय-कलह, इसके वाद भद्रकाली दर्शन के बहाने श्रीकृष्ण का प्रस्थान, केशर-कुञ्ज में राधा को लाने के लिये सुबल को भेजना, श्रीराधा का केशर-कुञ्ज में आगमन, चतुरता से वन में श्रीकृष्ण का आत्मगोपन, क्रीड़ाकुञ्ज में श्रीराधा का वासक सज्जा निर्माण, किन्तु क्रमशः रात अधिक हो जाने से श्रीराधा के हृदय में उत्कण्ठा का भी बढ़ना, युगपद निर्वेद, खेद, मूर्छा निःश्वास, त्याग आदि विप्रलब्धा नायिका का लक्षण श्रीराधा में प्रकाश होना वर्णन किया गया है। सोचती हैं-- शायद पद्मा ने श्रीकृष्ण का कही पर अवरोध कर लिया है। तब ललिता-विशाखा को साथ लेकर विरह-व्याकुल श्रीराधा श्रीकृष्ण को ढूंढने के लिये निकल कर कुछ ही दूर जाते ही श्रीकृष्ण को मिलती हैं, तब दोनों पक्ष मे परिहास वाक्य का आरम्भ होता है, अनन्तर श्रीचन्द्रावली की बात उठाने से श्रीराधा की असूया किन्तु उनके कटाक्ष-बाण से मुग्ध होकर श्रीकृष्ण भूल कर अपनी मुरली को भी पुष्प पुटिका के साथ श्रीराधा के वस्त्रांचल मे दे देते हैं श्रीकृष्ण के अङ्ग में रतिचिह्न को देखकर श्रीराधा में खण्डिता भाव उदित होता है। उनके संतोष के लिये श्रीराधा के रूप-वर्णन के बहाने से दशावतार का सादृश्य दिखाया गया है। ललिता द्वारा प्रत्युत्तर प्रदान करने से श्रीकृष्ण मधुमङ्गल के हाथों से मल्ली माला को भ्रूसंकेत

के साथ विशाखा को दिलाते हैं। जिससे विशाखा का मान तो हट जाता है किन्तु राधा का मान नही जाता। तव स्वयं मस्तकस्थित मयूर-पिच्छ चूडा को धूलि— धूसरित करते हुये प्रणाम करके श्रीकृष्ण श्रीराधा को कटाक्ष-माधुरी की भिक्षा करते है। इसी समय मुखरा आकर रसोल्लास में वाधा डालती है। श्रीकृष्ण वंशी अन्वेषण करते है, श्री राधा को चोरी का अपवाद देते हैं। तव मुखरा श्री राधा को लेकर चलो जाती है।

पञ्चमाङ्क में— पौर्णमासी के मुख से श्रीराधाभाव का नैसर्गिक प्रेम लक्षण प्रकटित हुआ है (स्तोत्रं यत्र तटस्थतां) यहां पर प्रशंसा से उदासीन होकर मनोवेदना, एवं निन्दा को परिहास मानकर, आनन्द उत्पादन होता है। अपरन्तु दोप में भी अल्पता नहीं होती है। गुण में भी वृद्धि नहीं है, वह ही नैसर्गिक प्रेम है।

श्रीकृ ण की शठता से एवं ललिता की वचनभङ्गी से कुछ क्षण क लिये श्रीराधा के हृदय में मान का भाव आ जाता है, किन्तु प्रगट प्रेम की वन्या से वह ठहर नही सकता। श्रीराधाकलहान्तरिता भाव में विभोर हो जाती हैं। उनको कृष्ण-विभ्रम होने लगता है मन में ऐसे लगता है जैसे श्रीकृष्ण वलात्कार से उनको आलिंगन कर रहे हों नान्दीमुखी स्वभावतः मृदुला श्रीराधा से श्रीकृष्ण के प्रति काठिन्य प्रकाश का कारण पूछती है। नान्दीमुखी के मुखमे श्रीकृष्ण की योगिवत् भोगविलास की वार्ता को सुन कर श्रीराधा सखियों से कारुण्य की भिक्षा मांगती हैं। इस समय श्रीराधा मुरली को हाथमे लेकर प्रशंसा व निन्दा करने लगती है। विशाखा कहती है— इसका आश्चर्य गुण यह है कि पवन की ओर धरने से यह अपने आप ही वज उठती है। श्रीराधा परीक्षा करते ही विपद को बुला लेती है वंशीनाद सुनकर जटिला आकर तर्जन, गर्जन करने लगती है। ललिता और सुवल की वाक्-चातुरी से जटिला मुरली को फेंक कर चली जाती है

- पौर्णमासी श्रीराधा को अभिसार कराती है। श्रीकृष्ण ध्यान की तीव्रता से सर्वत्र ही राधामय देखते हैं। जटिला की बहिन की पुत्री सारङ्गी अभिसारिका राधा को देख कर जटिला को कह देती है। जटिला भीषण क्रुद्ध होकर राधा को फटकारती हुई हाथ पकड कर खीच कर ले जाती है

है। अभिमन्यु द्वारा श्रीराधा की विविध ताड़ना भर्त्सना होगी— यह सोच कर श्रीकृष्ण विषण्ण-चित्त से प्रतीक्षा करते हैं। इसी समय मधुमङ्गल आ कर कहता है — "जब जटिला राधा को फटकार रही थी तब राधा घूंघट पट को उतार कर सबके सामने सुबल बनगई, एव ललिता वृन्दा बन गयी और जटिला लज्जा से भाग गई।" सखियो के चित-चमत्कारी नैपुण्य से व्रजलीला वास्तव मे समय समय पर इस प्रकार अद्भुत रस की लीला-स्थली बनती रहती है। कुछ ही क्षणो के बाद ललिता व श्रीराधा के आने पर श्रीकृष्ण-मधुमङ्गल उन दोनो को वृन्दा व सुबल मान कर सम्बोधन करते है। पुन कुछ क्षणो के बाद प्रकृत वृन्दा के आने पर भी सबो का भ्रम अपनोदन नही होता है यह देख कर वृन्दा कहती है— यह ही प्राकृत राधा है। श्रीकृष्ण का भ्रम मिटा। श्री राधा मानिनी होकर रोने लगती है। कृष्ण कातरता प्रकाश करते हुये अनुनय-विनय करते हैं। ललिता कहती है—(धारा वाष्पमयी न विरर्ति)

जो व्यक्ति नन्दनन्दननिष्ठ-प्रेम धारण करने का अभिलाषी है उसको कभी भी अश्रु धारा बन्द नही होती। श्रीराधा के प्रसन्न होने पर जैसे भी मिलन की आनन्दोल्लासमय नवविहार की बात चीत होती है उसी समय फिर जटिला आ पहुचती है। देखकर श्रीराधा, ललिता, वृन्दा भय से भाग जाती हैं। किन्तु जटिला राधा को सुबल ही मानती है। श्रीकृष्ण व मधुमङ्गल गोकुल को चले जाते है।

षष्टाङ्क मे— श्रीराधा के अङ्ग मे पीत-वसन देखकर जटिला उत्तेजित हो उठती है। किन्तु विशाखा उसका समाधान कर देती है। ललिता विशाखा पद्मा का स्वीय स्वीय यूथेश्वरोदय के गौरव में कलह, वृन्दावन मे प्रवेश करके श्रीकृष्ण की मुरली ध्वनि सखोद्गम के साथ श्रीराधा का प्रवेश, एव अपाङ्ग भङ्गिमाए श्रीकृष्ण का रूप माधुर्य पन, तथा यहा पर श्रीराधा-कृष्ण का कथोपकथन एव विलासादि ग्रन्थाकारने अति निपुणता से अङ्कित किया है। इसमे बात बात मे प्रणयिनी का अभिमान, वनान्तर मे भागना-श्रीकृष्ण के द्वारा अन्वेषण, ललिता-विशाखा का सुन्दर सरल सजीव व मधुमय वाग्विन्यास एव स्वार्थ शून्य व्यवहार इत्यादि—इस अङ्क का वैशिष्ट्य है।

सप्तमाङ्क मे—पौर्णमासी की बात से आश्वस्त होकर अभिमन्य श्रीराधा का मथुरा गमन स्थगित कर देता है। सौभाग्य पूर्णिमा के अवसर पर

गोपिया आनन्द उत्सव मे विभोर हो उठती है, चन्द्रावली के साथ कृष्ण, पद्मा, शैब्या की बात-चीत हो रही है। इसी समय ललिता-वृन्दा की उपस्थिति एवं उभय पक्ष मे वाक् कलह होने लगता है। हठात् वहा कराला आकर चन्द्रावली को लेकर चली जाती है। श्रीराधा अभिसारिता होती हैं। दोनो का मिलन होता है। श्रीकृष्ण के मुख से 'चन्द्र' सम्बोधन सुनकर श्रीराधा का कोप विशाखा-ललिता की आत्यन्तिक चेष्टा से मान का अनुपशम, श्रीकृष्ण का निकुञ्जविद्या देवी का वेश धारण कर अवस्थान करना, ललिता-विशाखा की सहायता से श्रीराधा के साथ निकुञ्जविद्या देवी का मिलन वर्णित है। हठात् गौरीगृह मे जटिला, अभिमन्यु प्रविष्ट होकर देखते हैं कि साक्षात् महेश महिषी की आराधना श्रीराधा कर रही है। अभिमन्यु के जीवन सकट को सूचित करते हुये गौरी व वृन्दा की वाक्-चातुरी से श्रीराधा का मथुरा जाना स्थगित हो जाता है। पौर्णमासी का आगमन व अखण्ड निकुञ्ज विलास का इङ्गित के साथ प्रेमानन्द रस के उत्ताल तरङ्गमय महासागर मे यह "विदग्धमाधव" नाटक सम्पूर्ण होता है। श्रीराधा का विलास, विच्छेद से समलंकृत है। इस चौंसठ कलाधारी विदग्धमाधव नाटक का अनुशीलन सज्जनगण द्वारा ही सम्भव है। यह ग्रन्थ भक्तिरस का उपजीव्य है।

× × ×

श्रीचैतन्यदेव के मत मे, उपास्य, उपासक, एव, उपासना आदि का निर्णायक शास्त्र श्रीमद्भागवत होने के कारण तदीय अनुयायियो को इन सब विषयो का निर्णय करने मे विविध जटिल परिस्थितियो का अनुभव करना अपरिहार्य है। साथ ही इन सब विषयो का सुष्ठु समाधान होना भी आवश्यक है।

मनोमूल ही ससार है। परमार्थिक वस्तु के स्मरण मे योग्यता और मनन अभिनिवेश के लिये साध्य, साधन, साधकगत, असम्भावना, विपरीत भावना, दूरीभूत होना भी आवश्यक है। श्रीमद्भागवत स्वरूप प्रमाण मे विचित्र प्रतिपाद्य विषयो का, वैशिष्ट्य, महावाक्य श्रीनाम, अद्वय तत्त्व, ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्, श्रीकृष्ण, ऐश्वर्य, माधुर्य, धाम, परिकर, आदि की, व्यवस्था रस-उपासना भाव वैशिष्ट्य आदि का समाधान अति उपादेय रूप से हुआ है।

अनेक प्रमाणों में श्रुति प्रमाण ही सर्वश्रेष्ठ है; कारण अन्य प्रमाण अतीन्द्रिय वस्तु के स्थापन में दोषमुक्त नही है। श्रुति-प्रमाण में भी श्रीमद्भागवत की सर्वश्रेष्ठता स्वीकृत हुई है। इसमें परतत्त्व विनिश्चायक "वदन्ति तत्तत्वविद" जो यह श्लोक कहा गया है, उसमें एक स्वरूप का ही त्रिधा अविर्भाव सूचित हुआ है। ब्रह्म, परमात्मा, भगवान इस त्रितत्व मे स्फुरित स्वयं रूप ही साधक की दर्शनशक्ति के अनुसार अविर्भूत होता है। निर्धमक एवं अस्पष्ट विशेष रूप से अभिव्यक्ति होने से ब्रह्मतत्व कहलाता है। सधर्मक होकर आंशिक शक्तिप्रकाशन विशिष्ठ स्वरूप ही परमात्मा एवं पूर्ण दर्शन में सम्पूर्ण स्वरूप शक्ति प्रकाशमय वस्तु ही भगवत्पदवाच्य है। भगवत्ता में निरुपाधिक प्रीति पात्रत्व, गुण, 'माधुर्य" जितना अधिक प्रकाशित होता है, उतनी ही श्रेष्ठता जाननी होगी। अंशी भगवान श्रीकृष्ण में निरुपाधि प्रीति-पात्रता समधिक है। अतएव अंशी श्रीकृष्ण की प्रतिपादक श्रीमद्भागवत ही अंश प्रतिपादक शास्त्र-समूह की शिरोमणि है। अर्थात परतत्व वस्तु प्रतिपादक शास्त्र-समूह श्रीमद्भागवत के ही अन्तर्भूत है। "शास्त्रं भागवतं पुराणममलं"।

उपासना एश्वर्य व माधुर्यभाव से ही होती है। ऐश्वर्य भाव की उपासना में सतत परमेश्वर बुद्धि रहती है। इसलिये वहां निरुपाधि प्रीति का अवकाश भी नहीं है। किन्तु माधुर्यभाव की उपासना में कदाचित् परमेश्वरत्व प्रकट होने पर भी उससे संभ्रमव गौरव बुद्धि न होकर प्रियता की गाढ़ता होती है। माधुर्यभाव का चरमविकास है मधुरारति में। अन्यान्य रस मधुरा-रति में अन्तर्मुक्त हैं। अथवा इसके पोषण के लिये ही नियुक्त होते हैं। अनुकूल गाढ़ प्रेममयी तृष्णा के द्वारा ही श्रीकृष्ण सुख लाभ करते हैं एवं महत्कृपा से अथवा महत्सङ्ग से ही इस जातीय का दृढ भाव साधक के हृदय में संक्रमित होता है। इस सब विवरण का श्रीचैतन्यमतीय ग्रन्थों में पुनः पुनः विचार विश्लेषण हुआ है। भगवत्प्राप्ति का सहज सुखकर उपाय निध-रण करने में चैतन्य मत का यह अवदान असमोर्ध्व है।

विमुक्ति व प्रीति ही प्रयोजन तत्व परतत्व का ज्ञान, या अनुभव है। शब्द से परतत्व का साक्षात्कार होता है। साक्षात्कार शब्द से प्रियता ही ध्वनित होती है। प्रियता की वैचित्री बहुविध है। उसमें मुख्य हैं दास,

सखा, पुत्र, कान्तभाव। कान्तभाव में ही प्रीति की सर्वश्रेष्ठता आर्यशास्त्र मे उद्घोषित हुई है। इस मे श्रीगान्धर्वादयित (कृष्ण) जिस प्रीति के आधार या आश्रय (श्रीराधा) के निकट स्वाधीनरूप से प्रकटित होते हैं, वह प्रीति ही की पराकाष्ठा है।

स्वरूपानन्द व स्वरूपशक्ति के साहचर्य से प्रकाशित आनन्दभेद से परतत्व का आनन्द भी द्विविध है— १. स्वरूपानन्द और २. शक्त्यानन्द अर्थात् आश्रय-तत्व से प्रीति का चिन्मय जो आनन्द प्राप्त होता है। स्वरूपानन्द से शक्त्यानन्द की श्रेष्ठता है, उस मे भी, ह्लादिनी शक्ति के द्वारा प्रकाशित आनन्द कोही आनन्दाधिक्य सर्वमहज्जन ने स्वीकारकिया है। उक्त शक्ति उपास्यउपासक दोनोंकी ही आनन्ददायिनी है। ह्लादिन शक्ति का सर्वश्रेष्ठ प्रकाश श्रीराधा मे है। सुतरा श्रीराधा व तदनुगागण के सेवित परतत्व के प्रति आनुकूल्यमयी प्रीतिविधान करना ही—प्रयोजनविचार मे सर्वश्रेष्ठ है।

सर्वत्र स्वीकृत है कि निज अपेक्षा श्रेष्ठजनो की पूजनें एकान्त कर्तव्य है और यह पूजन क्रिया आनुगत्यमूलक ही है। कृतज्ञता ही वैष्णवधर्म मे विशिष्ट लक्षण है। चैतन्यमतीय वैष्णवधर्म मे श्रीगुरुरूपा सखी के आनुगत्य से कुञ्जसेवाधिकार लाभ करना ही अभीष्ट वस्तु है। यह प्रथा अन्यत्र विरल है। महाप्रसाद, गोविन्द नाम, ब्रह्म व वैष्णव मे सुदृढ विश्वास —ये सब इस धर्म मे परिस्फुट रूप से अभिव्यक्त हुए हैं। इस मत मे श्रीहरि—वैष्णव के अचिन्त्यभेदाभेद प्रकाश हैं– श्रीगुरुदेव। अभेद विचार मे आप उपास्य-पराकाष्ठा हैं। तथापि श्रीप्रभु–श्रीभगवान के नित्य प्रेष्ठ हैं। श्रीगुरु आश्रय जातीय तत्व हैं और श्रीकृष्ण विषय वस्तु। श्रीगुरुदेव भगवान होकर भी सेवक, मुकुन्द प्रेष्ठ हैं, एव रागमार्गीय स्वरूपसिद्ध व्यक्ति की दृष्टि से अभिन्न वार्षभानवी प्रकाश हैं।

श्रौतपन्थिगण ही केवल श्रीगुरुदेव की नित्यता स्वीकार करते हैं। ज्ञानवाद, बौद्धवाद अहंत्ववाद चार्वाकवाद आदिके दार्शनिको के मतमे श्रीगुरुकी पारमार्थिक नित्यता स्वीकृत नही है। ज्ञानवाद मे त्रिपुटीलय में गुरुशिष्य सम्बन्ध नही रहता है। योगसिद्धि मे सिद्धिलाभ के पश्चात् गुरुसेवा की

आवश्यकता नहीं है। सुतरां इस प्रकार क्षणिक गुरुवाद में पराभक्ति भी सुदुर पराहत होती है।

जीवतत्व विचार में भी इस मत का वैशिष्ट्य हैं। मायाधीश भगवान व मायावशवर्त्ती जीव, सुतरां उभय के बीच मे भेद अनिवार्य है। शक्ति शक्तिमत विचार में अभेद हैं। वास्तव वस्तु एक है। वस्तु का अंश जीव, वस्तु को शक्ति माया, वस्तु का कार्य जगत्, यह ही अचिन्त्यभेदाभेद वाद है। उसमे शास्त्रीय निखिलवाद तथा समस्त श्रुति आदि शास्त्रों का मुख्य रूप से सुन्दर सामञ्जस्य विधान हुआ हैं।

इस मत में उपास्यतत्व स्वयं भगवान् श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण हैं। श्रीराधा-प्राणबन्धु की उपासना ही सर्वश्रेष्ठ हैं। यह मत असमोर्ध्व रूप से उद्घोषित हुआ हैं।

निरुपाधि प्रीति पात्रता ही भगवत्ता का सर्वश्रेष्ठ लक्षण हैं। उस निरुपाधि प्रीतिपात्र के प्रति जिसकी जितनी अधिक प्रीति हैं, उसके निकट उतना ही अधिक रूप से प्रीति पात्रता गुण-माधुर्य प्रतिफलित होता हैं।

सब अवतारों से श्रीगोकुलनाथ में वह प्रीतिपात्रता सर्वापेक्षा अधिक हैं। इसमे भी जो सर्वश्रेष्ठा श्रीकृष्ण-आराधिका श्रीराधिका के आनुगत्य से मधुर-रस की उपासना करते हैं उनके निकट श्रीगोकुलनाथ का माधुर्य ही सर्वापेक्षा अधिक हैं। मधुर-रस का वैशिष्ट्य बहुविध होने पर भी सर्वश्रेष्ठ श्रीराधिका के श्रीप्राणबन्धु ही उपास्य विचार में पराकाष्ठा-स्वरूप हैं।

श्रीनिम्बार्काचार्य पाद द्वारा श्रीराधा की उपासना-कथा कहने पर भी उसमें सुष्ठुता प्रदर्शित नहीं हुई हैं; कारण कि उसमें स्वकीयावाद ही समुल्लसित हुआ हैं। श्रीविष्णुस्वामी के आनुगत्य से श्रीकृष्णकर्णामृत मधुर रसाश्रित लीलाकथा कीर्तन करने पर भी उसमें श्रीचैतन्यदेव प्रदत्त श्रीवृषभानुनन्दिनी की आनुगत्य मूलक चमत्कारिता का अभाव हैं। श्रीगीतगोविन्द में यह कीर्तित ही नहीं हुई हैं। सुतरां अनर्पितचरी उन्नतोज्ज्वलरस गर्भा आनुगत्यमयी स्वभक्तिश्री का समर्पण ही इस अवतार का प्रधानतम वैशिष्ट्य हैं।

श्रीरामानुजाचार्य के मत में वैकुण्ठ ही परम धाम है। श्रीमध्व- के मत में श्रीकृष्ण के पञ्चस्थान— भूर्लोक, सूर्यमण्डल, ब्रह्मलोक या सत्यलोक रुद्रलोक एवं वैकुण्ठ, का उल्लेख है महाभारत तात्पर्य निर्णय में एवं श्रीमद्द्वादश स्तोत्र के ६/५ स्तोत्र में गोकुलस्थ श्रीकृष्णलीला का भी वर्णन है।

श्रीनिम्बर्काचार्य ने सविशेष निर्विशेष श्रीकृष्ण स्तव में श्रीकृष्णधाम को सर्वोपरि रूप से वर्णन किया है। श्रीपुरुषोत्तम आचार्य दश श्लोकी भाष्य में उस धाम को 'द्वारका' नाम से उल्लेख करते हैं। वेदान्तरत्न-मञ्जूषा ग्रन्थ में उन्होंने कहा है— "**रुक्मिणी सत्यभामा ब्रजस्त्री-विशिष्ठः श्रीभगवान्**" इस वाक्य से द्वारका या गोलोक का बोध नहीं होता। सविशेष निर्विशेष श्रीकृष्णस्तव' की टीका में किन्तु गोलोक शब्द का उल्लेख हुआ है। गोपालताप्नी में श्रीवृन्दावन एवं ब्रह्मगोपाल पुरी—मथुरा का उल्लेख है, किन्तु गोलोक का उल्लेख नहीं है।

"श्रीहरिभक्तिविलास" ग्रन्थ के मत में विधिमार्ग में श्रीकृष्णपूजा केलिये श्रीवृन्दावन में आवरण देवता केमध्य में वसुदेव-देवकी एव रुक्मिणी आदि महिषीगण भी हैं। गौतमीय तन्त्र के ध्यान में— श्रीवृन्दावन में गोपी व महिषीगण का भी सस्थान है।

इस ध्यान के अनुसार यदि कोई श्रीवृन्दावन में श्रीकान्ता होने की इच्छा करके भी महिषीयों का ध्यान करे तो उनको द्वारका में महिषी-स्वरूप ही प्राप्त होगा।

(भक्तिरसामृत १/२/१५७)

श्रीवल्लभाचार्य के मत में गोलोक में मधुरभाव की बात है। (अण्डभाष्य ३।३।१)। ईश्वर बुद्धि भी है। मधुर भाव तो है, किन्तु शुद्ध माधुर्य नहीं। श्रीचैतन्य मत में गोलोक देवलीला स्थान है। गोपियों के आनुगत्य को छोड़ कर ऐश्वर्य भाव से भजन करने पर भी श्रीव्रजेन्द्र-नन्दन की प्राप्ति नहीं होती।

वैकुण्ठ से श्रेष्ठ मधुपुरी हैं, और फिर परम श्रेष्ठ है श्रीवृन्दावन।

पूर्णतम श्रीकृष्ण यहां पर पूर्णतम स्वतन्त्रता से केलिमाधुरी को प्रकट करते हैं। धाम के विचार में उसी की सर्वश्रेष्ठता है। सुतरां गोलोक नामक स्थान गोकुल का ही वैभव स्वरूप है।

श्रीचैतन्य मतीय शास्त्र, नाम, मन्त्र, उपास्य, साधन, प्रयोजनादि सब ही परात्पर तत्व है। आपका अनुमत शास्त्र 'श्रीमद्भागवत' स्वयं भगवान पूर्णतम श्रीकृष्ण का निर्णायक होने के कारण पूर्णतम, तद्भिन्न शास्त्र आंशिक हैं।

मन्त्रों में जिस मन्त्र में प्राण के साथ श्रीमूर्तियों का निवास है, वह एक 'श्रीराधाकृष्ण' नाम है। उपास्य में ब्रह्म परमात्मा का आविर्भाव है। आराधिका श्रीराधिका में, समस्त उपासक है। साधन में यावतीय साधन हैं, एवं प्रयोजक-पराकाष्ठा में समस्त प्रयोजन ही अन्तर्भुक्त हुआ है। सुतरा इस मत के सम्पर्क से ही श्रीभक्तिरसामृत-सिन्धु का स्पर्श, उसमें अवतरण, निमज्जन, अवगाहन सन्तरण और उससे रत्न आहरणसम्भव है। गौडीय वैष्णव-साहित्य सर्व-सकीर्णता-विमुक्त एवं महारसभाव माधुर्यावगाही है। विशाल औदार्य व जगत् के प्रति प्रीतिमय व्यवहार में यह अद्वितीय ही है। नम्रता, धीरता, गर्भ-स्वापकर्ष प्रदर्शन में, औरों को सम्मान देने में भी अप्रतिम हैं। संस्कृत-साहित्य के रस-वस्तु की आलोचना को सुविशद् व परिस्फुटतर रूप से जगत् के सामने श्रीमन्महाप्रभु ने प्रकट किया है।

श्रीभगवान के सम्बन्ध में भगवद् विश्वासी जन गणों की जो धारणा है— कि श्रीभगवान् पाप पुण्यों के विचारक व अनन्त ऐश्वर्यमय हैं। — इस धारणा के शिखर पर आरोहण करके श्रीचैतन्य ने भगवान् श्रीकृष्ण को प्राणाराम हृदयसखा कहा है। 'भगवान प्रेमास्पद' है— इस उक्ति के उर्ध्वस्तर में आरोहण करके श्री भगवान को उपपति रूप से ग्रहण करने का आदेश दिया है। यही परकीया भाव की उपासना ही इनके मत का महान् वैशिष्टय है। व्रजवधुओं में यह भाव निःसीम रूप में है। फिर श्रीराधाजी में ही इस भाव की असमोर्ध्व पराकाष्ठा है। परिपूर्ण कृष्ण की प्राप्ति—इस प्रेम से ही होती है। और श्रीकृष्ण इसी प्रेम के वश हैं।

स्वीया व परकीया

व्रज का औपपत्य एक असाधारण-भाव है। व्रजदेवीगण साक्षात् स्वरूप शक्ति को चिन्मयी मूर्त्ति होकर भी नित्य परकीया रूप मे प्रतिष्ठिता हैं। स्वीया और परकीया यह दो शब्द यहाँ पर पारिभाषिक हैं। स्वीया शब्द का अर्थ बहिरङ्ग विधान-विप्राग्नि साक्षी करके आनुष्ठानिक रूप से सम्बध स्थापित करना ही है। द्वितीय पक्ष का अर्थ है—अन्तरङ्ग प्रेममय विधान के द्वारा परस्पर का स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापन।

इस औपपत्य मे तक का अस्पृश्यता युक्ति की अदृश्यता एव मन का लोकोत्तर सामान्य भाव विद्यमान है।

श्रीभगवान् की किसी लीला का भी कोई नियामक नही है। वे कमरतन्त्र नहीं हैं। मानव समाज की भाँति निर्दिष्ट समय में नियन्त्रित नही हैं। किन्तु रसोत्कर्ष वधन के लिये वे चिन्मय जगत् के एक महाशक्तिशाली इस भावविशेष को ग्रहण करते है।

जागतिक परकीया मे रसाभास दोष है। व्रजगोपियों में उसकी आशङ्का भी नही हो सकती। क्यो नही ? इसके उत्तर मे उपपति का लक्षण कहते हैं।

परकीया रमणी के प्रति अनुराग से धर्म उल्लघन कर जो उस परकीया नारी का प्रेम-सर्वस्व होता है, उसको उपपति कहते हैं [उज्वलनीलमणि]

इस औपपत्य मे ही शृङ्गार रस को पराकाष्ठा प्रतिष्ठित होने के प्रधानत तीन हेतु है—

बहुवार्यमानता, प्रच्छन्न कामुकता व परस्पर दुर्लभता।

औपपत्य सम्बन्ध मे लघुत्व की जो वर्णना है वह प्राकृत नायक सम्बन्ध मे ही प्रयोज्य है, किन्तु मधुर रस आस्वादन के लिये हो जिनका अवतार हुआ—और अवतरित प्रिया वर्ग भी जिनकी स्वरूप शक्ति नित्य प्रेयसी हैं—उन श्रीकृष्ण के सम्बन्ध मे औपपत्य का लघुत्व या हेयत्व नही हो सकता।

इस विषय मे प्राचीनकाल से श्रीचैतन्यमत मे दो प्रकार की विचार-धारा विद्यमान है उसका विवरण इस प्रकार है—

१. श्रीजीवगोस्वामी की विचारधारा मे साधारण उपपति का जो लक्षण निर्दिष्ट है,श्रीकृष्ण मे वह बिल्कुल ही प्रयोज्य नही हो सकता। नित्यलीला मे परकीया भाव नही होता। माया के द्वारा रसविशेष परि-पोषण के लिये औपपत्य की प्रतीति हो ी है। ब्रह्ममोहन मे भी मायिक लीला देखी जाती है।

श्रृङ्गार रस मे उपपत्य रसाभास जनक हैं श्रृङ्गार रस अति पवित्र है, यथा—श्रृङ्ग हि मन्मथोद्भेदस्तदागमन हेतुक, उत्तम प्रकृति प्रायो-रस श्रृङ्गार इष्यते।

यहाँ पर उत्तम प्रकृति प्राय की व्याख्या मे आप कहते हैं—श्रृङ्गार शुचिरुज्वल है। अमरकोष के इस पर्याय निरूपण मे श्रृङ्गार शुचि पर्याय मे सन्निविष्ट है। सुतरा यह शुचि उज्वल-रस मे अधर्ममय औपपत्य अङ्ग-रूप से गण्य नही हो सकता। त्रिकाण्ड के अन्त मे "आर" शब्द पापपति शब्द मे ही उक्त हुआ है।

नाट्यालकार शास्त्र मे औपपत्य का निन्दागर्भ वाक्य देखने मे आता है। साहित्य दर्पण मे—उपनायक संस्थाया मुनिगुरुपत्नी गतायाञ्च। बहुनायक विषयाया रतौ च तथानुभवनिष्ठाया प्रतिनायक निष्ठत्वे तद्-दधम पात्र तिर्यगिदिगत श्रृङ्गारे अनौचित्यमिति।

श्रीकृष्ण ने स्वय ही औपपत्य का दोषोल्लेख किया है—

अस्वर्ग्यमयशस्य च फल्गुकृच्छ्र भयावहम्।
जुगुप्सित च सर्वत्र औपपत्य कुलस्त्रियाः॥

श्रीपरीक्षित ने भी कहा—

आप्तकामो यदुपति कृतवान् वै जुगुप्सितम्।

इन सब वचनों से औपपत्य का जो दोष दिखाया गया है वह श्री-कृष्ण भिन्न अपर नायकों मे मानना आवश्यक है। श्रीकृष्ण के सम्बन्ध मे उक्त दोष समूह की आशङ्का नही है क्योंकि मधुर-रस विशेष के आस्वादन के लिये ही आपका अवतार है।

विशेषत.—गोपियो के साथ श्रीकृष्ण का नित्य दाम्पत्य सम्बन्ध है। ब्रह्मसंहिता में "आनन्दचिन्मय रस प्रतिभावितामि"—श्लोक में निज-रूपता का अर्थ है—स्वदारत्वेनैव न तु प्रकटलीलावत् परदारत्वव्यवहारे-नेत्यर्थ। अर्थात् प्रकटलीला में जैसे आनन्दचिन्मय रस प्रतिभावितागण परदारत्व रूप में लीला का पोषण करते हैं, नित्यलीला में वैसे नही है। परमलक्ष्मियो का नित्य-दाम्पत्य छोड और भाव नही है। अतएव *प्रापञ्चिक प्रकटलीला में गोपियो का पर-दारत्व-माया विजृम्भित ही है।* श्रीकृष्ण गोपियो के पति रूप से ही वर्णित हुए हैं। गौतमीय तन्त्र मे—

अनेक जन्मसिद्धाना गोपीना पतिरेव वा।
नन्दनन्दन इत्युक्तस्त्रैलोक्यानन्दवर्धनम्॥

भागवत मे—

गोपोना तत्पतीना च सर्वेषाञ्चैव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्ष एप क्रीडनदेहभाक्॥

श्रीगोपाल तापनी में भी कृष्ण को व्रजगोपियो का स्वामी कहा गया है।

लक्ष्मीगणो का परकीयात्व सम्भव नही है। श्रीकृष्ण-वल्लभागण *लक्ष्मी हैं—ब्रह्मसंहिता में लक्ष्मी सहस्रशत शब्द से गोपिया ही अभिप्रेत हैं* एव गोपीशब्द से लक्ष्मी का बोध होता है। सुतरा गोपियो का परकीयात्व असम्भव है। श्रीकृष्ण ने श्रीराधा को अखिल लोक लक्ष्मी शब्द से प्रकाश किया है। प्रकट लीला में उपपति की भांति प्रतीयमान होने के कारण ग्रन्थ में श्रीकृष्ण को उपपतिवत् वर्णन किया गया है। बहुवारणता, प्रच्छन्नकामुकता, परस्पर सङ्गम दुर्लभता-रतिसम्बन्ध में श्रेष्ठ रूप से उक्त होने पर भी लौकिक रसशास्त्र सम्बन्ध में ही यह बात जाननी चाहिए।

समर्था रति में निवारणादि न रहने पर भी शृंगार रस की पुष्टि होती है। उसमे भी *मादनाख्य की पर काष्ठा देखी जाती है।* सुतरा औपपत्य का सर्वथा ही अप्रयोजन है। प्रकटलोला में औपपत्य की भांति प्रतीत होने पर भी वह मायिक है।

उपसंहार में—

स्वेच्छया लिखित किञ्चिदत्र परेच्छयाः।
यद् पूर्वापर सम्बन्ध तत् तत् पूर्वमपरं परं॥

अर्थात् इस विचार मे स्वेच्छा क्रम से कुछ और परेच्छा से कुछ लिखा गया है। पूर्वापर सम्बन्ध युक्त अंश ही स्वेच्छा क्रम का है। और वैसे सम्बन्ध हीन अंश परेच्छा प्रणोदित है। यह जानना होगा।

२. श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती की विचारधारा—श्रीमद्भागवतीय व्रज-लीला की व्याख्या का स्वकीया पक्ष में श्रीजीवगोस्वामी का अभिप्रेत बिलकुल ही नही हो सकता। वह परेच्छा से लिखित है और स्वयं ही उन्होने व्याख्या के अवशेष में यह बात प्रकट भी की हैं। भिन्न रुचि के लोगों के पास जिससे यह दुर्ज्ञेय अचिन्त्य लीला निर्दोष रूप से प्रतिपन्न हो और वे सब ही इस लीला के अनुध्यान के लिये अपने को रुचिशील करें—यह सोचकर ही उन्होने स्वकीया पक्ष में व्याख्या की है, कारण श्रीचैतन्यदेव के चरणानुयायी अन्तरङ्ग भक्तों के लिये स्वकीया पक्ष की व्याख्या युक्तियुक्त रूप से ग्राह्य नही हो सकती।

औपपत्य अधर्मस्पर्श व नरक जनक है—यह बात प्राकृत नायक के लिए है। किन्तु धम धर्म के नियामक चूडामणीन्द्र श्रीकृष्ण के लिए वैसी आशंका का अवसर कहाँ? प्राकृत नायक नायिका को अधर्म स्पर्श होता है, किन्तु जो भ्रूजृम्भण मात्र से ही इस विश्व-ब्रह्माण्ड के सृष्टि, स्थिति, सहार में समर्थ हैं, ऐसे लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण मे उनकी महाशक्ति समूह के बीच मुख्यतमा अह्लादिनी शक्तिरूपा गोपियों मे बिल्कुल ही यह दोष नही है। इसलिए नाटक चन्द्रिका मे श्रीरूप गोस्वामी ने लिखा है—परोढा औपपत्य गौण है—यह जो पण्डितगण कहते हैं, वह श्रीकृष्ण व श्रीगोपीगणों को छोडकर ही समझना होगा। अलंकार कौस्तुभकार का भी यही मत है। अलौकिक सिद्ध श्रीकृष्ण के लिए यह औपपत्य एवं गोपियों का परकीत्व दूसरा न होकर भूषण स्वरूप है।

श्रीकृष्ण की प्रकटलीला मायिक नही है। वस्तुतः प्रकटलीला व अप्रकट में स्वरूपतः कुछ भी भेद अथवा वैलक्षण्य नहो है [ब्रह्म संहिता

मन्तव्य द्रष्टव्य का अनुध्येय—अपनी लीला-माधुर्य को जब कृपा करके प्रपंच जगत् के गोचरीभूत कराते हैं। तब वह लीला प्रकट लीला नाम से कही जाती है। दूसरे पक्ष में वह लीला लोक चक्षु के अन्तर्हित होने से ही अप्रकट आख्या में अभिहित होती हैं। लघु भागवतामृत १। २४४ में वर्णित है—

अनादिमेव जन्मादि लीलामेव तथाद्भुता।
हेतुना केनचित् कृष्ण प्रादुष्कुर्यात् कदाचन॥

अप्रकट लीला नित्य दाम्पत्यमयी है एवं प्रकट लीला मायिक व उपपत्य भावमयी है, ऐसी धारणा करना असङ्गत है, क्योंकि सर्वलीला मुकुट मणि रासलीला के आदि, अन्त व मध्य में परोढा उपपति भाव ही विराजमान है। रासलीला को मायिक मानना भी निषिद्ध है, रास पञ्चाध्याय के प्रत्येक अध्याय में ही परकीयात्व-उपपतित्व प्रतिपादक वचन हैं।

"*ता वार्यमाणाः पतिभिः* २६। ८, भ्रातरः पतयश्च वः २९। २०७, यत् पत्यपत्य सुहृदामनुवृत्तिरङ्ग २९। ३२, तद् गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ३०। ४०, पति सुतान्वय भ्रातृ बान्धवान् ३१। १६, एवं मदर्थोज्झित लोक वेद स्वानां ३२। २१, कृत्वा तावन्त मात्मानं यावतीर्गोपयोषितः ३३। १९, मन्यमानाः स्व पार्श्वस्थान स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः ३३।३७, श्रीशुकदेवजी ने स्वय एव श्रीकृष्ण-गोपियों के मुख से ही निःसृत इन सब वाक्यों से परोढा व उपपतित्व भाव स्पष्टतः प्रतिपादन किया है।

रासलीलाम-ायिकत्व विजृम्भित होने से लक्ष्मीगणों की तुलना से *गोपियों का उत्कर्ष सप्रमाणित कैसे होगा? श्रीभागवत—नायं श्रियोऽङ्ग* उ नितान्तरतेः प्रसादः (१०। ४७। ६०) इस वाक्य में लक्ष्मीगण से भी गोपियों का उत्कर्ष सूचित हो रहा है। रासलीला मायिक होने से यह उत्कर्ष स्थापन—अमूलक व अवास्तव ही जावेगा।

किसी भी व्यक्ति ने कहीं पर भी दाम्पत्यमयी रासलीला का वर्णन नहीं किया है।

औपपत्य प्रतिपादक अंश समूह को भ्रम विप्त कहकर परित्याग करने से रासलीला का बिल्कुल ही कोई उपादेयत्व नही रहेगा। रासलीला मे श्रीकृष्ण के मुख-वचन है—"न पारयेऽहं निरवद्य सयुजां स्वसाधुकृत्य १०। ३२। २२॥ रासलीला मायिक होने मे इस वाक्य का परम प्रेमोत्कर्ष प्रमापकत्व अमूलक व अवास्तव हो जावेगा।

उक्त वाक्य मे "या माभजन् दुर्जर गेहशृङ्खला." पद भी परोढात्व उपपतित्व प्रतिपादक है। गोपीगण ने दुर्जर गृह— शृंखला सञ्छेदन करके श्रीकृष्ण का एक निष्ठ भाव से भजन किया है—इसके प्रतिदान मे श्रीकृष्ण असमर्थ हैं। अतएव गोपी प्रेम के वे वशीभूत हैं। यह नित्य सत्य है। रास-लीला मायिक होने से यह भी अवास्तव हो जावेगा।

श्रीकृष्ण को परम मायावी मानकर गोपियो के प्रति—उनके इस प्रकार के वाक्यो का प्रयोग करना, गोपियो का मनोरञ्जन यदि कहा जाय, तो परम साधुवर्ग-मुकुटमणि महाविज्ञ श्रीउद्धव ऐसे अवास्तव व अनित्य मायिक विषय में भजन के परम काष्ठात्व का स्थापन क्यों करते ? उनके—"आसामहो चरणरेणु जुषामहं स्याम, वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीना" वाक्य मे—पट्ट महिषीयो से भी गोपियो का प्रेमोत्कर्ष ही स्वीकृत हुआ है। उस अतुलनीय प्रेमोत्कर्ष का कारण यह है कि गोपियां स्वजन व आर्यपथ परित्याग करके श्रीकृष्ण मे एकान्त अनुरागिणी हैं। स्वजन आर्यपथ त्याग, यदि मायिक व्यापार ही हैं। तब प्रेमोत्कर्ष का हेतु भी अवास्तव होगा। तब एकान्तभक्त उद्धव के वाक्य भी भ्रमपूर्ण हैं। अतएव कहना होगा कि आप्तवाक्य मे भी अनास्था दोष है।

दशाक्षर व अष्टादशाक्षर मन्त्र का अर्थ भी परोढात्व-उपपतित्व भाव मय है। शब्द शक्ति की अद्भुत शक्ति के विषय मे जिनका ज्ञान है, वे इस रहस्य को अच्छी प्रकार जानते हैं।

श्रीकृष्ण के विविध ध्यान एव मन्त्रो मे भी उक्त भाव ही प्रकटित है। साधकगण ध्यान की परिपाक दशा मे प्रकटलीला—भावसमूह को ही प्रत्यक्ष करते हैं। सुतरां प्रकट लीला-मायिक अथवा अनित्य नही कही जा सकती।

"जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति, तत्त्वत.", श्लोक व्याख्या में श्रीरामानुजाचार्यपाद—ने भगवद्-जन्म-कर्म एवं परिकरों का नित्यत्व स्थापन किया है। श्रीमधुसूदन सरस्वती ने भी 'दिव्य' शब्द का अप्राकृत अर्थ किया है। 'एको देवो नित्यलीलानुरक्तो भक्तव्यापी भक्तहृदयन्तरात्मा' इति पिप्पलादशाखीया पुरुष वोधिनी श्रुति:) ।

श्रीविठ्ठलनाथ जो ने स्वरचित विद्वण्मन्डन ग्रन्थ मे श्रीभगवान् के जन्म कर्म का नित्यत्व ही प्रतिपादन किया है।

वृहद्वामन पुराण में भी प्रकट-लीला का नित्यत्व प्रकाश करते हुये भगवदुक्ति है— "जार धर्म में मेरे सम्बन्ध के सर्वतोभाव से अधिक सुदृढ सुस्नेह को प्राप्त होकर तुम सब ही पूर्ण मनोरथा हो जाओगी।

श्रीभगवान् का नाम नित्य है। एक एक लीला में उनका एक एक नाम निर्दिष्ट है लीला अनित्य होने से श्रीनाम भी अनित्य होगा। सुतरां भजन का जो सार है, वह भी मायिक हो जायेगा। नाम अनित्य है, यह सोचने से भी नामापराध होता है।

श्रीजीवगोस्वामी ने श्रीभागवत सन्दर्भ में नाम जन्म, कर्म आदिकों का नित्यत्व ही प्रतिपन्न किया है। श्रीभगवान् के आकार,प्रकाश,जन्म, कर्म लक्षण-लीला, एव उनके परिकर सब ही उनकी स्वरूप शक्ति की अभिव्यक्ति है जीवशक्ति व मायाशक्ति के साथ उनकी कोई लीला नहीं होती। सुतरां ये सब ही नित्य हैं यही श्रीजीव गोस्वामी की उक्ति है, फिर परोढ़ा-उपपतिभावमय रासलीला मायिक कैसे हो सकती हैं ?

व्रजसुन्दरीगण श्रीकृष्ण के साथ विप्र-अग्नि को साक्षी रखकर आनुष्ठानिक रूप से परिणय सूत्र मे आबद्ध हुई, किसी भी छ्पि ,शात्र में इस प्रकार का उल्लेख नहीं है। यदि कोई ऐसा मानता है तो क्या शुकदेव सम्मत होगा ?

परीक्षित के धर्म सस्थापकत्व आप्तकाम श्रीकृष्ण के औपपत्य मे सन्दिग्ध हो कर पूछने पर, इसके उत्तर में श्रीशुकदेव जी सुस्पष्ट कह सकते थे, कि सब गोपाङ्गनाएं श्री कृष्ण को विवाहित पत्नी हैं, परदार नहीं।

ऐसा सरल उत्तर न देकर श्रीशुकदेव को बहुत ही कष्टाद सिद्धान्त से परीक्षित को समझाना पडा, यह क्यो ?

कही कही पति शब्द का प्रयोग भी देखने मे आता है। उसका अर्थ-गति समझना होगा। क्योकि श्रीजोवगोस्वामी ने भगवद् सन्दर्भ मे शक्ति शक्तिमान मे पति शब्द का गौणार्थ ही स्वीकार किया है। केवल विवाहित व्यक्ति ही नायिका का पति होता है यह बात नही है। नायिका प्रकरण मे परकीया मे स्वाधीन पतिका शब्द का प्रयोग भी दीखने मे आता है।

फिर ऐसा भी हो सकता है कि श्रीकृष्ण किसी किसी गोपी के विवाहित पति हैं। अपरापर गोपियो के साथ श्रीकृष्ण का दाम्पत्य सम्बन्ध नही है। श्रीकृष्ण सब गोपियो के बिवाहित पति होने से 'परदारा अभि-मर्षण' प्रश्न प्रसङ्ग ही नही उठता। गोपियो के अपने अपने पतियो की बात भी उल्लिखित है, यह भी लिखा हुआ है कि— "नजातु व्रजदेवीना पतिभि सह सङ्गम।

गोपाल तापनी के— 'स वो हि स्वामी भवति —' इस वाक्य में 'स्वामी'शब्द परिणेतृ वाचक नही हैं। स्वामी ऐश्वर्य बोधक शब्द है पाणिनी कहते हैं— स्वामिन् — ऐश्वर्ये। प्रयोग भी ऐसे ही दीखने मे आता है। "लोके यस्य हि य स्वामी भवति, स तस्य भोक्ता भवतीति"। सुतरां स्वामी कहने से ही विवाहकर्ता का बोध नही होता।

ग्यारहवर्ष पर्यन्त ही श्रीकृष्ण की-व्रजलीला का सवाद लिखित है। गोपियो के साथ श्रीकृष्ण का सम्बन्ध बचपन से ही दृढ हुआ। ९ वर्ष मे तो आनुष्ठानिक रासलीला हुई, उपनयन सस्कार मथुरा मे हुआ और इसके बाद ही विवाह ही विवाह होने लगे। व्रज मे प्रवृत्तमार्ग प्रवर्त्तन का अवसर ही नही आया।

व्रज के समस्त सम्बन्ध ही चिन्मय हैं जहाँ जहा पर माया शब्द का प्रयोग है वहा योगमाया ही अर्थ समझना चाहिये। सुतरा अभिमन्यु के साथ श्रीराधा का जो पतिभाव वर्णित है, वह चिन्मय समझना होगा। श्रीभगवान् के लीलातन्त्र मध्यवर्तित्व होने के कारण उक्त सम्बन्ध भी मायिक नही हैं। योगमाया ही उक्त सम्बन्ध का हेतु है।

स्वयं सिद्ध श्रुति सिद्ध परास्या स्वरूप शक्ति विशिष्ट ही परतत्व है। यह परतत्व स्व प्राधान्य में स्फुरित होने से आप धर्मादि नाम ग्रहण करता है। जैसे स्वयं पराशक्ति ही ज्ञान, सुख,कारुण्य, माधुर्यादि आकार में स्फुरित होकर धर्म रूप में प्रकाशित होती है।

शब्दकार में प्रकाशित होने पर श्रीभगवान् नाम व वाक्यादि रूपमें प्रकाशित होते हैं धरित्री के आकार में स्फुरित होने पर धाम-परिकर रूप में एवं ह्लादिनीसार समवेत सम्विदात्मक युवती रत्न रूप में स्फुरित होने पर श्रीराधादि रूप में विभापित होते हैं।

श्रीराधा श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्तिभूता ह्लादिनी शक्ति हैं, इसमे कोई सन्देह नही है। किन्तु बात यह है कि— लीला विशिष्ट श्रीकृष्ण श्रीराधा सम्वलित ही हमारे उपासनीय हैं। लीला विरहित श्रीराधा-कृष्ण हमारी धारणा व भजन के अतीत हैं। आपत्ति यह हो सकती है कि— गोपियों मे जो दुर्यश:, मनोदु.ख, व स्वसु नन्दादि का निवारण यातनादि हैं, वे रुक्मिणी आदि मे नहीं हैं। सुतरां आपात दृष्टि से यह बोध हो सकता है कि रुक्मिणी आदि की अपेक्षा सम्भवतः गोपियो का अपकर्ष है। किन्तु रागात्मिका महाभाव-वती गोपियों मे ये सब दु ख दीखते हुये भी उन का जो सुख आतिशय्य है, वह दूसरों की अपेक्षा अनेक अधिक है।

अनुरागिणी महाभाववती श्रीव्रज-सुन्दरीयों का श्रीकृष्ण के साथ जो सम्बन्ध हैं, वह अचिन्त्य अनुराग का ही फल है। इस सम्बन्ध स्थापन में इन सबों को स्वजन आदि का त्याग करना पड़ा, आर्यपथ से च्युत होना पड़ा। किन्तु इतने क्लेश, इतने दु ख भी उन सबो के लिये सुखकर रूपसे बोध हुये। इसको छोडकर अनुराग के चरमोत्कर्ष का और दृष्टान्त कहां है ?

महां भाववती गोपियों का अनन्य साधारण अलौकिक अनुराग ही श्रीजीव गोस्वामी का अभिप्रेत है। इस विषय मे कोई सन्देह नही है।

यदि श्रीकृष्ण के साथ व्रजबालाओं का सम्बन्ध, गुरु- विप्र- अग्नि साक्षी के माध्यम से विवाह रूप से होता, तो श्रीचैतन्यदेव का

उपदेश , श्रीवेदव्यास जी की श्रीभागवत्, तथा श्रीरूपगोस्वामी के उज्ज्वल नीलमणि आदि ग्रन्थो की आवश्यकता ही नही रहती ।

सुतरा उभय मत का समाधान इस प्रकार है- प्रथम मत की उत्पिति इसलिए हुई है कि-"स्वय भगवान् शक्तिमान् हैं और सब उन की शक्ति हैं, इस तत्व को भूलकर अचिन्त्य अप्राकृत औपपत्य के सरस अनन्तर्निगूढ भाव को जो समझने मे असमर्थ हैं उन लोगो के लिये और कोई उपचार न देखकर एव धर्म के नाम पर उन लोगो को जघन्य नरक प्राप्त न हो श्री जीव गोस्वामिपाद ने तात्त्विकाश को ही सम्मुख रखा ।

द्वियीय प्रश्न मे — लीलाश का ही विस्तार है ।

श्रीबलदेव विद्याभूषण के मत मे — उक्तविषय इस प्रकार है। श्रीराधाकृष्ण की उपपति भावमयी लीला– परमेश्वरतत्व निबन्धन है । क्यो कि उन का कोई नियामक नही है, जिसके भय से वे दाम्पत्य मे अवस्थान करेंगे ? मनुष्य की भाति उनकी लीला कर्म-परतन्त्र नही है । सब शास्त्र उनको कर्म परतन्त्र से मुक्त वर्णन करते हैं । जन-मनोरञ्जन के लिये भी यह लीला नही है । क्योकि उन का दिव्य सौंदर्य ही जन मनोनिवेश का करण है । उत्कण्ठा पोषण के लिये भी यह लीला नही है । क्योकि उन की उत्कण्ठा नित्य नव नवायमान भावो से पुष्ट हैं ।

इन सब कारणो से एव परमेश्वरत्व निबन्धन शक्ति व शक्तिमान् श्री राधाकृष्ण के निर्णीणदाम्पत्य उपपतिभाव का सुधीगण को अति सावधानता से विचार करना है । आत्माराम, सर्वेश्वर शृङ्गारोत्कर्ष रसिक, एव सत्य सकल्प श्रीहरि को अनादि काल से ही परोढा उपपतिभाव मे आविर्भूत उनकी ही आत्यधूताश्वरूप शक्ति, तदन्यास्पृष्ट, स्वकान्तिसमा गोपीगणो को साथ लेकर लीला विनोद करती हैं । उससे श्रीकृष्ण के आत्मारामत्व की हानि नही होती । + +

सम्प्रदाय

सम्प्रदाय शब्द का अर्थ गुरुपरम्परागत सदुपदेश है । भरत के मत में 'शिष्य' परम्परावर्तीणोपदेश, सम्प्रदाय । अमर के मतमे 'आम्नय.' सम्प्रदाय है। आदि गुरु ब्रह्मा से गुरु परम्परा प्राप्त है। ब्रह्मविद्या नाम्नी श्रुति,ही आम्नाय है । यह आम्नाय वाक्य व शिष्य परम्परावतीर्ण उपदेश एकमात्र सत सम्प्रदाय से सुलभ है। माण्डुक्य उपनिषद (१।१।११. २।१३)आदि मे गुरुपरम्परागतउपदेश व सत् सम्प्रदाय स्वीकार की प्रयोजनीयता वर्णित है। उद्धव गीता

मे (११-१४+३·८) श्रीभागवत सम्प्रदाय प्रवर्तक रूप में श्रीब्रह्माजी को ही सूचित किया गया है अतएव ब्रह्म सम्प्रदाय प्राचीन व वैदिक है।

वैदिक सम्प्रदाय वह है जो वेद व वेदमूलक पुराणादि शास्त्रो का अपौरुषेयत्व स्वीकार करती है। एव उन २ शास्त्र वाक्यों मे अचल विश्वास करती है। अलौकिक तत्व के स्वरूप निर्णय व उपासना विषय मे एकमात्र उक्त शास्त्र ही मुख्य प्रमाण हैं, यह मानती है। जो प्रत्यक्षादि प्रमाण निचय का अत्यन्त अविषय है, वह परतत्व ही जिसका आराध्य है। कर्म, ज्ञान, भक्ति, वैदिक तत्वत्रय मे अथवा उनके अन्यतम मे जो एकान्त परिनिष्ठित है, वैदिक आचार्य के चरणाश्रय को ही जो तत्वज्ञान प्राप्त करने का उपाय जानते हैं—वे ही वैदिक सम्प्रदाय हैं। वैदिक सम्प्रदाय विशेष ही—श्री-चैतन्य सम्प्रदाय है। इसमे श्रीमध्व स्वीकृत प्रमेय समुदाय ही परिष्कृत हुए हैं। स्वय भगवान् श्रीराधा सम्वलित श्रीगोविन्ददेव ही इसके आराध्य हैं। उनके ही अविर्भाव विशेष गौराङ्गदेव ही इसके स्व-सम्प्रदाय सहस्राधिदेव हैं, अनादि वेदकल्पतरु से जिनका आविर्भाव हैं। श्रीशुक नारदादि परमहंस-गण इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। ब्रह्मा, शिव, ध्रुव, प्रह्लादादि इसके पथप्र-दर्शक हैं एव श्रीरूप-सनातन गोस्वामीगण ही इस सम्प्रदाय के आचार्य हैं।

इसलिये सागर मे नदी की गति की भाति इस सम्प्रदाय में ही पाञ्च-रात्र व श्रीमद्भागवत् की गति है। इस सम्प्रदाय ने श्रीमद् भागवत व पाञ्चरात्र मत को ही अवलम्बन करके अपने भक्ति सिद्धान्तो का स्थापन किया है। इसमे पाञ्चरात्र व भागवत— इन दोनो मतो की सामञ्जस्य रक्षा करते हुए अपूर्व सिद्धान्त स्थापना ईहु है।

इस मत मे श्रीमद्भागवत एव तदनुगत शास्त्र ही एकल साहित्य, दर्शन, इतिहास एवं पारमहस सहिता हैं। इसमे ज्ञान, विराग-भक्ति सहित नैष्कर्म्य आविष्कृत हुआ है। यह एकमात्र रसिक व भावुक जन के ही सवे-दन व समास्वादनीय है।

निर्विशेष ब्रह्म मे साहित्य का स्थान नही है। कारण वहाँ ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय रूप त्रिपुटी का लय हो जाता है एकक वासुदेव तत्व में विषय तत्व रहने पर भी आश्रय तत्व नायिक के अभाव से साहित्य की सकीणता

है। लक्ष्मीनारायण मे किञ्चित साहित्य प्राप्त होने पर भी ऐश्वर्य प्रधान होने के कारण साहित्य की सम्यक् स्फूर्ति नही होती। श्रीसीताराम में तद-पेक्षा साहित्य विकसित होने पर भी मर्यादा पुरुषोत्तम के लीलाविलास में साहित्य किंचित् संकुचित ही होता है। द्वारकाधीश एवं मथुराधीश में ऐश्वर्य की प्रबलता के कारण साहित्य पूर्णतम रूप से विकसित हो नही पाया, सौन्दर्य माधुर्य निधान श्रीवृन्दावन मे ही लीला पुरुषोत्तम के सहचर्य में साहित्य की चरम पराकाष्ठा विकसित होती है। क्योंकि यहां पर ही श्री-ब्रजेन्द्रनन्दन की क्रीड़ा-माधुरी, वेणुमाधुरी, विग्रह माधुरी व प्रेम माधुरी आदि सम्यक् प्रकाशित है। यहा के समस्त वस्तु समूह की सत्साहित्य का आकार है। सुतरा साहित्य की प्रगति भी निर्बाध व असमोर्ध्व है। अतएव इस वृन्दावनीय काव्य रचना में ही चैतन्यमतीय साहित्य आत्मविनियोग करके महामहनीय हुआ है निर्विशेष ब्रह्म प्रतिपादक शास्त्रों से लेकर मथुरा-धीश के लीला प्रचारक ग्रन्थों पर्यन्त सब शास्त्र ही प्रकृति भूमा वस्तु के एक देशमात्र प्रतिपादक हैं। अखिल रसामृत मूर्ति श्रीब्रजेन्द्रनन्दन ही इस सब साहित्य के नायक एवं महाभाग स्वरूपिणी श्रीवृषभानुनन्दिनी ही नायिका हैं। अद्वय ज्ञानतत्व रसराज सच्चिदानन्दघन स्वय भगवान—ही—श्रुति के—'एकमेवाद्वितीयं' 'रसो वै स' 'मधुब्रह्म' एवं 'आनन्दं ब्रह्म' आदि वाक्यावलि के चरम पराकाष्ठा प्राप्त तात्पर्य हैं।

श्रीभगवान के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम, परिकर आदि कर्म जड़ निर्विषय ज्ञान वाद में गौण व अनित्य हैं, किन्तु वेद में सुस्पष्ट रूप से उन सब तत्वो का नित्यत्व प्रतिपादित हुआ है। फलतः अचिन्त्य भेदाभेद वाद भी वेद की परम मुख्या वृत्ति से ही समर्पित हुआ है।

इस मत में नाम ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। एवं प्रणवात्मक वर्णसमूह की नित्यता भी स्थापित है। प्रणव ही महावाक्य है, नाम व मन्त्र है। अभेद बुद्धि से शब्द ब्रह्म की नित्य आराधना ही इस मत की विशेषता है। नामात्मक शब्द में ही रूप, गुण, क्रिया व स्व-रूपादि अन्तर्भुक्त हैं।

जिसके द्वारा ब्रह्मेतर विषय में आसक्तिनाश होता है। जिससे पापबीज, अविद्या, उन्मूलित होते हैं एवं जिससे नि.संशय रूप से ब्रह्म सामीप्य लाभ होता है। वह ही उपनिषद शब्द का अर्थ है। रूढ़ि, योग,

योग रूढ़ि, महायोग, व विद्वद् रूढ़ि इस पञ्चविध मुख्य शब्द वृत्ति के बल से, उस उपनिषद् शब्द के द्वारा ही—उपगम्य, उपगन्ता, व उपगमन—यह तीन प्रकार की वस्तु व क्रिया निर्दिष्ट होकर जीव ब्रह्म की नित्य अवस्थान व नित्य सम्बन्ध सूचित होता है। उपगन्ता जीव की उपगम्य भगवान के समीप में उपगमन क्रिया भी, एक मात्र मंत्र साहित्य अनुशीलन द्वारा हो साधित होती है। इस मत में सर्वत्र आम्नाय वाक्य ही प्रमाण रूप से गृहीत हुए हैं।

८. चिन्मय ब्रह्म के स्वाभाविक आनन्द की अभिव्यक्ति होने से चमत्कार रस होता है। इसका अपरनाम आनन्दातिरेक आस्वादन है। इस रस को आदय-विकार अहंकार है। उससे अभिमान होता है। रस के बाद रति का उद्रेक होता है। यह रति व्यभिचारी व अनुभाव आदि के द्वारा परिपुष्टता प्राप्त होने से श्रृङ्गार रस की अभिव्यक्ति होती है। राग व रति से श्रृङ्गार, तैक्ष्ण्य से रौद्र, अवष्टम्भ से वीर, एवं संकोच से वीभत्स रस का उद्भव होता है, और श्रृङ्गार से करुण, वीर से अद्भुत व वीभत्स से भयानक रस की सृष्टि होती है।

रसास्वस्थ भाव का नाम ही स्थायीभाव है। यह मुख्य रूप से पांच, और गौण से सात प्रकार का है। संचारी तेतीस, व सात्विक आठ प्रकार के हैं। यह भाव-विभाव, अनुभाव सात्विक, व्यभिचारी से मिलकर रस में परिणित होता है। इस रस का साक्षात्कार निम्नलिखित क्रम से होता है—

९. पहले श्रवण कीर्त्तनादि भजन के पुनः पुनः अभ्यास से आनन्दरूपा रति का आविर्भाव होता है। इस के बाद विभाव आदि के साथ चित्त का संयोग होने से कृष्ण रति रस रूप में परिणत होती है। पश्चात् विभावादि के साहचर्य से रस साक्षात्कार का आस्वादन होता है।

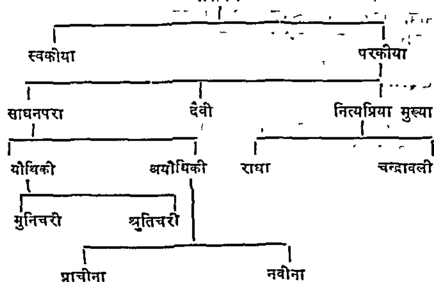
भक्ति रसास्वादन का सौभाग्य सब का नहीहोता, 'रस ब्रह्मवत् वाणी व मन के अगोचर होने पर भी जिसकी प्राक्तनी आधुनिकी सद्भक्ति वासना है, उस भाग्यवान् द्रष्टा, श्रोता अभिनेता के हृदय में इस भक्ति-रस का आस्वादन होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में नायक चूड़ामणि श्रीकृष्ण ही विषयालम्बन हैं। श्री

कृष्ण को छोड़कर और किसी मे इस ज्सर्वोत्तम उज्वल रस के पूर्ण नायक होने की सम्भावना नही है।

यह नायक प्रथमतः चार प्रकार है— धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत, व धीरशान्त, यह सब पूर्णतम, पूर्णतर, पूर्ण, भेद से द्वादश प्रकार के हैं। पुनः यह सब नायक पति व उपपति भेद से २४ प्रकार होते हैं। अनुकूल, दक्षिण, शठ, धृष्ट भेद से यह सब ९६ प्रकार हैं। इन ९६ प्रकार के *नायक गुण-श्रीकृष्ण की लीला में ही विराजमान हैं।*

रस के आलम्बन विभाव मे नायिका भेद भी इसी प्रकार हैं। पहले तो नायिका के दो भेद हैं— स्वकीया, व परकीया,। कात्यायनी-व्रतपरा-गोपकन्याओं के साथ श्रीकृष्ण विवाह, गान्धर्व रीति से होने के कारण वे सब स्वीकया है। इसके अतिरिक्त धन्यादि गोप-कन्यागण पितृ पालिता होने पर भी श्रीहरिवल्लभा ही हैं। परोढ़ा गोपीगण तीन प्रकार की हैं। साधनपरा, दैवी, व नित्यप्रिया साधनपरा के दो प्रकार है– यौथिकी व आयौथिकी, यौथिकीगण-मुनिचरी व श्रुतिचरी रूप से द्विविध हैं, नित्य प्रियागण श्रीराधा, चन्द्रावली प्रभृति हैं— इस रेखा-चित्र से गोपीगण के विषय मे सहज में समझा जा सकता है—



चन्द्रावली से भी श्रीराधा की सर्वोत्कृष्टता प्रतिपादित हुई हैं। कारण श्री-राधा सर्वशक्ति वरीयसी व ह्लादिनी सार भावरूपा हैं एवं सुष्ठु कान्त स्व-रूपा घृतषोड़श शृङ्गारा व द्वादशभरणाश्रिता व. मधुरा, नववया आदि प्रधान पचीस गुणयुक्ता हैं।

प्राकृत परोढा भाव का हेयत्व है, किन्तु अप्राकृत कृष्ण सेवामयी गोपीगण का परोढा भाव श्रेष्ठ है। द्विभुज मुरलीधारी ब्रजेन्द्रनन्दन को छोडकर अन्यत्र गोपियों का प्रेम सकुचित होता है। स्वीया, परकीया साधारणी भेद से तीन प्रकार की नायिकाएँ रसशास्त्र में वर्णित होने पर भी साधारणी नायिका का बहुनायक निष्ठत्व होने के कारण रसाभास प्रसङ्ग होता है। कुब्जा साधारणी होने पर भी अन्यनायक से प्रीतिसंचा-रित नही हुई थी। इसलिये वह भी परकीया मानी गई है।

स्वीया व परकीया नायिकागण मुग्धा मध्या, प्रगल्भा भेद से त्रिविध हैं। मध्या व प्रगल्भा प्रत्येक ही धीरा अधीरा, धीरा २ इन तीन प्रभेदों से युक्त हैं। मुग्धा का कोई भेद नहीं है।

स्वीया परकीया भेद से नायिका कुल चौदह प्रकार की हैं एवं कन्या १ प्रकार की है यह जोडकर नायिका भेद१५ प्रकार का है। यह१५ प्रकार की नायिका अवस्था भेद से प्रत्येक ही ८ प्रकार की होती हैं–अभिसारिका वास-कसज्जा, उत्कण्ठिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, प्रेषितभर्तृका, व स्वाधीनभर्तृका।

सुतरा नायिकागण की सख्या १२० प्रकार की है। यह सब ब्रजेन्द्र-नन्दन में प्रेम के तारतम्य से उत्तमा, मध्यमा, कनिष्ठा भेद से ३६० प्रकार की होती हैं। एकमात्र श्रीराधा मे ही इन ३६० प्रकार की नायकाओ के गुणों का सन्निवेश संभव है।

प्रायिकी व कदाचित्की लोला के समावेश से एक नाटक ग्रन्थ रचना करने की इच्छा ग्रन्थकार श्रीरूप गोस्वामीपाद की थी। किन्तु श्रीसत्यभामा व श्रीमन् महाप्रभु के आदेश से उन्होंने विदग्धमाधव व ललित माधव नामक दो नाटको की पृथक् पृथक् रचना की है।

प्रायिकी लीला मे ब्रज परिकर व पुरपरिकर अलग अलग हैं। परि-करगण भिन्न होने से जब श्रीकृष्ण ब्रज से पुर को जाते हैं तब ब्रजवासियों को जो विरह उत्पन्न होता है, उस विरह का अवसान होने से रस की

पुष्टी भी नही होती। इसलिये ही भागवतगण सिद्धान्त करते है कि—अप्रकट प्रकाश मे श्रीकृष्ण वृन्दावन को न छोडकर सदा ही व्रज मे कीडा करते है, एव प्रकट प्रकाश मे श्रीवृन्दावन को छोडकर पुर-गमन एव पुर से व्रज में प्रत्यागमन करते है।

श्रीकृष्ण के व्रज से पुरगमन करने से व्रज मे तीन मास व्यापी विरह रहा था। इस विरह-जनित क्लान्ति के उद्रेक मे जब व्रजवासियो का चित्त अत्यन्त अधीर हो उठा तब श्रीकृष्ण उद्धव आदि से अपना समाचार भेजने के साथ स्वय व्रज मे चले आये। उनका इस प्रकार आविर्भाव होने से व्रज-वासीगण ने पुरगमन वृत्तान्त को स्वप्नवत् अनुभव किया। इसके बाद श्रीकृष्ण ने व्रज मे आकर दो मास प्रकट विहार करके नित्यलीला मे अवस्थान किया। उस समय अर्थात् जिस समय श्रीवृन्दावन लीला अप्रकट होती है, पुरलीला प्रकट रहती है। किन्तु श्रीमद्भागवत में इस विषय का वर्णन सुस्पष्ट रूप से न होने के कारण व्रजोपासको को निरतिशय कष्ट होता है। उक्त कष्ट के निवारण के लिये ही रूपगोस्वामी जो कादिचित् की लीला का अवलम्बन कर एक नाटक की रचना कर रहे थे।

कादाचित्की-लीला में व्रजपरिकर व पुरपरिकर अभिन्न ही हैं। अतएव उक्त लीला में श्रीकृष्ण के व्रज से पुर में लाने पर भी व्रजवासीगण श्रीकृष्ण को पुर मे प्राप्त कर विरह संताप से मुक्त हो जाते। इस रीति से रस की पुष्टि भी पूर्ण रूप से होती किंतु सत्यभामा देवी ने व्रज-लील को व्रज मे एव पुरलीला को पुर मे ही परिसमाप्ति करने का आदेश किया।

प्रायिकी लीला के अनुसरण को छोडकर व्रजलीला की व्रज में समाप्ति नही होती। इसलिए प्रायिकी लीला के अनुसार ही व्रज लीलामय 'विदग्ध-माधव" नाटक व कादाचित्की लीला के अनुसार पुर लीला-मय ललित-माधव" नाटक की रचना उन्हें करनी पड़ी।

और भी एक कारण यह है कि प्रेमातिशय्य-निबन्धन व्रजधाम में श्रीकृष्ण पूर्णतम और मथुरा मे वासुदेव पूर्णतर एव द्वारका मे पूर्ण हैं। यदि विरहापनोदन के लिए नित्य वृन्दावन में श्रीकृष्ण का अवस्थान ही स्वीकार्य हो, उसमे भी लीला-शक्ति की अचिन्त्य शक्ति से विरह की सम्भावना

होती है। किन्तु यदि यह कहा जाय कि श्रीव्रजेन्द्रनन्दन ही कार्य विशेष के लिये व लीला विशेष साधन के लिये मथुरादि स्थानो मे गये थे तो इससे भी हानि क्या है ?

इस सम्बन्ध मे नैष्ठिक भक्तगणो का विचित्र सिद्धान्त यह है कि श्रीवृन्दावन मे ही प्रेम-माधुर्यमय श्रीभगवान का स्वय रूप नित्य विद्यमान हैं। अन्यत्र यह आकार, यह वेश, यह भाव अतीव आस्वाभाविक है। एक स्थान की वस्तु, दूसरे स्थान मे रखकर चिन्तनरत होने से भाव-विरोध भी अनिवार्य होना है। इस उक्ति से ही नाटक वर्णन की घटना परिवर्तित हुई।

ग्रन्थस्थ श्लोक समूह अपूर्व भाव-माधुर्य विमण्डित हैं, जिसका "तुण्डे ताण्डविनी" आदि श्लोको के आस्वादन से सपरिकर श्रीमन्महाप्रभु का जो आनन्दोच्छ्वास हुआ, व परिकर वर्ग की इस ग्रन्थ को आस्वादन कराने की जो तीव्र वासना हुई एव यह कैसे फलवती हुई यह सब विशद विवरण "श्रीचैतन्यचरितामृत" अन्त्य खण्ड के प्रथम परिच्छेद मे वर्णितहैं।

अन्त मे, मैं हकीमजी को आशीर्वाद देते हुए उनसे यह आशा करता हूँ कि वे श्री रूपगोस्वमीपाद की द्वितीय रचना "ललित-माधव" नाटक का भी हिन्दी अनुवाद कर शीघ्र प्रकाशित करेंगे। जिससे हिन्दी रसिक समाज श्रीकृष्ण की लीलाद्वय का परिपूर्ण आस्वादन कर सकें।

श्रीरूपगोस्वामी तिरोभाव तिथि
११-८-७३
श्रीगौरगदाधर, मन्दिर
कालियदह, वृन्दावन

श्रीहरिदास शास्त्री





श्रीविदग्धमाधवीयश्लोकानुक्रमणिका



॥ श्रीगौराङ्गविधुर्जयति ॥

श्रीश्रीलरूपगोस्वामि प्रभुपाद प्रणीतम्

श्रीविदग्धमाधव-नाटकम्

प्रथमोऽङ्कः

सुधानां चान्द्रीणामपि मधुरिमोन्मादमनी
दधाना राधादिप्रणयघनसारैः सुरभिताम् ।
समन्तात्सन्तापोद्गमविषमसंसारसरणि
प्रणीतां ते तृष्णां हरतु हरिलीलाशिखरिणी ॥१॥१॥

अनुवादक-मंगलाचरण

वन्देऽहं श्रीगुरोः श्रीयुतपदकमलं श्रीगुरून् वैष्णवांश्च
श्रीरूपं साग्रजातं सहगण रघुनाथान्वितं तं सजीवम् ।
साद्वैतं सावधूतं परिजनसहितं कृष्णचैतन्यदेवं
श्रीराधाकृष्णपादान् सहगण ललिता श्रीविशाखान्विताश्च ॥

वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च ।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः ॥

श्रीकृष्ण-लीला रूप शिखरिणी चन्द्र-सुधा के माधुर्य का मान खण्डन करने वाली है और श्रीराधा आदि व्रजगोपियों के प्रेमरूप कर्पूर से सुगन्धित है। वह श्रीकृष्ण-लीला, निरन्तर तीन-तापों को देने वाले संसार-पथ में भटकने वाले तुम लोगों की तृष्णा को नाश करे ॥ १ ॥ १ ॥

तात्पर्य—दही, दूध, चीनी, इलायची, लौंग, काली मिरच और कपूर मिलाकर बनाये जाने वाले पदार्थ को शिखरिणी या सिखरन कहते हैं।

अपि च।

> अनर्पितचरीं चिरात्करुणयावतीर्णः कलौ
> समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम्।
> हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसंदीपितः
> सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः ॥२॥२॥

शिखरिणी अत्यन्त सुस्वादु, स्निग्ध, सुगन्धित और सुशीतल पदार्थ है जो ताप और प्यास को बुझाता है। इस श्लोक में श्रीकृष्ण-लीला को शिखरिणी की उपमा दी गई है। तेज धूप मे रेतीले मार्ग में चलने वाला व्यक्ति जब गर्मी से सतप्त और तृष्णातुर हो उठता है तब उसे ऐसा शीतल सुगन्धित पदार्थ ही सुख देता है। उसी प्रकार संसार में अनेक योनियों में भटकने वाला यह जीव भी आध्यात्मक (आधि–मन की चिन्ता और व्याधि–शरीर के रोग) आधिदैविक (भूत-प्रेत, ग्रहादिकों की पीड़ा) तथा आधिभौतिक (सिंह-साप आदिक का भय)—इन तीनों प्रकार के तापों से सन्तप्त हो रहा है और अनेक प्रकार की कामनाओं के वशीभूत होकर तृपात्त र भटकता है। इसके लिए श्रीकृष्ण-लीला रूप शिखरिणी तीनों तापों को नाश कर नित्य सुख को प्रदान करने वाली है।

इस श्लोक मे श्रीरूपगोस्वामिपाद ने आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण किया है। मानो प्रत्येक संसारी जीव को वे कह रहे हैं—अरे त्रिताप-सन्तप्त जीव ! श्रीकृष्ण-लीला का नित्य श्रवण-कीर्त्तन एवं मनन कर ससार ताप से छुटकारा पा एवं शाश्वत सुख-शांति को प्राप्त कर। अथवा श्रीकृष्ण-लीला से ही वे प्रार्थना कर रहे हैं—हे कृष्ण-लीले ! आप ही करुणा कर इस ससारी जीव के सब ताप-सन्ताप दूर करो ॥ १ ॥ १ ॥

अनन्त काल से जिस को किसी ने प्रदान नहीं किया है, उस परम उज्ज्वल रसमयी अपनी भक्ति-सम्पत्ति को देने के लिए जो अपनी करुणा से कलियुग मे अवतीर्ण हुए हैं, स्वर्ण की कान्ति-राशि से देदेप्यमान वे श्रीशचीनन्दन-हरि अर्थात् श्रीकृष्णचैतन्य देव सदा तुम्हारी हृदय-कन्दरा मे स्फुरित हों ॥ २ ॥ २ ॥

तात्पर्य—"श्रीशचीनन्दन-हरि कृपापूर्वक सबके हृदय मे स्फुरित "—यह आशीर्वाद जगत् के प्रति श्रीरूपगोस्वामिपाद ने किया है।

जिस परम उज्ज्वल रसमयी भक्ति-सम्पत्ति को दीर्घकाल से जगत् को प्रदान नहीं किया गया था, उस निज भक्ति-सम्पत्ति को देने के लिए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अपनी करुणा से कलियुग मे श्रीकृष्णचैतन्य रूप से अवतीर्ण हुए है। इस बात से यह पता लगता है कि बहुत पहले भी कभी इन्होंने उस निज भक्ति-सम्पत्ति को जगत् को अवश्य प्रदान किया था।

शास्त्रों का निर्णय है कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मा के एक दिन मे एकबार अवतीर्ण होते हैं। वैवस्वत मन्वन्तर की अठाईसवी चतुर्युगी के द्वापर के शेष में ही वे स्वयं रूप से आविर्भूत होते है और वृन्दावन में रासलीलादि का विस्तार करते हैं। उस द्वापरके बाद आने वाले कलियुग में वे श्रीराधा की भाव-कान्ति को अङ्गीकार कर पीतवर्ण श्रीगौरसुन्दर-रूपसे नवद्वीपमें प्रकट होते है। तभी वे अपनी उज्ज्वल रसमयी भक्ति सम्पत्ति को जगत् के लिए प्रदान करते है। तात्पर्य यह है कि उस कलियुग से लेकर वर्तमान कलि तक के सुदीर्घ काल में उस उन्नत उज्ज्वल रसमयी भक्ति को कोई भी प्रदान नही करता है और वह सुदीर्घ काल-प्रभाव से प्राय: लुप्त हो जाती है। उसे ही पुन: प्रदान करने के लिए श्रीकृष्ण ही श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य के रूप से अवतीर्ण होते हैं।

वह उन्नत उज्ज्वल रसमयी स्व-भक्ति सम्पत्ति क्या है ?—स्व-भक्ति सम्पत्ति का अर्थ है—निज विषयक भक्ति सम्पत्ति। श्रीकृष्ण जिस भक्ति के विषय हैं या श्रीकृष्ण के प्रति जो भक्ति प्रयोजित है, वह है स्वभक्ति सम्पत्ति। सम्पत्ति उसे कहते हैं जिसमे व्यक्ति अपनी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति करता है। श्रीकृष्ण की प्रीति विधानपूर्वक उनकी चरण-सेवा ही जीव की एकमात्र अभीष्ट वस्तु है। वह प्राप्त होती है केवल भक्ति से। इसलिए भक्ति को यहाँ 'सम्पत्ति' कहा गया है। उस भक्ति-सम्पत्ति को श्रीमन्महाप्रभु ने जगत् को दान किया है। वह भक्ति है उन्नत-उज्ज्वल रसमयी। उन्नत का अर्थ है सर्वोपरि—जो सर्वश्रेष्ठ है एव जिससे ऊपर और कोई नही। वह उन्नत उज्ज्वल रस है—मधुर-रस। अर्थात् मधुर रसात्मिका-भक्ति को ही प्रदान करने के लिए श्रीकृष्ण करुणा कर श्रीमन्महाप्रभु रूप से जगत् मे प्रकट होते हैं।

व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण व्रज मे चार प्रकार के भक्तों का प्रेमरस आस्वादन करते हैं। दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर। किन्तु मधुर-रस

मे ही श्रीकृष्ण मे सर्वाधिक ममता बुद्धि है। जहाँ जितनी अधिक ममता बुद्धि होती है, वहाँ प्रीति विधान करने की उतनी अधिक तीव्र उत्कण्ठा हुआ करती है। चारों भावों के परिकर ही श्रीकृष्ण को अपना मानते है। क्योंकि मधुर भाव के परिकरों में उनके प्रति सर्वाधिक ममता बुद्धि है, इसलिए उनमे श्रीकृष्ण की प्रीति विधान करने की सर्वाधिक तीव्र उत्कण्ठा भी है और फिर ममता बुद्धि के अनुसार ही श्रीकृष्ण में भी उनके प्रेमरस आस्वादन करने की सर्वाधिक उत्कण्ठा है। उसके फलस्वरूप उनकी सर्वाधिक प्रेमवश्यता भी है। व्रज के दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर—ये चारों भाव ही निर्मल है, उज्ज्वल है—इनमे किसी में भी अपनी सुख-वासना की मलिनता नही है; परन्तु दास्य, सख्य एवं वात्सल्य इन तीनों भावों मे श्रीकृष्ण के साथ एक सम्बन्ध की अपेक्षा है। इनकी श्रीकृष्ण-सेवा इनके श्रीकृष्ण के साथ सम्बन्ध की अनुगामिनी ही रहती है। परन्तु मधुर-भाव के परिकर श्रीराधादि का भाव विलक्षण है। प्रकट-लीला मे इनका श्रीकृष्ण के साथ ऐसा कोई सम्बन्ध नही जोड़ा गया कि जिसके अनुरोध से वे श्रीकृष्ण-सेवा के लिए लालायित हो। तथापि वे श्रीकृष्ण-सेवा के लिए लालायित रहती हैं। उनकी सेवा-वासना स्वाभाविकी है। उनकी सेवा-उत्कण्ठा इतनी बलवती है कि वे वेदधर्म, लोकधर्म स्वजन एवं आर्यपथादि सब का परित्याग कर देती हैं। ऐसी कोई भी बाधा नही है जो उनकी कृष्ण-सेवा-वासना को संकुचित कर सके। इसलिए व्रज मधुर भावात्मिका भक्ति को ही उन्नत-उज्ज्वल रसमयी भक्ति कहा गया है।

तो क्या श्रीराधा-भाव की उज्ज्वल रसमयी भक्ति को ही जगत् को प्रदान करने के लिए श्रीमन्महाप्रभु प्रकट हुए हैं?—श्रीराधा-भावमयी भक्ति मे जीव का अधिकार नही है। वह तो महाभाव-स्वरूपा श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति हैं। जीव तटस्था शक्ति है, उसका श्रीराधाभाव की आनुगत्यमयी भक्ति मे ही अधिकार है। अतः श्रीराधा जी के परिकर के आनुगत्य मे रहकर मञ्जरी स्वरूप से [जो मधुर भाव की भक्ति है-श्रीकृष्ण सेवा विधान करना है—वही उन्नत उज्ज्वल रसमयी भक्ति सम्पत्ति है जिसे श्री मन्महाप्रभु जी ने सर्व साधारण मे वितरण किया।

इस उन्नत उज्ज्वल रसमयी भक्ति के सर्व साधारण में वितरण करने को श्रीमन्महाप्रभु के अवतार का एक बहिरङ्ग कारण बताते हुए श्रीगोस्वामिपाद ने आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण इस श्लोक में किया है।

[नान्द्यन्ते]

सूत्रधार — अलमतिविस्तरेण। भो भो: ! समाकर्ण्यताम्। अद्याहं स्वप्नान्तरे समादिष्टोऽस्मि भक्तावतारेण भगवता श्रीशंकरदेवेन, यथा—'अये ताण्डवकलापण्डित! इह किल बल्लवीचक्रचेतोवृत्तिमकरीविहारमकरालयस्य निरवद्यवेणुवादनविद्यास्वाध्यायसिद्धीनां प्रथमाध्यापकस्य सुगन्धिपुष्पावलीसौन्दर्यतुन्दिलायामरविन्दबान्धवनन्दिनीतीरान्तकाननलेखायामवलम्बितमत्तपुंस्कोकिललीलस्य परमानन्दवर्धनि गोवर्धननितम्बे संभृतनवाम्बुदाडम्बरस्य किशोरशिरोमणेर्नन्दनन्दनस्य प्रेमभराकृष्टहृदयो नानादिग्देशतः सांप्रतं रसिकसंप्रदायो वृन्दावनविलोकनोत्कण्ठया केशितीर्थोपकण्ठे समोयिवान्। स च धन्य:—

कृतं गोपीवृन्दैरिह भगवतो मार्गणमभू-
द्विहासीत्कालिन्दीपुलिनवलये रासरभस:।

[मङ्गलाचरण के बाद]

सूत्रधार[1] ने कहा—'इतना ही ठीक है, अधिक विस्तार का क्या प्रयोजन? आहा! आप सब सुनिए—आज मुझे स्वप्न में ब्रह्मकुण्ड तीर निवासी भक्तावतार भगवान् श्रीशङ्कर महादेव जी ने आदेश किया है कि—"ओ नृत्यकला-पण्डित! जो व्रज-गोपियों की चित्तवृत्ति-रूप मीन के विहार करने के लिए सागर के सदृश हैं, जो वेदवेत्ता सिद्ध पुरुषों को वेणु बजाने की विद्या अध्ययन कराने में प्रधान अध्यापक हैं, जो सुगन्धित फूलों की सुन्दरता को आवार सूर्य कन्या विशाल श्रीयमुना के किनारे के उपवनों में उन्मत्त-कोकिला की तरह लीला-विहार करने वाले हैं और जो परमानन्द बढाने वाले गोवर्धन की तलहटी में पूर्ण नवीन मेघ की तरह मनोहर शोभा युक्त हैं, उन किशोर-शिरोमणि श्रीनन्दनन्दन के प्रेम में आकृष्ट-चित्त होकर इस समय अनेक दिशाओं के देशों की रसिक-सम्प्रदाय श्रीवृन्दावन के दर्शनों की उत्कण्ठा से केशीतीर्थ के पास आकर उपस्थित हुई है। धन्य है यह रसिक-सम्प्रदाय।"

---

१ किसी नाटक के आरम्भ में नाटक के लेखक का वेश धारण कर जो एक अभिनेता रङ्ग मञ्च पर सर्व प्रथम प्रवेश करता है और मङ्गलाचरण आदि करता है—उसे सूत्रधार कहते हैं।

इति श्राव श्राव चरितमसकृद्गोकुलपते-
लुंठन्नुद्वाष्पोऽयं कथमपि दिनानि क्षपयति ॥३३॥

तदिदानीमेतस्य भक्तवृन्दस्य मुकुन्दविश्लेषोद्दीपनेन वहिर्भवन्तः प्राणाः कामपि तस्यैव केलिसुधाकल्लोलिनीमुल्लासयता परिरक्षणीया भवता । मत्कृपैव ते सामग्रीं समग्रयिष्यति' इति । तेनाद्य जगद्गुरोरस्य निदेशमेवानुवर्तिष्ये ॥४॥

(प्रविश्य)

पारिपार्श्विकः—भाव ! भवता निबद्धस्य विदग्धमाधवनाम्नो नवीननाटकस्य प्रयोगानुसारेण गृहीतभूमिकाः कुशीलवा रङ्गप्रवेशाय तत्रभवन्तमनुज्ञापयन्ति ॥५॥

(यहाँ क्यों उपस्थित हुई है ?)—"इसी स्थान पर ही तो व्रजगोपियो ने श्रीकृष्ण को ढूँढा था और इसी यमुना के पुलिनों में तो हुआ था रास-महोत्सव । गोकुलपति श्रीनन्दनन्दन के इन समस्त चरित्रों को बारम्बार सुनकर यह रसिक-सम्प्रदाय उनके विरह मे पृथ्वी पर पछाड़ खा-खाकर, आँखो से अश्रुधारा बहाते हुए जैसे तैसे दिन गुजार रही है ॥ ३ ॥ ३ ॥

अब इन सब रसिक-भक्तों के प्राण श्रीकृष्ण-विरह के उमड़ उठने से बाहर निकलना चाहते हैं । इसलिए तुम उन श्रीमुकुन्द की लीलामृत-नदी का आविर्भाव कर इन गत-प्राण भक्तो की रक्षा करो ।

(मुझ से यह कैसे सम्भव होगा ?)—मेरी कृपा से तुम्हें सब सामग्री की स्फूर्ति हो उठेगी ।" इसलिए आज जगद्-गुरु श्रीशङ्कर की इस आज्ञा का मैं पालन करता हू ॥ ४ ॥

(पारिपार्श्विक※ प्रवेश करता है)

पारिपार्श्विक— हे मान्य ! आप के रचे हुए विदग्धमाधव नवीन नाटक का अभिनय करने के लिए नाटक के प्रयोगानुसार सब अभिनेता तैयार हैं और रङ्ग-मञ्च पर आने के लिए इन्तजार है आप की आज्ञा की ॥ ५ ॥

※ सूत्रधार के शिष्य-रूप नट को पारिपार्श्विक कहते है, जो सूत्रधार के बाद मञ्च पर आकर रंगे आने वाले नाटक के सम्बन्ध मे सूत्रधार के साथ बात चीत करता है ।

सूत्रधारः—मारिष, निमितः किमिति तन्नाटकपरिपाटीभिर्वणि-
कापरिग्रहः ? (क्षणं विमृश्य।) भवतु,

ममास्मिन् संदर्भे यदपि कविता नातिललिता
मुदं धास्यन्त्यस्यां तदपि हरिगन्धाद्बुधगणाः।
अपः , शालग्रामाप्लवनगरिमोद्गारसरसाः
सुधीः को वा कौपीरपि नमितमूर्धा न पिबति ? ॥६॥४॥

पारिपार्श्विकः—भाव, रङ्गलक्ष्मीकौशलस्तुतिभिरेव सभ्यानभ्य
र्थयामहे, यदमी विद्याविभिर्देवानपि तानुपालब्धुमुत्सहन्ते, किमुत
नटानस्मान् । ७॥

सूत्रधारः—मारिष ! कृतमेतया वृथोपचारचर्यया । यतः,

अप्रेक्ष्य बलममात्मनो विदधति प्रीत्या परेषां प्रियं
लज्जन्ते दुरितोद्गमादिव निजस्तोत्रानुबन्धादपि ।

सूत्रधार—महाशय ! नाटक के योग्य उचित वेश-भूषा धारण कर
ली है ? (एक क्षण चुप रहकर) बहुत ठीक।

मेरे इस नाटक में,हो सकता है—कविता सब के मन को हरने वाली
न हो, तथापि श्रीकृष्ण-सौरभ होने से यह बुद्धिमान पुरुषों को आनन्ददायक
होगा। क्योंकि शालग्राम शिला को कुए के जल से स्नान कराने पर कौन
ऐसा बुद्धिमान व्यक्ति है जो मस्तक झुकाकर उसे पान नहीं करता ? ।६।।४।।

पारिपार्श्विक—हे मान्य ! हम में नृत्य की निपुणता नहीं है तो
भी हम नृत्य की शोभा-कुशलता के लिए स्तुति द्वारा सभ्यगण को
प्रार्थना करते हैं, क्योंकि सभ्यगण विद्या के द्वारा देवताओं पर भी जय प्राप्त
करते हैं, फिर हम नटों की क्या बात ? ।७।।

सूत्रधार—महाशय ! इस वृथा स्तुति का क्या प्रयोजन ? (देवताओं
को पराभव करने वाले अन्य धर्मों का रसिक भक्तों में आरोप क्यों ?)
वे अपने दुःख को न देखकर सदा दूसरों की भलाई करते हैं। परस्त्रीगमन
आदि पाप कर्म करने से जैसे लोगों को लज्जा होती है, सत्पुरुषों को
उसी प्रकार अपनी प्रशंसा सुनने में लज्जा आती है। विद्या, धन एवं
कुल में वे कितने ही उत्कृष्ट क्यों न हों, उतने ही वे क्रमशः नम्र होने

विद्यावित्तकुलादिभिश्च यदमी यान्ति क्रमान्नम्रतां
रम्या कापि सतामियं विजयते नैसर्गिको प्रक्रिया ॥८॥५॥

(समन्तादवलोक्य सहर्षमुच्चैः) हहो वल्लवीसहप्रिया, भगवद्धर्मज्ञगोष्ठीगुरुणामपि युष्माकं समक्षं किमप्येव विवक्षमाणस्ताण्डविको निरपत्रपाणां पदवीमारोढुमुपक्रमते। तदिमां क्षमध्वं चापलारभटीम् ।६।
(इति सप्रणामं पश्यन्)

अभिव्यक्ता मत्तः प्रकृतिलघुरूपादपि बुधा
विधात्री सिद्धार्थान् हरिगुणमयी वः कृतिरियम्।
पुलिन्देनाप्यग्निः किमु समिधमुन्मथ्य जनितो
हिरण्यश्रेणीनामपहरति नान्तःकलुषताम्? ॥१०॥६॥

तदिदानीमभीष्टदेवं भगवन्तमनुस्मृत्य नृत्यमाधुरीमुल्लासयामि।
(इत्यञ्जलिं बद्धा)

जाते हैं। इसलिए सत्पुरुषों की इस स्वाभाविक परिपाटी की जय हो॥८॥५॥

(चारों ओर देखकर सूत्रधार ने हर्षपूर्वक आगे कहा–) अहो! श्रीकृष्ण के प्रिय भक्तगण! आप भगवद् धर्म के तत्व को जानने वाले गुरुजन हैं फिर भी आपके सामने मैं एक नट कुछ कहने की इच्छा कर निर्लज्ज-जनों के पथ का अनुसरण करने लगा हूँ इसलिए आप मेरी इस चपलता को क्षमा कीजिये॥६॥ (इतना कहकर प्रणाम पूर्वक सब को देखते हुए)—

हे महत्जन! मैं स्वाभाविक क्षुद्र व्यक्ति हूँ परन्तु मेरे द्वारा रची हुई यह श्रीभगवद् गुणमयी रचना आप सब की अभीष्ट सिद्धि करेगी। क्योंकि अति नीच जाति पुलिन्द व्यक्ति के द्वारा लकड़ियों को संघर्षण कर उत्पन्न की हुई अग्नि क्या स्वर्ण की मैल को दूर नहीं करती?॥१०॥६॥

इसलिए अब परम इष्टदेव श्रीभगवान् का स्मरण कर मैं नृत्य-माधुरी का आनन्द प्रकाशित करता हूँ।

(इस प्रकार कहकर सूत्रधार दोनों हाथ जोड़कर इष्टदेव का स्मरण करता है)—

प्रपन्नमधुरोदयः स्फुरदमन्दवृन्दाटवी-
निकुञ्जमयमण्डपप्रकरमध्यबद्धस्थितिः ।
निरङ्कुशकृपाम्बुधिर्व्रजविहाररज्यन्मनाः
सनातनतनुः सदा मयि तनोतु तुष्टिं प्रभुः ॥११॥७॥

पारिपार्श्विकः—भाव, पश्य पश्य,—
भक्तानामुदगादनर्गलधियां वर्गो निसर्गोज्ज्वलः
शीलैः पल्लवितः सबल्लववधूबन्धोः प्रबन्धोऽप्यसौ ।
लेभे चत्वरताञ्च ताण्डवविधेर्वृन्दाटवीगर्भभू-
र्मन्ये मद्विधपुण्यमण्डलपरीपाकोऽयमुन्मीलति ॥१२॥८॥
तत्त्वरस्व रसमाधुरीपरिवेषणाय ॥१३॥

सूत्रधारः—मारिष, नीरसावलीवैमुख्याद्विशङ्कमानो मन्थर इवास्मि ॥१४॥

पारिपार्श्विकः—भाव, कृतमत्र शङ्कया । यतः,

शरणागत-भक्तों के प्रति जिनका माधुर्य उदित होता है, जो अतिशय ज्योतिर्मय श्रीवृन्दावन के निकुञ्जमय मण्डपों में विराजमान हैं, जो निरंकुश कृपा के सागर हैं और जिनका मन सदा व्रजविहार में लगा रहता है, वे सर्व-समर्थ नित्य-विग्रह श्रीकृष्ण मेरे ऊपर सन्तुष्ट हों ॥११॥७॥

पारिपार्श्विक—मान्यवर ! देखिये, देखिये—

स्वभाव से ही सुन्दर, उज्ज्वल बुद्धि भक्तगण यहाँ उपस्थित हैं, व्रजगोपी वल्लभ श्रीकृष्ण का यह लीला-नाटक भी स्वाभावतः उज्ज्वल है और श्रीवृन्दावन-भूमि की यह रासस्थली नृत्य-वैचित्री की निपुणता प्राप्त किये हुए है, कुछ भी हो, मैं तो यह समझता हूँ कि हम जैसे व्यक्तियों की पुण्यराशि का फल आज उदित होने लगा है ॥१२॥८॥

इसलिए अब शीघ्र ही रस माधुरी का परिवेषण कीजिये ॥१३॥

सूत्रधार—बन्धुवर ! रस को न जानने वाले लोग इस नाटक में कहीं प्रतिकूलता न कर बैठें, इसी शङ्का से मैं देर कर रहा हूँ ॥१४॥

पारिपार्श्विक—मान्यवर ! वृथा है आपकी यह शङ्का । जो लोग रस को नहीं पहचानते, वे इस में उदासीन ही रहेंगे किन्तु जो रसिक-जन

उदासतां नाम रसानभिज्ञाः कृतो तवामी रसिकाः स्फुरन्ति ।
क्रमेलकैः काममुपेक्षितेऽपि पिका. सुखं यान्ति परं रसाले ॥१५॥६

तदारभ्यतां सामाजिकचेतश्चमत्काराय गान्धर्वब्रह्मविद्या ॥१६॥

सूत्रधारः—मारिष, पश्य पश्य,

सोऽयं वसन्तसमयः समियाय यस्मिन् पूर्णं तमीश्वरमुपोढ़नवानुरागम्।
गूढग्रहा रुचिरया सह राधयासौ रङ्गाय सगमयिता निशि पौर्णमासी॥१७॥१०

(नेपथ्ये)

अये नर्त्तकसामन्तसार्वभौम, ! कथं भवतः कर्णपूरीभूता बाढ़ं निगूढ़ेयं संदर्भमञ्जरी, यदह राधया सार्धमीश्वरं तं संगमयिष्यामीति ? । १८

सूत्रधारः—(सविस्मयं नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) अहो, कथमित एव भगवती पौर्णमासी ? पश्य पश्य ।

है वे सब आनन्दित होगे । (रस को न जानने वाले यदि उदासीन रहें तो हमारी क्या हानि ?) ऊँट आम्र वृक्ष की उपेक्षा करता है परन्तु कोकिलाएँ तो उसमे परम सुख प्राप्त करती हैं ॥१५॥६॥

अतएव आरम्भ कीजिए, रसिक-जनों की चित्त आनन्दकारी सङ्गीत रूप ब्रह्म विद्या का ॥१६॥

सूत्रधार—महाशय ! देखो, देखो—

यह वही वसन्त-काल है, जबकि रात्रि के समय पौर्णमासी तिथि, जिसमे अन्यान्य सब नक्षत्र छिप गए है, नवीन उदित हुई रक्तिमा से युक्त पूर्ण चन्द्र को राधा अर्थात् विशाखा नक्षत्र से सङ्गम द्वारा सुशोभित करने के लिए उपस्थित हुई है ।

[पक्षान्तर में—यह वही वसन्त काल है, जवकि रात्रि के समय भगवती पौर्णमासी नवीन अनुराग में रगे हुए पूर्णतम ईश्वर श्रीकृष्ण के साथ कौतुक पूर्वक श्रीराधा का सङ्गम-आनन्द विघान करने के गूढ आग्रह मे उपस्थित हुई है] ॥१७॥१०॥

[वेश-भूषा गृह से आवाज आती है]

हे नर्त्तक-सेनाध्यक्ष ! यह निगूढ बात आपके कानों मे कैसे पड़ी कि मैं श्रीराधा के साथ श्रीकृष्ण का मिलन कराऊंगी ? ॥१८॥

वहन्ती काषायाम्बरमुरसि सान्दीपनिमुने
सवित्री सावित्रीसमरुचिरलं पाण्डुरकचा।
सुरर्षेः शिष्येयं परिजनवती नन्दभवना-
दितो मन्दं मन्दं स्फुटमुटजवीथीं प्रविशति ॥१९॥११॥

तदावामप्यग्रतः करणीयं वर्णिकाङ्गीकारमालोचयाव ॥२०॥

(इति निष्क्रान्तौ)

प्रस्तावना

(ततः प्रविशति सपरिजना पौर्णमासी)

पौर्णमासी—('अये नर्तकसामन्त—' इति पठित्वा) हन्त वत्से नान्दीमुखि, किमपि कमनीयं गायता स्फुटमानन्दितास्मि नटेन्द्रेण ॥२१॥

नान्दीमुखी—भअवदि, किं क्खु जहत्थं एदम्। [भगवति, किं खलु यथार्थमेतत्] ॥२२॥

सूत्रधार—(विस्मय पूर्वक वेशभूषा-गृह की ओर देखते हुए) आहा भगवती पौर्णमासी यहाँ कैसे आरही हैं ? देखो, देखो—

यह पौर्णमासी देवर्षि की शिष्या, सावित्री के सदृश शोभा-शालिनी और सान्दीपनि मुनि की माता है। वक्षस्थल पर गेरुवे रङ्ग का वस्त्र, सिर पर सफेद बाल शोभित हैं। परिजन (दास-दासियों) के साथ धीरे-धीरे यह नन्दभवन से पर्णकुटी की ओर जा रही है ॥१९॥११॥

इसलिए हम भी होने वाले नाटकाङ्ग की चलकर समालोचना करते हैं ॥ २० ॥ [इतना कहकर सूत्रधार तथा पारिपार्श्विक—दोनों चले जाते हैं।]

प्रस्तावना—(प्रतिपाद्य विषय की सूचना)

[तब पौर्णमासी परिजनों के साथ मञ्च पर प्रवेश करती है]

पौर्णमासी—(वाह रे नर्तकनायक ! —यह कहकर) आहा पुत्रि नान्दीमुखि ! इस नटेन्द्र ने कैसा मनोहर गान किया, मैं बड़ी प्रसन्न हूँ ॥२१

नान्दीमुखी—भगवति ! क्या यह यथार्थ है ? ॥२२॥

पौर्णमासी—

संभाव्यते फलमलम्भिलमूलपुष्टेस्तत्तादृशं क्व मम भाग्यतरोर्वरोरु।
येनानयोः सुभगयोरुचिता भवेयं शृङ्गारमाङ्गलिकयोर्नवसंगमाय ॥२३॥१२॥

नान्दीमुखी—भअवदि, जइ विसहाणुणन्दिणी राहिआ तुए कण्हेण सगमणिज्जा, तदो संगमाणुऊलवासं गोउलं उज्झिअ सन्तणुवाससण्णे भाणुतित्थे किन्ति एसा संगोविअ रक्खिदा आसी। [भगवति! यदि वृषभानुनन्दिनी राधिका त्वया कृष्णेन संगमनीया, तदा संगमानुकूलवासं गोकुलमुज्झित्वा शान्तनुवाससंज्ञे भानुतीर्थे किमित्येषा संगोप्य रक्षितासीत] ॥२४॥

पौर्णमासी—वत्से, नृशंसतः कंसभूपतेः शङ्कया ॥२५॥

नान्दीमुखी—भअवदि, तहवि कहं रण्णा विण्णादा राहा? [भगवति! तदपि कथं राज्ञा विज्ञाता राधा?] ॥२६॥

पौर्णमासी—राधासौन्दर्यवृन्दमेव विज्ञापने निदानम्; यतः,

पौर्णमासी—सुन्दरि! हमारे भाग्य-वृक्ष का मूल अभी पुष्ट नहीं हुआ, इसलिए इस प्रकार के फल की सम्भावना कहाँ? (वह भाग्य कैसा?)—जिस शृङ्गार मङ्गल-स्वरूप श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण दोनों के नव सङ्गम को करा पाऊंगी ॥२३॥१२॥

नान्दीमुखी—भगवति! यदि आप वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा का श्रीकृष्ण के साथ मिलन कराना चाहती हो, तो उस मिलन के अनुकूल गोकुल में वास न कर आप शान्तनुवास तीर्थ में किस लिए गुप्त भाव से रह रही हो? ॥२४॥

पौर्णमासी—पुत्रि! जालिम कंस राजा के भय से ॥२५॥

नान्दीमुखी—भगवति! वह राजा राधा को कैसे जानता है? ॥२६॥

पौर्णमासी—श्रीराधा की सौन्दर्य-सम्पत्ति ही उस की जानकारी का कारण है, क्योंकि लोकातीत गुण-सम्पत्ति सब प्रकार से निगूढ़ वस्तु को

लोकोत्तरा गुणश्रीः प्रथयति परितो निगूढमपि वस्तु ।
विहितामपि प्रयत्नादव्यनक्ति कस्तूरिका गन्ध ॥२७॥१३॥

नान्दीमुखी—भअवदि, जसोआधत्तीए मुहराए अत्तणो णत्तिणी राहिआ गोउलमज्झे आणीअ जड़िलापुत्तस्स अहिमण्णुणो हत्थे उव्वाहिदा त्ति, ताविस जेव्व असमञ्जस आपडिदम्, ज कण्हादो अण्णेण पुरिसेण तादिसीए करप्फसणं असज्जम्, तदो कध तुम णिच्चिन्दा विअ दीससि? [भगवति, यशोदाधात्र्या मुखरया आत्मनो नप्त्री राधिका गोकुलमध्ये आनीय जटिलापुत्रस्याभिमन्योर्हस्ते उद्वाहितेति तादृशमेवासमञ्जसमापतितम् । यस्मात्कृष्णतोऽन्येन पुरुषेण तादृशीना करस्पर्शन असह्यम्, तस्मात्कथत्व निश्चिन्ता इव दृश्यसे ?] ॥२८॥

पौर्णमासी—तस्यैव हेतो ॥२९।

नान्दीमुखी—कह विअ ? [कथमिव ?] । ३०॥

पौर्णमासी—(विहस्य) तद्विञ्चनार्थमेव स्वय योगमायया मिथ्यैव प्रत्यायित तद्विधानामुद्वाहादिकम् । नित्यप्रेयस्य एव खलु ताः कृष्णस्य ॥३१॥

भी प्रकाशित कर दिया करती है। यत्न पूर्वक छिपाई हुई कस्तूरी को उस की गन्ध प्रकट कर देती है ॥२७।१३॥

नान्दीमुखी—भगवति! यशोदा की माता मुखरा अपनी दोहत्री राधा को गोकुल मे लाकर जटिला के पुत्र अभिमन्यु के हाथ सौप देगी। यह बहुत बडी अड़चन पैदा हो रही है। श्रीकृष्ण को छोडकर अन्य पुरुष के हाथ का स्पर्श करना राधा जैसी कन्याओ के लिए असह्य है। इसलिए तुम कैसे निश्चिन्ता सी दीख रही हो? ॥२८॥

पौर्णमासी—इस का भी कारण है? ॥२९॥

नान्दीमुखी—वह क्या? ॥३०॥

पौर्णमासी—(मुस्कराते हुए) उसकी वञ्चना के लिए स्वय योगमाया ने उनके मिथ्या विवाहादिक की सत्य प्रतीति करादी है। वे सब कन्याए निश्चय ही नित्य प्रेयसी हैं श्रीकृष्ण की ॥३१॥

नान्दीमुखी—(सहर्षम्) ता णूणं तुमं णिच्चिन्दासि संवुत्ता, जं एसा अज्ज गोउलमज्झे आणीदा। [तस्मात् नूनं त्वं निश्चिन्तासि संवृत्ता, यदेषाद्य गोकुलमध्यं आनीता।] ॥३२॥

पौर्णमासी—वत्से, सत्यं ब्रवीषि। कंसतश्चिन्ता मे शैथिल्यमिवोपलब्धा, किंतु दुष्टाभिमन्युत स्फुटमन्या सांप्रतमजनिष्ट ॥३३॥

नान्दीमुखी—केरिसो सा, ? [कीदृशी सा ?] ॥३४॥

पौर्णमासी—

वल्लवीनवलतासु रङ्गिणं कृष्णभृङ्गमधिगत्य मत्सरी।
राधिकापुरटपद्मिनीमयने दुमिच्छति पुनर्वनान्तरम् ॥३५॥१४॥

नान्दीमुखी—तत्थवि जोअमाआ जेव्व समाहाणं करिस्सदि। [तत्रापि योगमायैव समाधानं करिष्यति।] ॥३६॥

पौर्णमासी—पुत्रि, को जानाति स्वतन्त्रायास्तस्याश्चरित्रम्, यदीहशेऽर्थे सा तटस्थायते ? ॥३७॥

नान्दीमुखी—(हर्ष पूर्वक) तभी तुम निश्चिन्त हो रही हो, क्योंकि आज राधा को गोकुल में लाया गया है ॥३२॥

पौर्णमासी—पुत्रि! मैं सत्य कह रही हूं। कंस का डर तो हलका पड़ गया है, किन्तु अब तो दुष्ट अभिमन्यु से मुझे और अधिक चिन्ता खडी हो गई है ॥३३॥

नान्दीमुखी—वह कैसी ? ॥३४॥

पौर्णमासी—वल्लवीरूपा नवीन लताओं के प्रति श्रीकृष्ण-मधुकर को अनुरक्त देखकर ईर्षालु अभिमन्यु राधा रूपा स्वर्णवर्णा पद्मिनी को दूसरे वन (मथुरा) में ले जाना चाहता है ॥३५॥१४॥

नान्दीमुखी—इसमें भी योगमाया ही समाधान करेगी ॥३६॥

पौर्णमासी—पुत्रि! वह स्वतन्त्र है, उसके चरित्र को कौन जाने। यदि वह इस विषय में तटस्थ रही आई तो ? ॥३७॥

नान्दीमुखी—अण्णो वा एत्थ कोवि उवाओ त्थि, जेण एसो पडिबद्धो भवे ? [अन्यो वात्र कोऽप्युपायोऽस्ति येनैष प्रतिबद्धो भवेत् ?] ॥३८॥

पौर्णमासी—वत्से, तत्र मया प्रतिभुवा भवन्त्या युक्तिमाधुरी-मेदुरेण वाग्गलेन निसर्गादगम्भीरोऽयं विष्कम्भितोऽस्ति ॥३९॥

नान्दीमुखी—(सहर्षम्) भअवदि, कसस्स गोमण्डलज्झक्खो गोअड्ढणो कण्हाणुसारिणा चन्दाअलीचरित्तेण कुदो ण कुप्पइ ? [भगवति, कंसस्य गोमण्डलाध्यक्षो गोवर्धनः कृष्णानुसारिणा चन्द्रावलीचरित्रेण कुतो न कुप्यति] ॥४०॥

पौर्णमासी—पुत्रि, राजकुलोपलब्धेन गौरवेण गर्वितोऽयं व्यक्तमपि तन्न श्रद्दधाति ॥४१॥

नन्दीमुखी—कह कण्हेण पढमं से सङ्गमो सवुत्तो। [कथं कृष्णेन प्रथमस्या सगमः सवृत्तः ?] ॥४२॥

पौर्णमासी—पुत्रि सगमे खलु गाढानुरागितैव दूती बभूव। मदुद्यमाना केवलमजनिष्ट पिष्टपेपिता ॥४३॥

नान्दीमुखी—और फिर दूसरा उपाय ही क्या है? जिस से इसमे प्रतिबन्ध लगे ॥३८॥

पौर्णमासी—पुत्रि ! इसमे मैं जामिन हूँ, स्वभाव से गम्भीर एव स्निग्ध युक्ति-माधुरीमय मेरे वचन रूप अर्गल (अगडी-या सिटकिनी) द्वारा वह अगम्भीर अभिमन्यु रुका हुआ है ॥३९॥

नान्दीमुखी— (हर्ष पूर्वक) भगवति ! कस की गौओ का अध्यक्ष (रक्षक) जो गोवर्द्धन है, (अपनी स्त्री) चन्द्रावली के चरित्र को कृष्ण-अनुगत देखकर कुपित क्यो नहीं होता है ? ॥४०॥

पौर्णमासी—पुत्रि ! राजकुल से गौरव को प्राप्त करके वह स्पष्ट हो जाने पर भी इस बात की कुछ परवाह नहीं करता ॥४१॥

नान्दीमुखी— कृष्ण के साथ इस चन्द्रावली का प्रथम मिलन कैसे हुआ ? ॥४२॥

पौर्णमासी—पुत्रि ! इनके परस्पर मिलन मे गाढ अनुराग ही ने दूती का काम किया। मेरा उद्यम तो केवल पिसे का पीसना ही है ॥४३॥

नान्दीमुखी—अज्जे, तुह कह एरिसी भाअविसेसभाविदा गाढाणुरा-इदा उप्पण्णा, ज अप्पणो अहिट्ठदेअम्हि अणुप्पण्णे कण्हे उज्जइणीं उज्झिअ पढमं व्वेअ गोउलं लद्धासि । [आर्ये, तव कथमीदृशी भावविशेषभाविता गाढानुरागितोत्पन्ना, यदात्मनोऽभीष्टदेवेऽनुत्पन्ने कृष्णे उज्जयिनीमुज्झित्वा प्रथममेव गोकुलं लब्धासि ?] ।।४४।।

पौर्णमासी—पुत्रि, गुरुपादानामुपदेशप्रसादेन ।।४५।।

नान्दीमुखी—एत्थ वसन्तीं तुमं महाभाओ संदीवणी किं खु जाणादि ? [अत्र वसन्तीं त्वां महाभागः सांदीपनिः किं खलु जानाति ?] ।४६।।

पौर्णमासी—अथ किम् । यतस्तेन मधुमङ्गलाभिधः स्वपुत्रो ममात्र परिचर्यार्थं प्रेषितः ।।४७।।

नान्दीमुखी—महुमङ्गलो तुए सुट्ठु अणुग्गहीदो जं एसो णन्दणअ-णन्दीअरचन्दस्स सहअरदामहूसवे णिउत्तो । [मधुमङ्गलस्त्वया सुष्ठु अनुगृहीतो यदेष नन्दनयनेन्दीवरचन्द्रस्य सहचरता महोत्सवे नियुक्तः ?]।।४८

पौर्णमासी—पुत्रि, मम सर्वस्वरूपाया राधायाः कृष्णेऽनुरागविस्ताराय त्वञ्च नियुज्यसे ।।४९।।

नान्दीमुखी—आर्ये ! आप मे इस प्रकार का भाव विशेष जनित गाढ़ अनुराग कैसे उत्पन्न हुआ कि जिससे आप अपने अभीष्ट देव श्री कृष्ण के जन्म से पहले ही उज्जयिनी नगरी को छोड़कर गोकुल में आ बसी ?।।४४।।

पौर्णमासी—बेटी ! यह सब केवल गुरुचरण कमलों की उपदेश-कृपा से ।।४५।

नान्दीमुखी—तुम महाभागा यहां गोकुल में रह रही हो, इसे क्या सान्दीपनि जानते हैं ? ।।४६।।

पौर्णमासी—और क्या ! वह जानता है तभी तो उसने अपने पुत्र मधुमङ्गल को मेरी सेवा के लिए यहां भेजा है ।।४७।

नान्दीमुखी—तुम ने मधुमङ्गल पर सुन्दर अनुग्रह किया है, जिससे वह श्री नन्दमहाराज के नेत्र-कमलों के चन्द्रस्वरूप श्रीकृष्ण की सहचरता का आनन्द ले रहा है ।।४८।।

पौर्णमासी—पुत्रि ! राधा मेरी सर्वस्व है, अतः मैं उसके अनुराग को कृष्ण के प्रति बढ़ाने के लिए तुम्हें नियुक्त करती हूं ।।४९।।

नान्दीमुखी—(सानन्दम्) भअवदि, अदिभूमिं गदोसे कण्हे अणुराओ। [भगवति, अतिभूमिं गतोऽस्याः कृष्णेऽनुराग.] ।।५०।।

पौर्णमासी—कथमेतल्लक्षितम् ।।५१।।

नान्दीमुखी—जदा कहापसङ्गे एसा कण्हत्ति णामं सुणादि, तदा रोमाञ्चिदा कंपि भाअं विन्दइ। [यदा कथाप्रसङ्गे एषा कृष्णेति नाम शृणोति, तदा रोमाञ्चिता कमपि भाव विन्दति] ।।५२।।

पौर्णमासी—पुत्रि, युक्तमिदम् । तथाहि—

तुण्डे ताण्डविनी रतिं वितनुते तुण्डावलीलब्धये
कर्णक्रोडकडम्बिनी घटयते कर्णार्बुदेभ्यः स्पृहाम् ।
चेत.प्राङ्गणसङ्गिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृतिं
नो जाने जनिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेति वर्णद्वयी ।५३।१५

नान्दीमुखी—अज्जे ! दोहिं ललिदाविसाहाहिं सहीहिं सद्धं रा-ा सूरं आराहेहि। चन्दाअली उण पउमासेव्वापहुदीहिं सद्धं चण्डिअम्। ता तक्केमि

नान्दीमुखी—(आनन्द पूर्वक) भगवति ! श्री कृष्ण के प्रति श्रीराधा का अनुराग तो अतिशय बढ चुका है ।।५०।।

पौर्णमासी—तुम कैसे जानती हो ? ।।५१।।

नान्दीमुखी—जब कभी बात चीत मे वह श्री कृष्ण का नाम सुनती है, तो वह पुलकित हो एक अनिर्वचनीय भाव मे मग्न हो जाती है ।।५२।।

पौर्णमासी—पुत्रि ! यह बात ठीक है, क्योकि—कृष्ण नाम के कृ और ष्ण यह दो वर्ण जब मुख मे नर्तकी की भान्ति नृत्य करते है, तो फिर अनेक मुखो की प्राप्ति की तीव्र लालसा जाग उठती है, कानो मे अकुरित होने पर दस कोटि कान प्राप्त करने की इच्छा होती है और जब चित्तरूपी प्राङ्गण मे पहुँचते हैं तो समस्त इन्द्रियो की चेष्टा रहित कर देते है। इसलिए हे नान्दीमुखि ! मैं यह नही जानती कि इन दो वर्णो मे कैसा और कितना अमृत भरा हुआ है ? ।।५३।।१५।।

नान्दीमुखी—हे आर्ये ! ललिता और विशाखा इन दोनो सखियो के साथ श्रीराधा सूर्यदेव की आराधना करती है और चन्द्रावली अपनी पद्मा

देअदापसाअणिप्पादिओ इमाणं ईरिसो कण्हे अणुराओ। [आर्ये ! द्वाभ्यां ललिताविशाखाभ्यां सखीभ्यां सार्धं राधा सूर्यमाराधयति। चन्द्रावली पुन पद्माशैव्याप्रभृतिभि सार्धं चण्डिकाम्। तस्मात्तर्कयामि देवताप्रसादनिष्पादित आसामीदृश कृष्णेऽनुराग] ॥५४॥

पौर्णमासी—

देवतसेवा केवलमिह वनयात्रानुसारिणी मुद्रा।
व्रजसुभ्रुवां तु कृष्णे सहज. प्रेमा स जागर्ति ॥५५॥१६॥

नान्दीमुखी—सच्चं राहाए साहाविअं चेअ पिम्म तत्थवि सहीणं कोसलं उद्दीअणम्। [सत्य राधाया स्वाभाविकमेव प्रेम तथापि सखीना कौशलमुद्दीपनम्] ॥५६॥

पौर्णमासी—पुत्रि ! मद्गिरा संदिश्यतामालेख्यविचक्षणा विशाखा यथेयं स्वसखीनेत्रारविन्दयोरानन्दनाय नन्दसूनो. प्रतिच्छन्दं निर्माति ॥५७॥

नान्दीमुखी—जह आणवेदि भअवदी। [यथाज्ञापयति भगवती]॥५८

और शैव्या आदि सखियो के साथ चण्डिका की पूजा करती है, इसलिये मैं अनुमान करती हू कि इन देवताओ की कृपा से ही राधा और चन्द्रावली मे श्री कृष्ण के प्रति इस प्रकार का गाढ अनुराग पैदा हुआ है ॥५४॥

पौर्णमासी—इन दोनो की देव-पूजा तो एक बहाना मात्र है। व्रज-सुन्दरियों मे श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग स्वाभाविक ही जागरूक है ॥५५॥१६

नान्दीमुखी—श्रीराधा का स्वाभाविक अनुराग है यह सच है तथापि सखियो की चतुराई है इसका उद्दीपन करना या जगाना ॥५६॥

पौर्णमासी—पुत्रि ! चित्र बनाने मे विशाखा बड़ी चतुर है, तू मेरी ओर से उसे कह दे कि वह अपनी सखी राधा के नेत्र कमलो को आनन्द देने के लिए श्री कृष्ण का एक चित्र तैयार करदे ॥५७॥

नान्दीमुखी—भगवति ! जैसी आज्ञा ॥५८॥

पौर्णमासी—यद्यपि मोदकवृन्ददानापदेशाद्वृन्दाटवीमध्यमासाद्य राधेति मङ्गलाक्षरमाधुर्येण माधवकर्णयोर्द्वन्द्वमानन्दनीयम् ॥५६॥

नान्दीमुखी—अज्जे ! पेक्ख एसो राममहुमङ्गलसिरिदामपहुदीहिं सहअरेहिं सद्धं गोउलादो णिक्कमिअ वुन्दावनं गच्छन्तो कण्हो सिणिद्धेहिं पिदरेहिं जसोआनन्देहिं लालिज्जइ । [आर्ये ! पश्यैष राममधुमङ्गल श्रीदामप्रभृतिभि सहचरै सार्धं गोकुलान्निष्क्रम्य वृन्दावन गच्छन्कृष्ण स्निग्धाभ्या पितृभ्या यशोदानन्दाभ्या लाल्यते] ॥६०॥

पौर्णमासी—(विलोक्य सहर्षम्)

अय नयनदण्डितप्रवरपुण्डरीकप्रभः
प्रभाति नवजागुडव्रजविडम्बिपीताम्बर. ।
अरण्यजपरिष्क्रियादमितदिव्यवेषादरो
हरिन्मणिमनोहरद्युतिभिरुज्ज्वलाङ्गो हरि. । ६१॥१७॥

तदहं मोदकसंपादनाय गच्छेयम् । त्व विशाखा याहि ॥६२॥

पौर्णमासी— मैं लड्डू बाटने के बहाने वृन्दावन जाती हू और वहा जाकर 'राधा'-इन दोनो मङ्गलमय अक्षरो के माधुर्य से कृष्ण के कानो को आनन्दित करु गी ॥५६॥

पौर्णमासी —आर्ये ! देखो, देखो, श्री बलराम, मधुमङ्गल, श्रीदाम आदि सखाओ के साथ श्री कृष्ण गोकुल से निकल कर वृन्दावन जा रहे है और पिता-माता श्रीनन्द-यशोदा उनका स्नेहपूर्वक लालन कर रहे है ॥६०॥

पौर्णमासी—(देखकर आनन्दपूर्वक) जिनके नेत्रो की शोभा श्रेष्ठ नील कमल की प्रभा को निन्दित करने वाली है, जिनका पीताम्बर नवीन केसर की शोभा को लज्जित कर रहा है , जिनने पुष्प-पत्रादि द्वारा रचित अलकार मणिरत्नादि से रचित दिव्य वेश को भी पराजित कर रहे है, मरकतमणि की कान्तिराशि के समान उज्ज्वल अङ्ग वाले वे श्री कृष्ण यही हैं॥६१॥१७॥

अच्छा मैं तो लड्डू बनाने जाती हूँ और तू विशाखा के पास चली जा ॥६२॥ (ऐसा कहकर दोनो चली जाती है) ।

(इति निष्क्रान्ते)

विष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्ट कृष्ण.)

श्रीकृष्णः—(पुरस्तादवलोक्य सानन्दम्)

श्रेणीभूतवपु श्रियामभिमुखे गोमण्डलीनां क्रमा-
दासां स्फाटिकगण्डशैलपटलीपाण्डुत्विषां व्याजत ।
शङ्के ज्ञातगुणा पुरंदरपुराच्चस्कन्द मन्दाकिनी
वृन्दारण्यविहारिधन्ययमुनासेवाप्रमोदार्थिनी ॥६३॥१८॥

श्रीनन्दः—वत्स ! साधु वर्णितम् । किं तु गोष्ठलक्ष्मीरपि पृष्ठतः प्रेक्ष्यतामिति ॥६४॥ (परावृत्य)

विशालैर्गोशालैर्बहुशिखरशाखावितितिभि
परीतं सबाधीकृतसविधमम्भोधिगहनम् ।
समृद्धामागोवर्धनकटकमाकालियह्रद
श्रियं बिभ्रद्गोष्ठ स्फुरति परितस्तावकमिदम् । ६५॥१९॥

विष्कम्भक. (भविष्यत् नाटक की सूचना)

[फिर निर्दिष्ट स्थान पर श्रीकृष्ण प्रवेश करते है]

श्रीकृष्ण—(आगे की ओर देखकर आनन्दपूर्वक) स्फटिक मणिमय पर्वत के सदृश कान्ति और श्रेणीभूत शरीर-शोभा से सुशोभित होकर गौ-मण्डली के रूप मे, जान पडता है—आज इन्द्रपुरी से वृन्दावन विहारिणी यमुना की सेवा के लिए गुणवती मन्दाकिनी ही आनन्दपूर्वक चली आ रही है ॥६३॥१८॥

श्रीनन्दराज—पुत्र ! तुम ने सुन्दर कहा, किन्तु पीछे की ओर गोष्ठ-शोभा को भी देखो ॥६४॥

(पीछे की ओर देखते हुए)—आहा ! गोष्ठ की कैसी आश्चर्यमय शोभा है । अनेकानेक विशाल गोशालाओ की शिखरो से परिव्याप्त होकर, गोवर्धन से लेकर कालियह्रद पर्यन्त चारो ओर घनीभूत एव सकीर्ण होकर दुर्गम समुद्र की भाति यह गोष्ठ सब प्रकार से सुशोभित हो रहा है ॥६५॥१९॥

श्रीकृष्ण —सखे मधुमङ्गल ! दूरमनुयोतोऽस्मि तातेन। तदविलम्ब मम्बया सार्धं गोष्ठ प्रविश्यताम् ॥६६॥

यशोदा—जाद ! किति अवरण्हे वि गोट्ठण सुमरसि ज परमादरेण मए रन्धिदाइ पच्चह सीअलीहोन्ति मिट्ठण्णाइ । [जात ! किमित्यपाह्लेऽपि गोष्ठ न स्मरसि ? यत्परमादरेण मया रन्धितानि प्रत्यह शीतलीभवन्ति मिष्टान्नानि] ॥६७॥

मधुमङ्गल —गोउलेस्सरि, सुणाहि। (इति सस्कृतेन) [गोकुलेश्वरि, शृणु]

गोम्य शपे किमपि दूषणमस्य नास्ति

(इति वागुपक्रमे कृष्ण सस्नेहमेन पश्यति)

ताभियदेव रभसादभिकृष्यमाण ।

कुञ्ज विशत्यधिकवेलिकलोत्सुकाभि ॥६८॥

(इति वागसमाप्तौ)

श्रीकृष्ण —(सापत्रपमात्मगतम्) व्यक्तमेष बालिशो वल्लवीभिरिति वक्ष्यति। तदेन सज्ञया निवारयामि। (इति शिरस्तिरो धूनयति) ॥६९॥

श्रीकृष्ण—मित्र मधुमङ्गल ! पिताजी के साथ बहुत दूर चला आया हू, अब शीघ्र माता के पास गोष्ठ मे चलें ॥६६॥

श्रीयशोदा—पुत्र ! तीसरा पहर हो गया है, क्या अभी भी तुम्हें घर की याद नही आई। मै कितने प्रेम से मिष्ठान बना रखती हू परन्तु रोजाना ठण्डे हो जाते हैं ॥६७॥

मधुमङ्गल—गोकुलेश्वरि ! सुनो, मैं गौओ की शपथ खाता हू। इस मे कृष्ण का कोई दोष नही है।

(इतना कहते ही श्रीकृष्ण मधुमङ्गल को प्रेम पूर्वक देखने लगे) माता ! यह उन सब केलि-समुत्सुका (व्रज गोपिया) द्वारा बलपूर्वक आकर्षित होकर कुञ्ज मे चले जाते हैं— ॥६८॥

[अभी यह बात समाप्त नही हुई थी]

श्रीकृष्ण—(लज्जायुक्त मन मे)—यह मूर्ख अब आगे स्पष्ट रूप से ही गोपियो के साथ ऐसी बात कह देगा। इसलिए इसे सकेत मे रोक दू। ६९॥

मधुमङ्गल —भो वअस्स ! किति म निवारेसि ज णिच्चिद अज्ज अज्जाया अग्गदो एद विण्णविस्सम् । [भो वयस्य ! किमिति मा निवारयसि यन्निश्चितमद्य आर्याया अग्रत इद विज्ञापयिष्यामि] ॥७०॥

श्रीकृष्ण —(स्वगतम्)हन्त, लज्जाजाले जाल्मधियाहृ पातितोऽस्मि॥७१

मधुमङ्गल —

पीताम्बरस्त्वरितमम्ब सुहृद्घटाभि ॥७२॥२०॥

श्रीकृष्ण —(सानन्दमात्मगतम्) कथमन्यदेवास्य हृद्गतम् ।७३॥

यशोदा—वच्छ महुमङ्गल ! सच्च ललिदापहुदीओ ओववालिआओ व मह इद कहेन्ति ता डिम्भए हृदम्हि । [वत्स मधुमङ्गल ! सत्य ललिता-प्रभृतयो गोपवालिकाश्च मम इद कथयन्ति, तड्डिम्भेहृतास्मि] ॥७४॥

श्रीनन्द —कुटुम्बिनि ! कच्चिदनुरूपा निरूपितास्ति गोकुले काचिद्-वालिका यामुद्वाहयामो वत्सम् ॥७५॥

(यह सोचकर श्रीकृष्ण ने निषेध रूप मे सिर हिला दिया।)

मधुमङ्गल—हे सखा ! रोक क्यो रहे हो मुझे ! आज मैं निश्चय ही माता यशोदा के सामने सब बात स्पष्ट कहूगा ॥७०॥

श्रीकृष्ण—(मन-मन) मे हाय ! हाय! इस मूर्ख बुद्धि ने मुझे लज्जा-जाल मे पटक दिया ॥७१॥

मधुमङ्गल—माता ! कृष्ण बडी जल्दी ही सुहृदगणो के साथ क्रीडा करता है ॥७२॥२०॥

श्रीकृष्ण—(आनन्दपूवक मन ही मन मे) अहो ! इसका मनोभाव कैसे वदल गया ? ॥७३॥

श्रीयशोदा—बेटा मधुमङ्गल ! सत्य है सत्य। ललिता आदि गोप बालिकाए भी मुझे यही कहा करती है। मै तो बालको से हृद प्राय हो रही हू ॥७४॥

श्रीनन्दराज—कुटुम्बिनि। गोकुल मे कोई इसके अनुरूप बालिका दीखती है जिस से इसका विवाह करदू ? ॥७५॥

यशोदा—अज्ज, दुद्धमुहस्स वच्छस्स दाणि को क्खु उव्वाहाओसरो।
[आर्य, दुग्धमुखस्य वत्सस्येदानीं क खलु उद्वाहावसर] ॥७६॥

मधुमङ्गल—(अपवार्य) वअस्स, सच्च दुद्धमुहोऽसि जदुद्धलुद्धाइ गोवकिसोरीसहस्साइ तुज्झ मुह पिअन्ति। [वयस्य ! सत्य दुग्धमुखोऽसि यद्दुग्धलुब्धानि गोपकिशोरीसहस्राणि तव मुख पिबन्ति] ॥७७॥

(कृष्ण स्मित करोति)

श्रीनन्द—वत्स, पश्य पश्य—

अहह कमलगन्धेरत्र सौन्दर्यवृन्दे
विनिहितनयनेय त्वन्मुखेन्दोर्मुकुन्द।
कुचकलशमुखाभ्यामम्बरवनोपमम्बा
तव मुहुरतिहर्षाद्वर्षति क्षीरधाराम् ॥७८॥२१॥

(इति कृष्णमालिङ्ग्य सानन्दम्)

जितचन्द्रपरागचन्द्रिकानलदेन्दीवरचन्दनश्रियम्।
परितो मयि शैत्यमाधुरीं वहति स्पर्शमहोत्सवस्तव ॥७६॥२२॥

श्रीयशोदा—आर्य ! इस दूध-पीते बालक के विवाह का समय हो गया है क्या ।७६॥

मधुमङ्गल—(धीरे से) सखे ! सचमुच तुम तो दुग्धमुख हो, इसलिए दुग्धमुग्ध हजारो गोपकिशोरिया तुम्हारे मुख का पान (चुम्बन) किया करती है॥ ७७॥

(श्री कृष्ण मुस्कराते है)

श्रीनन्दराज—बेटा ! देखो, तुम्हारी माता तुम्हारे कमलगन्धभरे समस्त सौन्दर्यमय अङ्गो मे तुम्हारे मुखचन्द्र के प्रति ही अपने नयन लगाए हुए है। मुकुन्द ! यह अतीव आनन्दित होकर कुच कलशो से वक्षस्थल के वस्त्र को भिगोती हुई निरन्तर दूध की धारा प्रवाहित कर रही है॥७८॥२१॥

(श्री कृष्ण को हर्षपूर्वक आलिंगन करते है)

हे पुत्र ! तुम्हारा स्पर्श महोत्सव कर्पूरचूर्ण, चान्दनी, लाल कमल तथा चन्दन से भी सर्वाधिक मेरे लिए शीतल-माधुरी प्रदान करता है ॥७६॥२२॥

श्रीकृष्ण —तात, बुभुक्षाकृष्टमपि मत्प्रतीक्षया स्वयं स्तम्भे गोकदम्बकम् । तन्निवर्तेतां तत्रभवन्तौ ॥८०॥

श्रीनन्द —यथाह वत्स । (इति सस्नेह कृष्णमवलोकयन्सभार्यो निष्क्रान्त) ॥८१॥

श्रीकृष्ण —(पुरोऽवलोक्य)

सुगन्धौ माकन्दप्रकरमकरन्दस्य मधुरे
विनिस्यन्दे बन्दीकृतमधुपवृन्दं मुहुरिदम् ।
कृतान्दोलं मन्दोन्नतिभिरनिलैश्चन्दनगिरे-
र्ममानन्दं वृन्दाविपिनमतुलं तुन्दिलयति ॥८२॥२३॥

राम —श्रीदामन्, पश्य पश्य—

वृन्दावनं दिव्यलतापरीतं लतास्तु पुष्पस्फुरिताग्रभाज । पुष्पाण्यपि स्फीतमधुव्रतानि मधुव्रताश्च श्रुतिहारिगीता ॥८३॥२४॥

श्रीकृष्ण—पिता जी ! भूख से स्वयं व्याकुल होते हुएभी मेरी इन्तजार में समस्त गौए स्तम्भित हो रही हैं। अत आप दोनो घर जाइये॥८०॥

श्रीनन्दराज—पुत्र ! जैसे तुम कहो । ॥८१॥

[यह कहकर श्रीनन्दराज स्नेहपूर्वक श्रीकृष्ण को देखते हुए श्री यशोदा जी के साथ वहा से चले जाते हैं ।]

श्रीकृष्ण—(सामने देखकर) अहो मधुमङ्गल ! देख, देख—

यह श्री वृन्दावन आम के वृक्षो के मुकुलो (गुच्छो) से मधुर सुगन्ध को प्रवाहित कर मुग्ध हुए मधुकरो को बारम्बार वशीभूत कर रहा है और मलयाचल की मन्द मन्द समीर मे आन्दोलित होकर यह मुझे अतिशय आनन्दित कर रहा है ॥८२॥२३॥

श्रीबलराम ! देखो, देखो—

यह श्रीवृन्दावन दिव्यलताओ से परिवेष्टित हो रहा है, लताए अग्रभाग से पुष्पो से लदी हुई हैं, पुष्पो पर भँवरे बैठे हैं तथा वे कानो को सुख करने वाला गान कर रहे हैं ॥८३॥२४॥

श्रीकृष्ण —सखे मधुमङ्गल, भवद्विधानामासत्तिशंसिभिर्वंशीगीतैरानन्दयामि वृन्दाटवीवास्तव्यान् । (इत्यधरे वेणु विन्यस्यति) ॥८४॥

राम —(साश्चर्यम्) हन्त, परस्परविपर्यस्तस्वभावानामपि भावाना धर्मविपर्यय पश्यत ॥८५॥

जातस्तम्भतया पयासि सरिता काठिन्यमापेदिरे
ग्रावाणो द्रवभावस्वलनत साक्षादमी मार्दवम् ।
स्थैर्यं वेपथुना जहुर्दुरगाज्जाड्य द्गति जङ्गमा
वशीं चुम्बति हन्त यामुनतटीक्रीडाकुटुम्बे हरौ ॥८६॥२५॥

मधुमङ्गल—हीं ही अच्चरिअम् ।
पउरदरगलन्दच्छीरकल्लोलिणीहिं
णअकुसुमलदाए हन्त सेअ कुणन्ती ।
पिविअ महुरवशीणादपोऊसपूर
फुरइ गरुअसोक्खत्थम्भिदा घेणुपत्ती ॥८७॥२६॥

श्रीकृष्ण—मित्र मधुमङ्गल ! अब मैं तुम सब के आने की सूचना देने वाली वशीध्वनि के द्वारा सव वृन्दावन वासियो को आनन्दित करता हू । ८४॥(यह कहकर वे वशी को अधर पर धारण कर वजाते हैं ।)

श्रीबलराम—(चकित होकर) अहो ! परस्पर विरोधी स्वभाव के होते हुए भी ये सव अपने प्रतिकूल स्वभाव वालो मे अपने धर्म को समर्पण कर रहे हैं और उनके धर्म को स्वय ग्रहण कर रहे हैं—देखो,देखो-॥८५॥

आहा ! यमुना तट पर अनेक क्रीडा करते हुए श्रीकृष्ण वशी को चुम्वन कर रहे है-वशी ध्वनि को सुनते ही सब नदियो का जल स्तम्भित होकर कठिनता को प्राप्त हो गया है और पाषाण द्रवित होकर स्पष्टत: कोमलता को प्राप्त हो रहे हैं। सव स्थावर वारम्वार कम्पित होकर चलायमान और जगम स्थावरो के धर्म को ग्रहण कर स्थिर हो रहे हैं । ८६॥२५॥

मधुमङ्गल—अहो आश्चर्य ! महा आश्चर्य !! मधुर वशी ध्वनि रूप अमृत का पान कर समस्त गौए महान सुख का अनुभव कर स्तम्भित हो रही हैं , इनके स्तनों से प्रचुर दूध की धारा स्रवित होकर, नवीन कुसुम लताओ को सिंचित कर रही है ॥८७॥२६॥

[ही ही आश्चर्यम् ।
प्रचुरतरगलत्क्षीरकल्लोलिनीभि र्नवकुसुमलतानां हन्त सेकं कुर्वती ।
पीत्वा मधुरवंशीनादपीयूषपूरं स्फुरति गुरुसौरभ्यस्तम्भिता धेनुपङ्क्तिः ॥]
॥८७॥२६॥

(इति कृष्णं हस्तेन चालयन्) भो पिअवअस्स, कीस णिब्भरं गव्वाएसि । एदाए च्चेअ वेणुजादीए एसा उन्मादिआ पइदी । एत्थ उण णिमित्तमेतं क्खु तुमम् ।

[भो प्रियवयस्य, कस्मान्निर्भरं गर्वायसे । एतस्या एव वेणुजातेरेषोन्मादिका प्रकृतिः । अत्र पुनर्निमित्तमात्रं खलु त्वम्] ॥८८॥

(आकाशे)

रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्वन्मुहुस्तुम्बुरुं
ध्यानादन्तरयन्सनन्दनमुखान्विस्मापयन्वेधसम् ।
औत्सुक्यावलिभिर्बलिं चटुलयन्भोगीन्द्रमाघूर्णय-
न्भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः ॥८९॥२७॥

रामः—(सहर्षम् ऊर्ध्वमवलोक्य स्वगतम्) कथं मेघान्तरितोऽयं सुरर्षिः पद्ममुपवीणयामास । ९०॥

(ऐसा कहकर श्रीकृष्ण को अपने हाथ से हिलाते हुए मधुमङ्गल फिर कहता है) हे प्रिय मित्र ! तू किस लिए गर्व कर रहा है ? यह सब उन्मादिका शक्ति वेणुजाति की है, तू तो केवल निमित्त मात्र ही है ॥८८॥

[आकाश में]

वंशी ध्वनि से मेघ अवरुद्ध हो गये, स्वर्ग में रहने वाले गन्धर्व आश्चर्य-चकित हो उठे, सनक सनन्दनादि मुनिजन का ध्यान छूट गया, ब्रह्मा विस्मित हो गए, बलिराज उत्सुकतावश अधीर हो उठा, भोगीन्द्र अनन्त देवतागण चक्करा गए, इस प्रकार ब्रह्माण्ड को भेद कर यह वंशी-ध्वनि सर्वभाव मे भ्रमण करने लगी ॥८९॥२७॥

श्रीबलराम—(हर्षपूर्वक ऊपर की ओर देखकर मन ही मन मे)देवर्षि नारद मेघों मे छिपकर कैसे वीणा पर गान कर रहे है ? ॥९०॥

(पुनराकाशे कलकल.)

मधुमङ्गल.—(ऊर्ध्वमवलोक्य सभयम्) अब्बम्हण्णं अब्बम्हण्णम् । भो भो, पलाअम्ह पलाअम्ह । [अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम् । भो भो, पलायामहे पलायामहे] ॥६१॥

श्रीदामा.—वाउल, किति णिरग्गलं पलवसि । [वातुल, किमिति निर्गल प्रलपसि] ॥६२।

मधुमङ्गल —(ऊर्ध्वमवलोक्य सभयम्) अरे मुक्ख गोआलिआ, किं ण पेक्खसि । एसो समारूढहंसो णग्गेण भुअङ्गधारिणा केणवि वेदालेण सद्धं चउम्मुहो को वि जक्खो रक्खसो वा आअच्छदि । (पुनर्वीक्ष्य सोत्कम्पम्) हो माणहे, एदे अ अच्छीहिं पूरिदसव्वङ्ग कपि दाणअं अग्गेकदुअ अवरे असुरा गअणं आक्कमन्दि । ता सकेमि हदकसस्स किकरा हुविस्सन्दि । [अरे मूर्ख गोपाल, किं न पश्यसि । एष समारूढहंसो नग्नेन भुजङ्ग धारिणा केनापि वेतालेन सार्ध चतुर्मुख कोऽपि यक्षो राक्षसो वागच्छति । हो मन्यामहे, एते चाक्षिभि पूरितसर्वाङ्ग कमपि दानवमग्रेकृत्य अपरेऽसुरा गगनमाक्रमन्ति । तच्छङ्क हतकसस्य किंकरा भविष्यन्ति] ॥६३॥ (इति सत्रास कृष्णकक्षान्तरे शिरस्तिरयति)

[आकाश मे पुन कल-कल शब्द होता है]

मधुमङ्गल—(ऊपर की ओर देखते हुए भयभीत होकर) हम अवध्य है, हमे मत मारो, हम भाग जाते है भाग जाते है ॥६१॥

श्रीदाम—अरे बावरे ! क्यो अनर्गल प्रलाप कर रहा है ?॥६२॥

मधुमङ्गल—(ऊपर की ओर देखकर भय युक्त) अरे मूर्ख ग्वाल ! तू क्या नही देखता है, हस पर चढा हुआ चार मुखो वाला जाने कोई यक्ष है या राक्षस, सर्पो को धारण करने वाले किसी नग वेताल के साथ आ रहा है । (उस तरफ फिर देखकर कापते हुए) अहो ! मुझे ऐसा लगता है, सर्व अगो मे जिस के नेत्र ही नेत्र लगे हुए है, ऐसे किसी दानव को आगे करके अन्यान्य असुरगण आकाश मे आक्रमण कर रहे है । मैं समझता हूँ मरे कस के सेवक होगे ॥६३॥

कृष्ण —(स्वगतम्) कथमेते वेणुनादमाधुरीभिराकृष्टा पयोद-वीथीमवगा न्ते दिशामधीशा ॥६४॥ (इति पुनर्वेणु क्वणयति)

मधुमङ्गल —(वलोक्य सोच्छ्वासमात्मगतम्) एदे दुट्ठदाणआ वअस्सस्स वेणुसद्दमेत्तेण विम्हला भविअ सज्झसेण मुज्झन्ति। ता जीइदो म्हि। (इति साटोप परिक्रम्य प्रकाशम्) रे रे दुट्ठा असुरा, चिट्ठध चिट्ठध। एसो ह सावेण चावेण वा तुम्हाण मुण्डाइ खण्डेमि। [एते दुष्टदानवा वयस्यस्य वेणुशब्दमात्रेण विह्वला भूत्वा साध्वसेन मुह्यन्ति। तज्जीवितोऽस्मि। रे रे दुष्टा असुरा ! तिष्ठत तिष्ठत। एषोऽह शापेन चापेन वा युष्माक मुण्डानि खण्डयामि] (इति दण्डमुद्यम्यमुहुरूर्ध्व कूदति)। ६५॥

राम —(विहस्य) वयस्य, मैव ब्रवी। एतौ भगवन्तौ हरहिर-ण्यगर्भौ। सव्यतश्चामी पुरदरादयो वृन्दारका ॥६६॥

(यह कहकर भयभीत होकर मधुमङ्गल अपना सिर श्रीकृष्ण की बगल मे छिपा लेता है)

श्रीकृष्ण—(मन मे) क्या ये दिग्पाल ही वेणु की मधुर ध्वनि से खिंचे हुए मेघ पथ से चले आ रहे है ? ॥६४॥ (यह कहकर फिर वशी वजाते हैं।)

मधुमङ्गल—(देखकर लम्बी सास छोडते हुए मन मे) ये सब दुष्ट दानव कृष्ण की वशी ध्वनि मात्र से व्याकुल होकर भय से मुग्ध हो रहे है। चलो जान बची। (ऐसे कहकर दर्प के साथ घूम कर प्रकाश करते हुए) अरे रे दुष्ट दानवो ! रुक जाओ, रुक जाओ, मैं अभी शाप और चाप से तुम्हारे मस्तक काटे देता हू ॥६५॥ (यह कहकर लाठी को ऊचा उठाकर मधुमङ्गल बार बार ऊचा कूदने लगता है)।

श्रीबलराम—(जोर से हसते हुए) मित्र ! ऐसा मत कहो, ये तो दोनो भगवान् महादेव और ब्रह्मा हैं और इनकी बाई तरफ इन्द्रादि देवता हैं ॥६६॥

मधुमङ्गलः—सुट्ठु (समाश्वस्य) भो ! जाणन्तेण च्चेअ मए एदं पडिहसिदम् । तदो तुम्हेहिं क्खु रक्खसबुद्धीए भीलुएहिं पलाइदुं पउत्तम् । [सुष्ठु । भोः, जानतैव मयेदं परिहसितम् । ततो युष्माभिः खलु राक्षस बुद्धया भीरुभिः पलायितुं प्रवृत्तम्] ॥९७॥

श्रीकृष्ण—(स्मित्वा) हंहो देवानांप्रिय. निजामेव जाल्मतां तेषु संक्रामयसि ॥९८॥

रामः—पश्यत पश्यत ।

अष्टाभिः श्रुतिपुटकैर्नववैणवकाकलीं कलयन् ।
शतधृतिरपि धृतिमुक्तो मरालपृष्ठे मुहुर्लुठति ॥९९॥२८॥

(आकाशे पुनर्वीणागीतिः)

उदिते हरिवक्त्रेन्दौ वेणुनादसुधामुचि ।
हन्त रुद्रसमुद्रेण स्वमर्यादा विलङ्घिता ॥१००॥२९॥

मधुमङ्गल—ठीक (ठण्डी सास लेकर) आहा ! मैंने ये सब जानते हुए ही परिहास किया था । तुम सब भीरू भागना चाह रहे थे इन्हें राक्षस समझ कर ॥९७॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कराकर) वाह रे देवप्रिय ! (अर्थात् पशु) अपनी मूर्खता हमारे पर थोप रहा है ? ॥९८॥

श्रीबलराम—देखो, देखो—

आठों कानों से वेणु की नवीन-ध्वनि सुन ब्रह्मा जी अधीर होकर हंस की पीठ पर बारम्बार लोट-पोट हो रहे हैं ॥९९॥२८॥

[आकाश में फिर श्री नारद जी वीणा बजाते है]

आहा ! वेणुनादरूप अमृत वर्षणकारी श्रीकृष्ण मुख-चन्द्र के उदित होने पर श्री महादेव रूप समुद्र ने तो अपनी मर्यादा ही उलंघन कर डाली, —नाचने लगे ॥१००॥२९॥

रामः—

सोत्कण्ठं मुरलीकलापरिमलानाकर्ण्य घूर्णत्तनो-
रेतस्याक्षिसहस्रतः सुरपतेरश्रूणि सस्रुर्भुवम् ।
चित्रं वारिधरान्विनापि तरसा यैरद्य धारामयै-
र्दूरात्पश्यत देवमातृकमभूद्वृन्दाटवीमण्डलम् ॥१०१॥३०॥

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्) पुराणानाममीषां पुरस्ताद्विहारे संकुचन्ति मे चेतोवृत्तयः । तदग्रे यामि । (इति तरूणामन्तरमासाद्य प्रकाशम्) सखे मधमङ्गल, पश्य माधवीयां वनमाधुरीम् ॥१०२॥

क्वचिद्भृङ्गीगीतं क्वचिदनिलभङ्गाशिशिरता
क्वचिद्वल्लीलास्यं क्वचिदमलमल्लीपरिमलः ।
क्वचिद्धाराशाली करकफलपालीरसभरो
हृषीकाणां वृन्दं प्रमदयति वृन्दावनमिदम् ॥ १०३॥३१॥

श्रीबलराम—देखो, उत्कण्ठा सहित मुरली की अमृतमय ध्वनि-वलाप को सुन कर इन्द्र मुग्ध हो गया है । उसके सहस्र नेत्रों से अश्रु धाराएं पृथ्वी पर गिरने लगी हैं । कैसा आश्चर्य ! दूर से देखने से ऐसा लगता है कि मेघो के विना भी इस धारा प्रवाह से आज श्री वृन्दावन मण्डल वर्षा से प्लावित हो देवमातृक[1] प्रदेश होरहा है । १०१॥३०॥

श्रीकृष्ण—(मन में) इन सब बड़े लोगों के आगे विहार करने में मेरी मनोवृत्ति सकुचित हो रही है, इस लिए आगे चलता हूँ । (यह सोच कर वृक्षों के मध्य जाकर कहते है—) मित्र मधुमङ्गल! देख देख श्रीवृन्दावन की वसन्ती माधुरी को ॥१०२॥

कहीं तो भँवरे गुंजार रहे हैं, कहीं शीतल समीर बह रही है, नाच रही हैं कहीं लताएं, छा रही है कहीं मोतिया की निर्मल सौरभ । कहीं *अनारों के फूटने से रस धारा प्रवाहित हो रही है, अहो ! यह श्रीवृन्दावन* समस्त इन्द्रियों को आनन्दित कर रहा है ॥१०३॥३१॥

१- 'देवमातृक' वह प्रदेश कहलाता है जो नदि के जल पर नहीं वर्षा के जल पर ही निर्भर रहता है—यानी बारानी इलाका ।

52866

मधुमङ्गल —भो वअस्स, एदा पदुट्ठभङ्गभअंकरिए किं मे कोदूहलं तुज्झ बुन्दाटईए। अहं क्खु चउव्विहेहिं अण्णेहि सव्विन्दिअहारिणीं गोउलेसरीए रसवइं ज्जेव्व दट्ठूण रज्जेमि। [भो वयस्य, एतत्प्रदुष्टभङ्गभयकर्या किं मे कौतूहलं तव वृन्दाटव्या। अहं खलु चतुर्विधैरन्नैः सर्वेन्द्रियहारिणीं गोकुलेश्वर्या रसवतीमेव दृष्ट्वा रज्यामि] ॥१०४॥

श्रीकृष्ण —वयस्य, वन्दस्व वृन्दाटवीमेव। स्फुटमस्याः पुराणवल्लरीभिरपि तवाभीष्टं फलमुल्लासयितुं समर्थ्यते ॥१०५॥

मधुमङ्गल —भो पिअवअस्स! तुमं सच्चवादित्ति सव्वलोएहिं भणिज्जसि। ता इमस्स तुज्झ वअणस्स मए परीच्छा कादव्वा। (इत्यञ्जलिं बध्वा) भो वल्लरीओ, एसोहं वन्दामि। बुहुक्खिदो मे वअस्सो, ता देन्तु खण्डलड्डुआइं।। भो प्रियवयस्य! त्वं सत्यवादीति सर्वलोकैर्भण्यसे, तदेतस्य तव वचनस्य मया परीक्षा कर्तव्या। भो वल्लर्य, एषोऽहं वन्दे। बुभुक्षितो मे वयस्य, तद्दीयन्ता खण्डलड्डुकानि] ॥१०६॥

(प्रविश्य मोदकपूर्णपात्रहस्ता पौर्णमासी)

मधुमङ्गल—हे सखे! दुष्ट भ वरो से भयावनी इस तुम्हारी वृन्दाटवी से मेरे लिए क्या कुछ आनन्द मिल सकता है?— मैं तो चतुर्विध[२] व्यजनों द्वारा समस्त इन्द्रियों को लुभाने वाली माता-यशोदा की पाकशाला को देखते ही सुखी होता हू।॥१०४॥

श्रीकृष्ण—मित्र! श्रीवृन्दावन की वन्दना कर। अपने मे प्रस्फुट होने वाली प्राचीन लताओं से भी यह श्रीवृन्दावन तुम्हारी मनोवाञ्छा को पूर्ण करने मे समर्थ है ॥१०५॥

मधुमङ्गल—हे प्रिय मित्र! सब लोग तुम को सत्यवादी कहते है, इसलिए आज मुझे तुम्हारे वचनो की परिक्षा करनी है। (*यह कहकर मधुमङ्गल दोनों हाथ जोड़कर कहता है—*)'*हे लताओ! मैं आपकी वन्दना* करता हू। मेरा मित्र कृष्ण भूख से आतुर हो रहा है। तुम इसे चीनी के लड्डू प्रदान करो ॥१०६॥

२- चर्व्य(चबाये जाने वाले) चोष्य (चूसे जाने वाले), लेह्य (चाटे जाने वाले) एव पेय (पीये जाने वाले)—चतुर्विध व्यजन कहलाते है।

पौर्णमासी—चन्द्रानन कृष्ण! गृहाण रसज्ञामोदकानमून्मोदकान् ॥१०७॥

रामः—(सस्मितम्) वयस्य ! दृष्टा जरद्वल्लरीवदान्यता ? ॥१०८॥

पौर्णमासी—संकर्षण ! जरद्बल्लवीवदान्यतेति भण्यताम् ॥१०९॥

श्रीकृष्णः—आर्ये ! केयं जरद्बल्लवी ? ॥११०॥

पौर्णमासी—चन्द्रमुख ! मुखरा ॥१११॥

श्रीकृष्णः—तया किमकाण्डे खण्डलड्डुकानि समर्पितानि ॥११२॥

पौर्णमासी—नप्त्री तावदेतया अभिमन्योः पाणौ परिणायिता । तदुत्सवाभिरूपः समुदाचारोऽयमनुसस्रे ॥११३॥

श्रीकृष्णः—केयं नप्त्री ॥११४॥

पौर्णमासी—राधाभिधाना काचिदानन्दकौमुदी ॥११५॥

[इतने में लड्डुओं का थाल हाथ मे लेकर पौर्णमासी प्रवेश करती है]

पौर्णमासी—हे चन्द्रमुख कृष्ण ! रसना को तृप्त करने वाले इन लड्डुओं को ग्रहण करो ॥१०७॥

श्रीबलराम—(मुस्कराते हुए) सखे ! देखी है प्राचीन बल्लरियों (लताओं) की वदान्यता ? ॥१०८॥

पौर्णमासी—बलराम ! पराचीन वल्लवी (गोपी) की वदान्यता—ऐसा कहो ॥१०९॥

श्रीकृष्ण—आर्ये ! कौन सी वह प्राचीन गोपी ?॥११०॥

पौर्णमासी—चन्द्रमुख ! मुखरा ॥१११॥

श्रीकृष्ण—उसने कैसे अचानक खण्ड के लड्डुओं को भेजा ? ॥११२॥

पौर्णमासी—उस मुखरा ने अपनी दोहत्री का अभिमन्यु के साथ विवाह कर दिया है। उस आनन्द उत्सव के उपलक्ष्य में ये भेजे हैं ॥११३॥

श्रीकृष्ण—उस की दोहत्री कौन ? ॥११४॥

पौर्णमासी—राधा नाम वाली, अनिर्वचनीय आनन्द ज्योत्स्नारूप॥११५

श्रीकृष्ण—(सरोमाञ्चम् स्वगतम्) श्रुत नूनमम्बयो सवादे शश्वदस्या सौष्ठवम् (इति कम्पमानो व्रीडा नाटयति) ॥११६॥

पौर्णमासी—(स्वगतम्) कृष्णं विलक्षमवेक्ष्य नूनं राम सव्याजमसौ सव्यत प्रयाति ॥११७॥

श्रीकृष्ण—(पुनरात्मगतम्) विक्रिया सगोपयितु प्रसङ्गान्तरमङ्गीकुर्याम् । (प्रकाशम्) आर्ये ! अद्य खलु मधुवासरे त्वयापि काचिन्महोत्सवलक्ष्मीरलङ्क्रियताम् । पश्य जरद्वल्लीश्रेणीरिय फुल्ला पल्लविता च ॥११८॥

पौर्णमासी—(सस्मितम्) नागर, तवैव महोत्सवानामवसरोऽय सवृत्त । यदत्र पुष्पाणा पल्लवानाञ्च तृष्णया बल्लवाना विलासिन्य समेष्यन्ति ॥११९॥

श्रीकृष्ण - (सस्मित तिर्यगवेक्ष्य) आर्ये, तत किम् ? ॥१२०॥

श्रीकृष्ण—(रोमाचित होकर मन मे) निश्चय ही मैंने माता रोहिणी और यशोदा की परस्पर बात-चीत मे निरन्तर उस राधा के सौन्दर्य की चर्चा सुनी है (यह कहकर पुलक्ति हुए परन्तु शर्मा गए)। ॥११६॥

पौर्णमासी—(मन मे) कृष्ण को शर्माता हुआ देख बलराम छलपूर्वक बाई ओर को जा रहा है ॥११७॥

श्रीकृष्ण—(फिर मन मे) राधा नाम कहने सुनने मे जो पुलक-विकार उदय हो उठा है— इसे छिपाने के लिए दूसरी बात चलानी चाहिये । (स्पष्ट बोले)—आर्ये ! आज वसन्त के दिन तुम भी कोई महोत्सव-शोभा सम्पादन करो । देखो,सब प्राचीन लताए भी पुष्पित और पल्लवित हो रही हैं॥११८॥

पौर्णमासी—(मुस्कराते हुए) नागर ! तुम्हारे ही महोत्सवो का अब अवसर है। पुष्पो और फलो को लेने के लिए गोप-रमणिया अब यहा आया करेंगी ॥११९॥

श्रीकृष्ण—(मुस्करा कर टेढी नजर से देखते हुए) आर्ये ! फिर क्या होगा ? ॥१२०॥

पौर्णमासी—(विहस्य) विलासिन्, स्ववासनानुसारतोऽन्यथा मा शङ्किष्ठा । परमेवमभिप्रायास्मि । ततस्तासां शून्येषु सद्मसु सखिभिस्ते सुखमपहर्तव्यानि गव्यानि ॥१२१॥

श्रीकृष्ण—धूर्ते ! किं परिहस्यते । पश्य, कोमलमञ्जरीमवचिन्वतीनां बल्लवीनां मण्डलेन खण्डितानि मे वृन्दाटवीशाखिविटपानि । तदेतास्ते निवारणीया ॥१२२॥

पौर्णमासी—मोहन ! नव्यस्तबकोत्तंसिना भवतैव समुल्लासितोऽस्य कुसुमेषुरागो बल्लवीनाम् । ता कथमितो निवार्यन्ताम् ? ॥१२३॥

श्रीकृष्ण—(स्मित्वा) अयि बलाकावलक्षकेशि ! कथोपक्रमादत्र मेव पन्थानमधिरूढासि । यदपराधिकास्वपि बल्लवीषु पक्षपातं न मुञ्चसि ॥१२४

पौर्णमासी—सुन्दर ! सम्प्रति सराधिकाः खलु बल्लव्य कथमपरा-

पौर्णमासी—(हसकर) विलासि ! अपनी वासनानुसार और कोई आशङ्का मत कर । मेरा तो अभिप्राय यह है कि उनके यहा आजाने पर उनके सूने घरो मे तुम्हारे सखा जाकर सुखपूर्वक दही माखन चुरा सकेंगे ॥१२१॥

श्रीकृष्ण—धूर्ते ! क्या परिहास करती हो ? देखो, कोमल कोमल मञ्जरियो को चुनने वाली गोपियो ने वृंदावन के वृक्षो की शाखाओ को तोड डाला है, तुम को उन्हे रोक देना चाहिये ॥१२२॥

पौर्णमासी—मोहन ! तुम्हारे ही सिर पर नवीन पुष्प गुच्छों को देखकर अपने को भी उन्ही से सजाने के लिए गोपियो को पुष्पों मे अनुराग पैदा हुआ है । (पक्षान्तर मे—तुम्हे देखकर ही गोपियो मे कन्दर्प-आवेश पैदा हुआ है ।) फिर उनका ऐसा करने से तुम क्यो रोकते हो? ॥१२३॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कराते हुए) अरी बगलो की भांति सफेद केशो वाली ! बात के आरम्भ मे ही क्यो टेढा पथ अपना रही हो ? वे गोपिकाए अपराधिका (अपराधी) है, (पक्षान्तर मे राधिका-रहित हैं—उनके साथ राधिका नहीं है) तो भी तू उनका पक्षपात नही छोडती ? ॥१२४॥

पौर्णमासी—सुन्दर ! अब वे गोपिकाए सराधिका (श्रीराधा के

धिका सन्तु । तेन ते प्रियस्य पुन्नागस्यापि सुमनःस्तेयं हठेन करिष्यन्ति ।।१२५

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्) हन्त, कथ मनोहारिणी सैव दैवात्पुनरावर्त्तते राधिकावार्त्ता ! ।।१२६ ।

मधुमङ्गल—(स्वगतम्) कहं राहीत्ति णाममेत्तेण उन्मणाएदि एसो ? (प्रकाशम्) भो वअस्स ! मा क्खु इमाए उवरि निब्भरं सतिण्णो होहि । [कथ राधेति नाममात्रेणोन्मनायते एष. ? भो वयस्य, मा खल्वेतस्या उपरि निर्भर सतृष्णो भव] ।।१२७।।

श्रीकृष्ण.—(सप्रणयरोषम्) धिग्वाचाल ! कुत्राहं सतृष्णः ।।१२८।।

मधुमङ्गल —भो मा कुप्प । सरसाए, मनोहरालीए उवरित्ति भणामि । [भो मा कुप्य, सरसाया मनोहराल्या उपरीति भणामि] ।।१२९।।

श्रीकृष्णः—सखे, भ्रान्तोऽसि । नेमानि मनोहराख्यानि, किंतु मौत्तिका-ख्यानि लड्डुकानि ।।१३०।।

सहित) है, अपराधिका कैसे ? वे तुम्हारे प्रियतम पुन्नाग वृक्ष के फूलो का जबरदस्ती हरण करेंगी ।।१२५।।

श्रीकृष्ण—(मन मे) हाय ! फिर कैसे अकस्मात् उस मनोहारिणी राधा की बात चल पडी ? ।।१२६ ।

मधुमङ्गल—(मन मे) पता नही राधा के नाम लेने मात्र से क्यो यह उत्कण्ठित हो उठता है ? (स्पष्ट कहता है—) हे सखे ! तुम उस के ऊपर अतिशय लालायित मत होवो ।।१२७।।

श्रीकृष्ण—(प्रेमयुक्त क्रोध से) अरे वाचाल ! तुम्हे धिक्कार । मैं किस पर लालायित हो रहा हू ?।।१२८।।

मधुमङ्गल—मुझ पर क्रोध मत करो, मैं तो सरस मनोहर लड्डुओ के ऊपर कह रहा हू। (पक्षान्तर मे-सरस मनोहर रमणियो के ऊपर कह रहा हूँ) ।।१२९।

श्रीकृष्ण—मित्र ! तू चक्कर मे पड रहा है । ये मनोहराख्य (मनोहर नाम वाले) लड्डू नही है—ये हैं मौक्तिकाख्य (मौक्तिक नाम वाले)।।१३०।।

मधुमङ्गलः—(विहस्य) पिअवअस्स, ण क्खु अहं भमिसीले राहाचक्के वट्टामि, कुदो भमिस्सम् ? [प्रियवयस्य ! न खल्वहं भ्रमिशीले राधाचक्रे वर्त्ते, कुतो भ्रमिष्यामि ?] ॥१३१॥

पौर्णमासी—(स्वगतम्) सत्यं परिहस्यते बटुना, यदेष भावोद्वृराचेतोवृत्तितया वैलक्ष्यभागमिलक्ष्यते तदद्य, पूर्णकामास्मि । (प्रकाशम्) सुन्दर ! कृतमत्रोत्कण्ठया। सा विष्णुपदवीथीसचारिणी राधा नृलोके केन लभ्यताम् ॥१३२॥

श्रीकृष्ण —(सस्मित विष्णुपदवीथीमवेक्ष्य राममनुसर्पन्) आर्य! व्यतीतेयं मध्याह्नमर्यादा । तत कालिन्दीतीरेऽवतीर्य समापयन्तु भवन्तः पशूनां पानीयतृष्णाम्। स्वादयन्तु च स्वादूनि लड्डुकानि। मया तु सुहृत्तमाभ्यां श्रीदामसुबलाभ्यां सह मुहूर्त्तमग्रतो विश्रमितव्यम् । १३३॥

(रामः सखिभिः सह निष्क्रान्त.)

पौर्णमासी—(स्वगतम्) मयापि प्रतिच्छन्दस्य सिद्धिमवधारयितुं

मधुमङ्गल—(हसकर)प्यारे मित्र!मैं उस घुमा देने वाले राधा-चक्कर मे नही पडा हू, घूमूंगा कहा ?॥१३१॥

पौर्णमासी—(मन मे) यह मधुमङ्गल ठीक परिहास कर रहा है। क्योंकि राधा-भावोदय से श्रीकृष्ण के चित्त की वृत्तियो मे विलक्षणता दीखती है इसलिए आज मेरी कामना पूर्ण हो गई है। (स्पष्ट कहती है)- सुन्दर ! इस विषय मे तुम उत्कण्ठित मत होओ, आकाश मे विचरने वाली राधा को नृलोक मे कौन प्राप्त कर सकता है?॥१३२॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कान पूर्वक आकाश की ओर देखकर श्रीबलराम के निकट जाते हुए) हे आर्य ! मध्याह्न का समय हो गया है, इसलिए कालिन्दी के तट पर जाकर आप गौओ की प्यास बुझवाओ और इन मधुर लड्डुओ का भी भोजन कीजिए। मैं तो यहा पहले श्रीदाम एवं सुबल सखाओ के साथ एक मुहूर्त भर विश्राम करना चाहता हू ॥१३३॥

[श्री बलराम सखाओं के साथ चले जाते हैं]

पौर्णमासी—(मन मे) मुझे भी चित्रपट की सिद्धि के लिए जाना चाहिये ॥१३४॥ (यह सोचकर वह श्रीकृष्ण को आशीर्वाद देकर चली

गन्तव्यम् । (इति कृष्णमभिनन्द्य परिक्रामति) ॥१३४॥

श्रीकृष्णः–(पदान्तरे स्थित्वा) सखे श्रीदामन्, किं दृष्टपूर्वा तेज गदपूर्वा राधा ? ॥१३५।

(श्रीदामा सलज्जस्मितं मुखमवाञ्चयति)

सुबलः—वअस्स, दिट्ठपुव्वेत्ति किं एत्तिअं भणासि। णं इमस्स वहिणी क्खु एसा। [वयस्य, दृष्टपूर्वेति किमेतावद्भणसि। ननु एतस्य भगिनी खलु एषा] ॥१३६॥

श्रीकृष्णः—तदेहि। क्षणमत्र कदम्बसंबाधे रोधसि निविश्य राधानुधावनादुद्वेगि चेतो वंशीवादनविनोदेनान्यतः क्षिपामि ॥१३७॥

(इति निष्क्रान्तः)

पौर्णमासी—(परिक्रम्य पुरः पश्यन्ती सानन्दम्) कथमित एव वयस्या विहस्यमाना विक्रीड़ति मे वत्सेयं राधिका ? (इति लतान्तरे स्थित्वा) ॥१३८॥

बलादक्ष्णोर्लक्ष्मीः कवलयति नव्यं कुवलयं
मुखोल्लासः फुल्लं कमलवनमुल्लङ्घयति च।

जाती है।)

श्रीकृष्ण—(दूसरे स्थान पर जाकर) मित्र श्रीदाम ! तुमने कभी जगत् में अपूर्वरूपवती उस राधा को देखा है ? ॥१३५॥

[श्रीदाम शर्माकर मुस्कराते हुए मुँह नीचे कर लेता है]

सुबल—कृष्ण ! तुमने राधा को कभी देखा है—यह बात श्रीदामा से कैसे पूछ रहे हो ? वह तो इसकी बहन है ॥१३६॥

श्रीकृष्ण—अच्छा आओ, इन कदम्बों की घनी छाया के नीचे बैठकर राधा-चिन्ता में उद्विग्न मन को वंशी वादन रूप आनन्द में दूसरी ओर लगाता हूँ ? (यह कह कर चले जाते हैं) ॥१३७॥

पौर्णमासी—(घूम कर आगे देखकर आनन्द सहित) आहा ! सखियों के साथ हंसती हुई मेरी बेटी राधा यहां कैसे खेल रही है ? (यह कह कर एक लता के नीचे बैठकर)॥१३८॥

दशां कष्टामष्टापदमपि नयत्याङ्गिकरुचि-
विचित्रं राधायाः किमपि किल रूपं विलसति ॥१३६॥३२॥

तदेतयोर्निर्मलनर्मगोष्ठीप्रतिबन्धं परिहरन्ती वीरुन्निरुद्धेनाध्वना विशाखां यामि ॥१४०॥

(इति निष्क्रान्ता)

(ततः प्रविशति ललितयानुगम्यमाना राधिका)

श्रीराधिका—हला ललिदे, किं करेदि अज्जिआ? [हला ललिते किं करोति आर्या? ॥१४१॥

ललिता—सहि! तुह सुय्यदेअस्स पूआकिदे एसा तमालतले वेदिअं णिम्मादि। [सखि, तव सूर्यदेवस्य पूजाकृते एषा तमालतले वेदिका निर्माति] ॥१४२॥

श्रीराधिका—(पुरोऽवलोक्य) हला ललिदे, सङ्केमि सा च्चेअ एसा वुन्दाडई जाए माहुरी तुए पुणो पुणो मम वण्णीअदि। [हला ललिते, शङ्के, सैवेषा वृन्दाटवी, यस्या माधुरी त्वया पुनः पुनर्मम वर्ण्यते] ॥१४३॥

आहा! श्री राधा के नेत्रों की शोभा नवीन कमल की शोभा को वरवश ग्रास कर रही है, मुख की शोभा विकसित कमलवन का उल्लंघन कर रही है, अङ्गों की शोभा स्वर्ण छटा को भी लज्जित कर रही है, इस राधा का विचित्ररूप कैसा अनिर्वचनीय विलास कर रहा है ॥१३६॥३२॥

इस लिए राधा एवं कृष्ण इन दोनों की निर्मल नर्म गोष्ठी में रुकावट न डालकर लताओं से आवृत मार्ग द्वारा विशाखा के पास चलती हू (यह कह कर पौर्णमासी चली जाती है) ॥१४०॥

[इसके बाद ललिता के साथ उसके पीछे पीछे चलती हुई श्रीराधा प्रवेश करती हैं]

श्रीराधिका—हे ललिते! आर्या पौर्णमासी क्या कर रही है?॥१४१॥

ललिता—सखि! तुम्हारी सूर्यदेव की पूजा के लिए तमालवृक्ष के नीचे वेदिका बना रही है ॥१४२॥

श्रीराधिका—(सामने देखकर) हे ललिते! मालूम होता है, यह वही वृन्दावन है, जिसका माधुर्य तुम मेरे आगे बार बार वर्णन किया करती हो ॥१४३॥

ललिता—हला ! सा ज्जेव्व एसा कण्हस्स लीलारक्खवाडिआ। [हला, सा एव एषा कृष्णस्य लीलावृक्षवाटिका] ॥१४४॥

श्रीराधिका—(सौत्सुक्यमात्मगतम्। अहो महुरत्तणं दोण्णं अक्खराणम्। (प्रकाशम्) सहि, कस्स त्ति भणासि। [अहो मधुरत्व द्वयोरक्षरयो। सखि, कस्येति भणसि ?] ॥१४५॥

ललिता—(साकूतस्मितम्) हला ! भणामि कण्हस्स त्ति हला, भणामि कृष्णस्येति ॥१४६॥

श्रीराधिका—(पुन स्वगतम्) हन्त ! जस्स णामावि रामाचित्तं इत्थ मोहेदि, सो क्खु कीदिसो वा णामि त्ति। (इति सावहित्थ प्रकाशम्) हला, इमाइं णिउञ्जावरि पुञ्जिदाइ गुञ्जाफलाइ विइणिस्सम्। [हन्त, यस्य नामापि रामाचित्तमित्थ मोहयति स खलु कीदृशो वा नामीति ? हला, इमानि निकुञ्जोपरि पुञ्जितानि गुञ्जाफलानि विचेष्यामि] ॥१४७॥

ललिता—(सपरिहास सस्कृतेन)

देह ते भुवनान्तरालविरलच्छायाविलासास्पद
मा कौतूहलचञ्चलाक्षि ! लतिकाजाले प्रवेश कृथा।

ललिता—हा सखि ! यह वही श्रीकृष्ण का लीला-कानन है ॥१४४॥

श्रीराधिका—(उत्कण्ठा पूर्वक मन मे) अहो कैसा माधुर्य इन दोनो अक्षरो का ? (स्पष्ट कहती हैं) सखि ! तू किस का नाम ले रही है ?॥१४५॥

ललिता—(अभिप्राय सहित मुस्करा कर) राधे ! मैं कहती हू कृष्ण का नाम ॥१४६॥

श्रीराधिका—(फिर मन मे) अहो ! जिस का नाम ही सुन्दरियो के चित्त को इस प्रकार विमोहित करने वाला है, न जाने वह स्वय नामी कितना सुन्दर होगा ? (भाव को छिपाते हुए स्पष्ट कहती है)—ललित ! चलो निकुञ्जो मे लग समग्न गुञ्ज फलो को चयन करे गी ॥१४७॥

ललिता—(परिहास करते हुए) हे कौतूहल चञ्चलनयने ! तुम्हारा शरीर त्रिभुवन मे अलभ्य शोभा का विलास भवन है, इसलिए तुम लता जाल मे प्रवेश मत करो। यहा अञ्जनराशि के सदृश मनोहर स्पर्शालं

नव्यामङ्गनपुञ्जुलरुचिः कुञ्जेचरी देवता
कान्तां कान्तिभिरङ्किताभिह वने निःशङ्कमाकर्षति ॥१४८॥३३

श्रीराधिका—(किंचिद्भीतेव परावृत्य सनर्मस्मितम्) सहि ललिदे, ताए देअदाए णूणं तुमं आअड्ढिदासि, ज एदं जाणासि। [सखि ललिते, तया देवतया नून त्वमाकृष्टासि यदिदं त्व जानासि] ॥१४९॥

ललिता—(विहस्य) हला! मं कीस एसा आअट्ठदु। ण क्खु अह तुमं विअ कन्तोहिं अङ्किदा। [हला, मा कस्मादेपाकर्षतु ? न खल्वहं त्वमिव कान्तिभिरङ्किता] ॥१५०॥

(नेपथ्ये वंशीध्वनिः)

श्रीराधिका—(निशम्य सचमत्कार स्वगतम्)अम्महे ! इमस्स मोहणत्तणं सद्दस्स। (इति वैवश्य नाटयति) [अमम्हे अस्य मोहनत्वं शब्दस्य] ॥१५१॥

ललिता—(विलोक्य स्वगतम्) हुं ! एसा कोमलाङ्गी कुरङ्गी पढमं जाले णिवड़िदा। [हुं, एषा कोमलाङ्गी कुरङ्गी प्रथम जाले निपतिता] ॥१५२॥

कोई कुंजविहारी देवता रहता है, जो नि.शङ्क होकर इस वन में शोभनाङ्गी नवीन कान्ता को आकर्षण कर लेता है ॥१४८॥३३॥

श्रीराधिका—(थोड़ी डर कर पीछे हटकर, परिहास युक्त मुस्कराते हुए)—सखि ललिते ! तुझ को उस देवता ने निश्चय हो आकर्षित किया है, तभी तुम यह सब बात जानती हो ॥१४९॥

ललिता—(हस कर) मुझे क्यो देवता आकर्षण करेगा ? मैं तुम्हारी तरह सुन्दरी थोड़ी हू ॥१५०॥

[पर्दे के पीछे वंशीध्वनि होती है]

श्रीराधिका—(सुन कर चमत्कृत हो मन मे) आहा! इस ध्वनि में यह कैसी मोहनी शक्ति ! (यह कहकर बेसुध हो जाती हैं) ॥१५१॥

ललिता—(यह देखकर मन ही मन मे) हां यह कोमलाङ्गी हरिणी पहली ही बार जाल में फसी है ॥१५२॥

राधिका—(प्रयत्नेन धैर्यमालम्ब्य स्वगतम्) अवि णाम ण सद्दा मिअपूर उग्गिरन्त जण पेक्खिस्सम् ? [अपि नाम एन शब्दामृतपूरमुद्गिरन्त जन प्रेक्षिष्ये] ॥१५३॥

ललिता—(उपसृत्य) हला राहे अत्थि मदुवरि तुह वीसद्धबुद्धी ? [हला राधे, अस्ति मदुपरि तव विश्रद्धबुद्धि ?] ॥१५४॥

राधिका—हला ! कीस एव्व भणासि ? तुम जेव्व तत्थ पमाणम् । [हला, कस्मादेव भणसि । त्वमेव तत्र प्रमाणम्] ॥१५५॥

ललिता—कधेदु पिअसही किंत्ति अकाण्डे विवसा असि तुमम् । [कथयतु प्रियसखी किमित्यकाण्डे विवशासि त्वम् ?] ॥१५६॥

राधिका—(सलज्जम् सस्कृतेन)

नाद कदम्बविटपान्तरतो विसर्पन्-
को नाम कर्णपदवीमविशन्न जाने ।
हा हा कुलीनगृहिणीगणगर्हणीया
येनाद्य कामपि दशा सखि ! लम्भितास्मि ? ॥१५७॥३४॥

ललिता—हला ! एसो मुरलीरओ । [हला, एप मुरलीरव] ॥१५८

श्रीराधिका—(यत्न पूवक धीरज धारण कर मन ही मन म)—क्या मैं इस ध्वनि अमृतप्रवाहकारी व्यक्ति को देख सकूगी ? ॥१५३॥
ललिता—(निकट आकर) ओ राधे! तुम्ह मुझ पर विश्वास है?॥१५४॥

श्रीराधिका—अहो ! यह कैसे कह रही हो ? तुम स्वय ही इसका प्रमाण हो ॥१५५॥

ललिता—प्रिय सखि ! कहो फिर, तुम विना कारण ऐसी विवश क्या हो रही हो ? ॥१५६॥

श्रीराधिका—(शर्माती हुई) ललिते ! मैं कुछ कह नहीं सकती हू, कदम्ब वृक्ष से अचानक किसी एक ध्वनि ने मेरे कानो म प्रवेश कर लिया, हाय ! हाय !! उससे मैं आज एक ऐसी विचित्र अवस्था को प्राप्त हो गई हू, जो कुलीन स्त्रियो के लिए निन्दनीय है ॥१५७॥३४

ललिता—सखि ! यह तो मुरली-ध्वनि थी ॥१५८॥

राधिका—(सव्यथं संस्कृतेन)

अजडः कम्पसंपादी शस्त्रादन्यो निकृन्तनः।
तापनोऽनुष्णताधारः को वाऽयं मुरलीरवः ? ॥१५६॥३५॥

(इत्युद्वेगं नाटयन्ती) हला ! णाहं मुरलीणाअस्स अणहिण्णा। ता अलं विप्पलम्भेण। फुड़ं एसो केण वि महाणाअरेण कोवि मोहणमन्तो पढीअदि। [हला, नाहं मुरलीनादस्यानभिज्ञा। तदलं विप्रलम्भेन। स्फुटमेष केनापि महानागरेण कोऽपि मोहनमन्त्रः पठ्यते] ॥१६०॥

(प्रविश्य चित्रपटहस्ता विशाखा)

विशाखा— (राधामवधारयन्ती स्वगतम्) दाणिं अण्णादिसी एसा लक्खीअदि। ता णूणं कण्हस्स वंसिआए डंसिदा। होदु। पुच्छिस्सम्। [इदानीमन्यादृशी एषा लक्ष्यते। तन्नूनं कृष्णस्य वंशिकया वंशिता। भवतु, प्रक्ष्यामि] (इत्युपसृत्य प्रकाशम् संस्कृतेन) ॥१६१॥

क्षौणीं पङ्किलयन्ति पङ्कजरुचोरक्ष्णोः पयोबिन्दवः
श्वासास्ताण्डवयन्ति पाण्डुवदने दूरादुरोजांशुकम्।

श्रीराधिका—(व्यथा पूर्वक) यह हिम तो थी नही परन्तु कम्पा देने वाली थी, शस्त्र के बिना ही काट देने वाली ! आग के बिना ही जला देने वाली ! यह कैसी मुरली-ध्वनि ? ॥१५६॥३५॥

(उद्वेग प्रकाशित करते हुए) मैं मुरली-ध्वनि से अनभिज्ञ नहीं हू, मुझे धोखे मे डालने का क्या प्रयोजन ? स्पष्ट है कि कोई महानागर पढ़ रहा है किसी मोहन-मन्त्र को ॥१६०॥

[इतने मे चित्र पट्ट हाथ में लिए विशाखा प्रवेश करती है]

विशाखा—(श्रीराधाजी को ध्यान पूर्वक देखकर मन ही मन में) इस की तो यह दूसरी दशा दीखती है, निश्चय ही यह श्रीकृष्ण की वंशी द्वारा डसी गई है। ठीक है, पूछती हूं [यह सोचकर निकट आती है] ॥१६१॥

—हे पाण्डुमुखी ! तुम्हारे कमल सदृश नेत्रों से अश्रुधारा बहकर पृथ्वी को पंकिल कर रही है, तुम्हारा श्वास दूर से ही वक्षस्थल के वस्त्र

मूर्तिं दन्तुरयन्ति संततममी रोमाञ्चपुञ्जाश्च ते
मन्ये माधवमाधुरी श्रवणयोरभ्यासमभ्यायया ॥१६२॥३६॥

राधिका—(अनाकर्णितकेनैव सोत्कम्पम्) ललिदे ! पुणो वि एसो सो जेव्व कोवि सद्दो विक्कमदि। [ललिते, पुनरप्येष स एव कोऽपि शब्दो विक्रमते] ॥१६३॥

ललिता—(संस्कृतेन)

एष स्थैर्यभुजङ्गसङ्घदमनासङ्गे विहङ्गेश्वरो
व्रीड़ाव्याधिधुराविधूननविधौ तन्वङ्गि धन्वन्तरिः।
साध्वीगर्वभराम्बुराशिचुलुकारम्भे तु कुम्भोद्भवः
कालिन्दीतटमण्डलेषु मुरलीतुण्डाद्ध्वनिर्धावति ॥१६४॥३७॥

राधिका—सहि ! जादा मह हिअए कावि गुरुई वेअणा। ता गदुअ सुविस्सम्। [सखि, जाता मम हृदये कापि गुर्वी वेदना। तद्‌गत्वा स्वप्स्यामि] ॥१६५॥

विशाखा—हला राहे, तुह वेअणाविद्धंसणं किंपि एदं ओसहं मह

को नृत्य करा रहा है, पुलकावलि तुम्हारे शरीर को मानो कण्टकाकीर्ण बना रही है, हे राधे ! जान पड़ता है श्रीमाधव की माधुरी तुम्हारे कानों में पड़ गई है ॥१६२ ३६॥

श्रीराधिका—(अनसुनी सी करते हुए काँपती हुई) हे ललिते ! फिर कोई उसी प्रकार का शब्द सुनाई दे रहा है ॥१६३॥

ललिता—हे कृशाङ्गि ! (इस शब्द को साधारण मत समझो) यह रमणियों के धीरज रूप सर्प को शमन करने में गरुड़ के समान है, लज्जा-रूप व्याधि-भय नाश करने में धन्वन्तरि है, तथा साध्वी युवतियों के गर्व रूप समुद्र को शोषण करने में अगस्त्य के तुल्य होकर यमुना तट विहारी मुरलीवदन—श्रीकृष्ण से ही आ रहा है ॥१६४॥३७॥

श्रीराधिका—सखि ! मेरे हृदय में बड़ी वेदना हो रही है, मैं तो जाकर सोती हूं ॥१६५॥

विशाखा—राधे ! तुम्हारी वेदना को मिटाने वाली औषधि, यह

हत्थे वट्टदि । 'ता सेवेहि णम् [हला राधे, तव वेदनाविध्वंसन किमप्येतदौषध मम हस्ते वर्त्तते । तत्सेवस्वैनम् ।] ॥१६६॥

राधिका—विसाहे, एहि । अङ्गणोवकण्ठे फुल्लकण्णिआरमण्डलीच्छाअं अज्झासिअ पेक्खम्ह [विशाखे ! एहि अङ्गनोपकण्ठे फुल्लकर्णिकारमण्डलीच्छायामध्यास्य प्रेक्षामहे ।] ॥१६७॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति विदग्धमाधवे वेणुनादविलासो नाम प्रथमोऽङ्कः.

देख, मेरे हाथ मे इसका सेवन कर ॥१६६॥

श्रीराधिका—विशाखे ! आ, आङ्गन के समीपवर्त्ती पुष्प कर्णिकाओ की छाया के नीचे बैठकर इसे देखें ॥१६७॥

[यह कहकर सब चली जाती है]

इस प्रकार श्रीश्यामदास अनुवादित श्रीविदग्धमाधव नाटक का 'वेणुनाद विलास' नामक प्रथम अंक समाप्त हुआ ॥१॥



द्वितीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति नान्दीमुखी]

नान्दीमुखी—आदिट्ठम्हि तत्तहोदीए पौण्णमासीए, जधा—अइ णन्दीमुहि, सुद मए णिब्भरा असुत्थसरीरा मे वच्छा राही। ता गदुअ जाणेहि से तत्तं त्ति। तदो मुहराघरं गमिस्सम्। (इति परिक्रम्य पुरः पश्यन्ती) कधं इध जेव्व कन्दन्ती मुहरा आअच्छइ? [आदिष्टास्मि तत्रभवत्या पौर्णमास्या, यथा—'अयि नान्दीमुखि! श्रुत मया निर्भरा अस्वस्थशरीरा मे वत्सा राधा। तद्गत्वा जानीहि तस्यास्तत्त्वमिति। ततो मुखरागृहं गमिष्यामि कथमित एव क्रन्दन्ती मुखरा आगच्छति?] ॥१॥

(प्रविश्य।)

मुखरा—हद्धी हद्धी। हदम्हि मन्दभाइणी? [हा धिक् हा धिक्, हतास्मि मन्दभागिनी।] ॥२॥

नान्दीमुखी—अज्जे मुहरे, कीस रोअसि? [आर्ये मुखरे! कस्मात् रोदिपि?] ॥३॥

दूसरा-अङ्क

[नान्दीमुखी प्रवेश करती है]

नान्दीमुखी—मुझे देवी पौर्णमासी ने आज्ञा दी कि "हे नान्दीमुखि! मैं ने सुना है कि—मेरी बेटी श्रीराधा का शरीर अस्वस्थ है, तू जाकर उसका हाल पता करके आ, उसके बाद मैं मुखरा के घर जाऊंगी।" (इतना कह घूमकर सामने देखती है) यह रोती हुई मुखरा इधर आ रही है क्या? ॥१॥

[मुखरा प्रवेश करती है]

मुखरा—हाय! हाय धिक्! मैं मन्दभागिनी मारी गई ॥२।

नान्दीमुखी—आर्ये मुखरा! क्यों रो रही हो? । ३॥

मुखरा—(विलोक्य।) वच्छे, राहीसंदावेण ? [वत्से, राधा-संतापेण।] ॥४॥

नान्दीमुखी—केरिसं चेट्ठई राही ? [कीदृशं चेष्टते राधा ?]॥५॥

मुखरा—वच्छे, वाउला विअ किंपि पलवइ। [वत्से, वातुला इव किमपि प्रलपति।] (इति संस्कृतेन।) ॥६॥

क्रूराणामलिनां कुलैर्मलिनया कृत्यं न मे मालया
बालाहं किमु नर्मणस्तव पवं दूरीभव प्राङ्गणात्।
इत्यादीनि दुरक्षराणि परितः स्वप्ने तथा जागरे
जल्पन्ती जलजेक्षणा क्षपयति क्लेशेन रात्रिंदिवम् ॥७॥१॥

नान्दीमुखी—(स्वगतम्।) उपसग्गकिदा ण क्खु एरिसी पलाव-मुद्दा। ता दिट्ठिआ विक्कमिदं एत्थ कण्हविलासेण। [उपसर्गकृता न खल्वीदृशी प्रलापमुद्रा। तद्दिष्टया विक्रान्तमत्र कृष्णविलासेन।] ॥८॥

मुखरा—वच्छे, अहं गदुअ भअवदीं विण्णविस्सम्। तुमं वेदसीकुडगं उवसप्पिअ राहिअं पेच्छ ? [वत्से, अहं गत्वा भगवतीं विज्ञापयिष्यामि। त्वं वेतसीकुञ्जमुपसर्प्य राधिकां प्रेक्षस्व।] ॥९॥

मुखरा—(देखकर) बेटी ! राधा के दुःख में ॥४॥

नान्दीमुखी—क्या हाल है राधा का ? ॥५॥

मुखरा—बेटी ! पागल की तरह वह इस प्रकार प्रलाप कर रही है—॥६॥

"क्रूर भंवरो से छेदी और मलीन यह माला मुझे नही चाहिए मै बाला हू, तू क्या अपनी हंसी करायेगा ? इस प्राङ्गण से दूर चले जा।" इस प्रकार के दुर्वचन, वह राधा, सोती हो या जागती, बोलती रहती है, बड़े कष्ट से दिन-रात काट रही है ॥७॥

नान्दीमुखी—(अपने मन में) इस प्रकार का प्रलाप तो कोई उपद्रव नही है। सौभाग्य से कृष्ण-विलास के निमित्त ऐसा हो रहा है ॥८॥

मुखरा—पुत्री ! मैं पौर्णमासी के पास जाकर उसे सब हाल बताऊंगी, तू वेतसी-कुञ्ज में जाकर राधा को देख। (इतना कहकर दोनों चली जाती है, ॥९॥

(इति निष्क्रान्ते)

(तत प्रविशति सखीभ्यामुपास्यमाना राधा)

राधा—(सोद्वेग स्वगतम्) हृदहिअअ, जस्स पडिच्छन्ददसणमेत्तादो ईरिसी दुल्हसगमा उवत्थिदा दे अवत्था तत्थ वि पुणो राअ वहसि ! [हतहृदय ! यस्य प्रतिच्छन्ददर्शनमात्रत ईदृशी दुल्हसगमा उपस्थिता तेऽवस्था तत्रापि पुना राग वहसि !] ॥१०॥

उभे—हला राहिए, आमयेहिन्तो विलक्खणो दे वेअणाणुबन्धो लक्खीअदि। ता कोस अम्हेसु तत्त ण कधेसि ? [हला राधिके, आमयभ्यो विलक्षणस्ते वेदनानुबन्धो लक्ष्यते। तत्कस्मादस्मासु तत्त्व न कथयसि ?] ॥११॥

[राधिका निश्वस्य वक्त्र व्यावर्तयति]

विशाखा—(पुराऽभिगम्य सस्कृतेन)

चिन्तासततिरद्य कृन्तति सखि स्वान्तस्य किं ते धृति
किंवा सिञ्चति ताम्रमम्बरमतिस्वेदाम्भसा डम्बर ?

[तब ललिता और विशाखा दोनो सखियो द्वारा सेवित श्रीराधा प्रवेश करती हैं]

श्रीराधिका—(उद्वेग पूर्वक अपने मन मे) ओ मेर मन ! जिसके चित्रपट को देखकर तेरी ऐसी दुर्दशा हुई, फिर भी तू उससे प्यार करता है ? ॥१०॥

ललिता-विशाखा—ह राधि ! जिस रोग से तुम विलक्षण वेदना का अनुभव करती दीखती हो, फिर हमे तुम उसका निदान क्यो नही बताती ? ॥११॥

[श्रीराधा जी लम्बी सास छोडकर मुख घुमा लेती हैं]

विशाखा—(सामने आकर) हे राध ! सब चिन्ताओ ने आकर तुम्हारे अन्त करण का धीरज तोड डाला है क्या ? जो पसीने से तुम्हारा लाल वस्त्र भीग रहा है। ह चम्पक-गौरी ! क्या कम्प ने आकर तुम्हारे शरीर की स्थिरता को जबरदस्ती हिला डाला है ? हे सखि ! जोकुछ भी हो

चम्पकाम्पकगौरि लुम्पति वपुस्थैर्यं कथ वा बलात्
तथ्य ब्रूहि न मङ्गला परिजने सगोपनाङ्गीकृति ॥१२॥२॥

राधिका—(सासूयम्) अइ निट्ठुरे विसाहे, तुम एव पुच्छन्ती वि ण लज्जसि ? [अयि निष्ठुरे विशाखे, त्वमेव पृच्छन्त्यपि न लज्जसे ?] ॥१३॥

विशाखा—(सशङ्कम्) हला, कहिंपि अवरद्धम्हि त्ति ण सुमरामि । हला, कहिंचिदप्यपराद्धास्मीति न स्मरामि ।] ॥१४॥

राधिका—अइ णिक्किवे, कीस एव्व भणासि ? सुमरिअ पेक्ख । [अयि निष्कृपे, कस्मादेव भणसि ? स्मृत्वा पश्य ।] ॥१५॥

विशाखा—हला, गरुएण वि पणिहाणेण ण मे सुमरणं होदि । [हला, गुरुणापि प्रणिधानेन न मे स्मरण भवति ।] ॥१६॥

राधिका—उम्मत्ते, गहणे इमस्सिं अच्चाहिदाणलकुण्डे तुम जेव्व मह पक्खेवणी । [उन्मत्ते, गहने एतस्मिन्नत्याहितानलकुण्डे त्वमेव मम प्रक्षेपणी ॥१७॥

विशाखा—हला ? कधं विअ ? [हला ! कथमिव ?] ॥१८॥

तुम, हमारे सामने तथ्य को बताओ, आत्मीयजनो से अपने मन की बात छिपाने से मङ्गल नही होता है ॥१२॥

श्रीराधिका—(निरादर पूर्वक) ओ निष्ठुर विशाखे ! तुम्हे यह पूछते हुए शर्म नही आती ? ॥१३॥

विशाखा—(शङ्का सहित) अहो ! मुझसे तुम्हारा क्या अपराध हुआ ? मुझे तो याद नही ॥१४॥

श्रीराधिका—अरी निर्दयि ! ऐसा क्यो कहती हो, देख याद करके ॥१५॥

विशाखा—राधे ! बहुत सोचने पर भी मुझे तो कुछ स्मरण नही हो रहा ॥१६॥

श्रीराधिका—बावरि ! यहा अति भयानक अग्निकुण्ड मे मुझे फेंकने वाली तू ही तो है ॥१७॥

विशाखा—ओहो ! वह कैसे ? ॥१८॥

राधिका—(सेर्ष्यम्) अइ मिच्छासरले, आलेक्खगदभुअङ्गसङ्गिणि, चिट्ठ चिट्ठ। [अयि मिथ्यासरले, आलेख्यगत भुजङ्गसङ्गिनि ! तिष्ठ तिष्ठ।] (इति सवैवश्य सस्कृतेन) ॥१९॥

वितन्वानस्तन्वा मरकतरुचीनां रुचिरतां
पटान्निष्क्रान्तोऽभूद् धृतशिखिशिखण्डो नवयुवा।
(इत्यर्धोक्ते वाक्स्तम्भ नाटयति)
(सख्यौ सभ्रूभङ्गमन्योन्य पश्यत)

राधिका—

भ्रुवं तेन क्षिप्त्वा किमपि हसतोन्मादितमते
शशी वृत्तो वह्निः परमहह वह्निर्मम शशी ॥२०॥३॥

ललिता—हला, किं एसो सिविणस्स विलासो ? [हला, किमेष स्वप्नस्य विलास· ?] ॥२१॥

राधिका—(सस्कृतेन)

किं स्वप्नस्य विलक्षणा गतिरियं किं जागरस्याथ वा
किं रात्रेरुपसत्तिरेव रभसादह्नः किमह्नाय वा।

श्रीराधिका—(ईर्ष्या पूर्वक) ओ झूठी ! चित्रपट स्थित सर्पो का सङ्ग करने वाली ! ठहर, ठहर,—(यह कहकर विवश होकर कहने लगी)—॥१६॥

जो अपने शरीर से मरकत-मणि समूह की कान्ति विस्तार कर रहा था, मस्तक पर जिसके मोरपुच्छ था, वह नवयुवक जब चित्रपट से बाहर निकला (इतना आधा वाक्य बोलते गला रुक जाता है)

[ललिता-विशाखा भृकुटि का इशारा कर परस्पर देखती हैं]

—और मुसकराते हुए मेरी तरफ कुछ ऐसा अद्भुत कटाक्ष किया, तब से ही मेरी बुद्धि पागल हो गई है और मुझे चन्द्र अग्नि की तरह गरम और अग्नि चन्द्र की तरह शीतल लग रही है ॥२०॥३॥

ललिता—राधे ! कोई स्वप्न की बात है क्या ? ॥२१॥

श्रीराधिका—यह विलक्षण गति मैं ने स्वप्न मे देखी है या जागते

इत्थं श्यामलचन्द्रिकापरिचयस्यन्देन संदीपितै-
रन्तःक्षोभकुलैरहं परिवृता प्रज्ञातुमज्ञाभवम् ॥२२॥४॥

विशाखा—(साकूतस्मित) हला राहे, णूणं एसो दे चित्तविब्भमो जेव्व क्खणिओ। [हला राधे ! नूनमेष ते चित्तविभ्रम एव क्षणिकः ।] ॥२३॥

राधिका—(साम्यसूयम्) अइ अवीसंद्धे, विरमेहि। कीस अप्पणो दोसं झम्पिदुं पउत्तासि ? [अयि अविश्रद्धे, विरम । कस्मादात्मनो दोषमाच्छादयितुं प्रवृत्तासि ?] (इति संस्कृतेन) ॥२४॥

कृतां भक्तिच्छेदैर्घुसृणघनचर्चामधिवहन्-
पुनर्लब्धो लुब्धः प्रियकतरुमूले चटुलधी. ।
लपन्त्याः साक्षेपं न हि न हि न होति स्मितमुखो
हठान्मे दुर्लीलः स किल भुजवल्लीदलमधात् ॥२५॥५॥

ततश्च ।

दरोन्मीलन्नीलोत्पलदलरुचस्तस्य निबिडाद्
विरूढानां सद्यः करसरसिजस्पर्शकुतुकात् ।

मे, रात को देखी कि दिन में ही प्रत्यक्ष देखी है, मैं कुछ भी नहीं जानती हूं, मैं तो उस श्यामल चन्द्रिका की प्रबलधारा मे बही जा रही हूं ॥२२॥४॥

विशाखा—(अभिप्राययुक्त मुसकान पूर्वक) हे राधे ! निश्चय ही तुम्हारी यह चित्तभ्रान्ति क्षणकाल के लिए है ॥२३॥

श्रीराधिका—(ईर्ष्या सहित) ओ अविश्वासिनी ! चुप रह। क्यों अपने दोषों को छिपा रही है ? ॥२४॥

—मैं कदम्ब वृक्ष के नीचे बैठी थी, वह चञ्चल-बुद्धि कामुक मेरी भुजा पर अपनी अंगुली से विचित्र रूप से कुङ्कुम लेप करने लगा। फिर लुब्ध होकर मेरे पास आया और मैं आक्षेप करते हुए न न न करती रही फिर भी उस दुर्लील ने मुस्कराते हुए मेरी भुजाओं को पकड़ लिया ॥२५॥५।

सखि ! उसके बाद अधखुले नीलकमल कान्ति वाले उस लम्पट के करकमल का स्पर्श होते ही मुझे अतिशय कौतुक हुआ और उसके लिए

वहन्ती क्षोभाणां निवहमिह नाज्ञासिषमिदं
क्व वाहं का वाहं चकर किमह वा सखि तदा ॥२६।६॥

(इति वैवश्य नाटयन्ती स्वगतम्) अइ दुट्ठहिअअ मक्कड ! कण्हो वेणविओ सामलकिसोरो त्ति तिएसु पुरिसेसु राअ वहन्तो वि तुम ण लज्जसि। ता दाणि अप्पाणं वावादिअ पामर तुम हदासं करिस्सम्। [अयि दुष्टहृदय मर्कट, कृष्णो वैणविक· श्यामलकिशोर इति त्रिपु पुरुषेपु राग वहदपि त्व न लज्जसे। तदिदानीमात्मान व्यापाद्य पामर त्वा हताश करिष्ये।]

ललिता—हन्त, हदमम्महसचिवस्स वसन्तस्स विप्फुज्जिदेण दूसिदा एदे परिसरा दीसन्ति। ता किं एत्थ सरणम् ? [हन्त, हतमन्मथसचिवस्य वसन्तस्य विस्फूर्जितेन दूपिता एते परिसरा दृश्यन्ते। तत्किमत्र शरणम् ?]

राधिका– (संस्कृतेन)

विक्रीड़न्तु पटीरपर्वततटीसंसर्गिणो मारुता
खेलन्त. कलयन्तु कोमलतरां पुंस्कोकिला काकलीम्।
सरम्भेण शिलीमुखा ध्वनिभृतो विध्यन्तु मन्मानस
हास्यिन्त्या सखि मे व्यथां परममी कुर्वन्तु साहाय्यकम् ॥२६॥७

अनेक क्षोभ करती हुई मैं वेसुध हो गई, फिर मै यह कुछ न जान सकी कि मैं कौन हू और हू कहा ? ॥२६। ६॥

(इतना कहकर व्याकुलतापूर्वक मनमे कहने लगी)—अरे मर्कट सदृश दुष्ट हृदय ! कृष्ण, वेणु-बजैया, तथा श्यामल-किशोर—इन तीनों पुरुषों से अनुराग करते हुए तू लज्जित नही होता ? इसलिए मैं अपने शरीर को नष्ट कर तुझ पामर को हताश करूँगी ॥२७।

ललिता—हाय ! हाय !! दुष्ट कन्दर्प के मन्त्री वसन्त के फूटने से ये सब मार्ग दूषित हो रहे दीख हैं, अब कहाँ जाए ? ॥२८।

श्रीराधिका—सखि ! मलयाचल स्पर्शी वायु विशेष रूप से बहे, कोकिलाएं क्रीडारत होकर सुमधुर ध्वनि करें और मधुकर मधुर ध्वनि गुञ्जार करें—इस प्रकार मेरे मन को घायल कर शीघ्र ही मेरी इस परम वेदना का अन्त करने मे ये सहायता करें, अर्थात् मेरी मृत्यु हो जाय तो इस वेदना से मेरा छुटकारा हो) ॥२६॥७॥

उभे—(सास्रम्) हला, एदाहिं घोरचिन्ताहिं कीस किलिम्मसि ? अम्हेहिं तक्किदं अदिमेत्तदुल्लहो ण क्खु दे हिअअट्ठिदो अत्थो। [हला, एताभिर्घोरचिन्ताभि कस्मात्क्लाम्यसि ? अस्माभिस्तर्कितमतिमात्रदुर्लभो न खलु ते हृदयस्थितोऽर्थ ।] ॥३०॥

राधिका—(निश्वस्य सस्कृतेन)

इयं सखि सुदु साध्या राधाहृदयवेदना।
कृता यत्र चिकित्सापि कुत्सायां पर्यवस्यति ॥३१॥८॥

ता विण्णवेमि इमस्सिं ओसरे जधा सुदिढं एक्कं लदापासं लहेमि तधा सिणेहस्स णिक्किदिं करेध। [तद्विज्ञापयाम्येतस्मिन्नवसरे यथा सुदृढमेकं लतापाशं लभेय तथा स्नेहस्य निष्कृतिं कुरुत।] ॥३२॥

उभे—(सव्यथम्) हला, एवं दारुणं भणन्ती मा क्खु सहीण जीविदं लुम्पेहि। णूणं पच्चासण्णा दे अहिट्ठसिद्धी। [हला, एवं दारुणं भणन्ती मा खलु सखीना जोवितं लुम्प। नूनं प्रत्यासन्ना तेऽभीष्टसिद्धि ।] ॥३३॥

राधिका—सहीओ, ण जाणीध इमाए हदराहीए हिअअदुट्ठत्तणम्

ललिता-विशाखा—(नेत्रों में अश्रु भरकर) इस प्रकार की घोर चिन्ताओं से क्यों अपने दिल को दुःखा रही हो ? तुम विश्वास करो, तुम्हारे हृदय के भाव हमसे छिपे नहीं हैं ॥३०॥

श्रीराधिका—(लम्बा श्वास छोड़ते हुए)—हे सखि ! राधा की हृदय वेदना अत्यन्त दुःसाध्य है, जिसकी चिकित्सा का भी केवल निन्दा में ही पर्यवसान होगा (अर्थात् चिकित्सा से भी मेरा बचना कठिन है अतः मेरी मृत्यु होने पर चिकित्सक की निन्दा ही होगी ॥३१॥८॥

इसलिए मैं कहती हूँ कि इस समय यदि एक मजबूत लता-रज्जु मिल सके तो मुझ पर स्नेह पूर्वक एक उपकार करो। (उस लता रज्जु को गले में बाँधकर मैं अपना जीवन समाप्त कर दूँ) ॥३२॥

ललिता विशाखा—(दुःख पूर्वक) राधे ! ऐसी दारुण बात कहकर अपनी सखियों का जीवन अन्त मत करो। हम तुम्हें विश्वास दिलाती हैं, तुम्हारी मनोवाञ्छा सिद्ध होगी ॥३३॥

श्रीराधिका—सखिओ ! तुम हतभागिनी राधा के हृदय की दुष्टता

जं एवं मन्तेध।[सख्यः, न जानीथ एतस्या हतराधाया हृदयदुष्टत्वम्, यदेवं मंत्रयथ।] ॥३४॥

उभे—कधिदं जेव्व सव्वं पिअसहीए। [कथितमेव सर्वं प्रियसख्या।]

राधिका—णहु णहु, गुरुई लज्जा जेव्व णिवारेदि। [न हि न हि, गुर्वी लज्जैव निवारयति।] ॥३६॥

सख्यौ—हला, अप्पसआसदो वि गुरुओ अम्हेसु तुह सिणेहो लक्खो अदि। ता बहिरङ्गाए लज्जाए को एत्थ अणुराहो? [हला आत्मसकाशातोऽपि गुरुकोऽस्मासु एव स्नेहो लक्ष्यते। तद्बहिरङ्गाया लज्जायाः कोऽत्रानुरोधः?] ॥३७॥

राधिका—(संस्कृतेन)

एकस्य श्रुतमेव लुम्पति मतिं कृष्णेति नामाक्षरं
सान्द्रोन्मादपरम्परामुपनयत्यन्यस्य वंशीकलः।
एष स्निग्धघनद्युतिर्मनसि मे लग्नः सकृद्वीक्षणात्
कष्टं धिक्पुरुषत्रये रतिरभून्मन्ये मृतिः श्रेयसी ॥३८॥९॥

को नही जानती हो, तभी ऐसी सलाह दे रही हो ॥३४॥

ललिता-विशाखा—प्रिय राधा ! तुम अपने हृदय की सब बात कहो न ।३५॥

श्रीराधिका—न, न, मुझे, लज्जा रोक रही है ॥३६॥

सखीगण—हे राधे ! हम से भी अधिक स्नेह किसी में तुम्हारा है क्या ? फिर इस बाहरी लज्जा का अनुरोध क्यों ? ॥३७।

श्रीराधिका—सखिओ ! एक पुरुष के "कृष्ण"—इस नामाक्षर ने मेरे कानों में घुसते ही मेरी बुद्धि लोप करदी और दूसरे एक पुरुष की वंशीध्वनि ने मुझ में प्रगाढ उन्माद पैदा कर दिया तथा तीसरे एक स्निग्ध घनश्याम कान्ति वाले पुरुष का चित्रपट देखते ही वह पुरुष मेरे हृदय में लिपट गया, हाय ! धिक्कार है मुझे, एक तो परपुरुष में, उस पर भी तीन-तीन पुरुषों में मेरी प्रीति ! इससे तो मर जाना अच्छा है ॥३८॥९॥

उभे—(सहर्षम्) हला, कधं तुम्हादिसीणं गोउलसुन्दरीणं गोउलिन्दणन्दणं उज्झिअ अवरम्मिं अणुराओ संभवदि ? ता सुणाहि । एक्को ज्जेव्व सो एसो महाणाअरो कण्हो। [हला, कथं युष्मादृशीनां गोकुलसुन्दरीणामेनं गोकुलेन्द्रनन्दनं उज्झित्वा अपरस्मिन्ननुराग. सम्भवति ? तच्छृणु । एक एव स एष महानागरः कृष्णः ।] ॥३९॥

राधिका—(सोच्छ्वासमात्मगतम्) हिअअ, समस्सस समस्सस. दाणि जादा तुह जीअलोअणिआसलालसा। [हृदय, समाश्वसिहि समाश्वसिहि । इदानी जाता तव जीवलोकनिवासलालसा ।] ॥४०॥

उभे—(संस्कृतेन)

सा सौरभोर्मिपरिदिग्धदिगन्तरापि
वन्ध्यं जनु. सुतनु गन्धफली बिभर्ति।
राधे न विभ्रमभरः क्रियते यदङ्के
कामं निपीतमधुना मधुसूदनेन ॥४१॥१०

नान्दीमुखी—(परिक्रम्य) कधं अग्गदो ज्जेव्व एंसा राही ? (इत्युपसृत्य) जअदु जअदु पिअसही। [कथमग्रत एवैषा राधा ? जयतु जयतु प्रियसखी ।

ललिता विशाखा—(हर्ष पूर्वक) राधे ! तुम जैसी गोकुल-सुन्दरियों का गोकुलराज नन्दनन्दन को छोड़कर और किस मे अनुराग सम्भव है ? सुनो, वह (कृष्ण नाम वाला, वंशी-बजैया तथा श्यामघन कान्ति वाला) एक ही महानागर पुरुष है कृष्ण ॥३९॥

श्रीराधिका—(उच्छ्वास पूर्वक मन मे) अरे हृदय ! आश्वस्त हो, आश्वस्त हो, तुम्हारी इस जीवलोक मे रहने की लालसा पुनः अंकुरित हो उठी है ।।४०।।

ललिता-विशाखा—हे शोभनाङ्गि ! मधुसूदन (भंवरा) मन भर कर मधुपान करते हुए जिसके अक में विहार नही करता, वह चम्पक लता चाहे अपनी गन्ध से सब दिशाओ को क्यों न परिव्याप्त करे, तो भी उसका जन्म निष्फल है। (पक्षान्तर मे—मधुसूदन—श्रीकृष्ण के साथ विना विहार प्राप्त किए तुम्हारा यह सौन्दर्य निष्फल है।) ।।४१।।१०।।

नान्दीमुखी—(घूमती हुई) यह क्या ? राधा मेरे सामने खड़ी है ! (निकट आकर) प्रिय सखी जय हो जय ।।४२।।

राधिका—(सावहित्थम्) सहि कुसलं भअवदीए ! [सखि, कुशल भवत्या ?] ॥४३॥

नान्दीमुखी—तुह उल्लाहत्तणे जादे (इति राधां निभाल्य स्वगतम्) अप्पेक्खिअ च्चेअ मए पढ़मं निट्टङ्किदम्। तधावि पुच्छिस्सम्। [तव उल्लाघत्वे जाते अप्रेक्ष्यैव मया प्रथम निष्टङ्कितम्। तथापि प्रक्ष्यामि।]४४॥ (प्रकाशम् संस्कृतेन)

न मुग्धे वैदग्धीगरिमपरिदिग्धा तव मति-
विरामो नेदानीमपि वपुषि बाल्यस्य वयसः।
कमप्यन्त. क्षोभं प्रथयसि तथापि त्वमथ वा
सखि ज्ञातं वृन्दावनमदनविस्फूर्जितमिदम् ॥४५॥११॥

ललिता—अइ अलिआसङ्किणि, सीदलदक्खिणाणिलहेदुअं कम्पपुलअं पेक्खिअ कीस दुसहं परिवादं देसि ? [अयि अलीकाशङ्किनि, शीतलदक्षिणानिलहेतुकं कम्पपुलकं प्रेक्ष्य कस्मात् दुसहं परिवादं ददासि ?] ॥४६॥

नान्दीमुखी—(सस्मितम् संस्कृतेन)

रोमाञ्च. परिचेप्यते कथमयं नास्माभिरुत्कम्पवान्

श्रीराधिका—(भाव छिपाते हुए) सखि ! तुम्हारा कुशल तो है ॥४३॥

नान्दीमुखी—आपकी कुशलता सुनकर। (इतना कहकर मन ही मन मे) चाहे मैंने अपरोक्ष मे पहले ही जान लिया है, फिर भी तुमसे पूछती हू (स्पष्ट रूप से)—॥४४॥

हे मुग्धे ! तुम्हारी बुद्धि अभी रसिकता राशि मे डूबी नही और न ही अभी तुम्हारा बचपन समाप्त हुआ है, इस लिए हे सखि ! फिर भी तू मनमे इतना क्षोभ क्यो बढा रही है ? मैं जानती हूँ यह वृन्दावन तो मदन द्वारा ही आक्रान्त है। ४५॥११॥

ललिता—मिथ्या आशङ्का करने वाली ! मलयाचल की शीतल वायु से ही राधा मे यह कम्प व पुलक दीख रहे हैं। किस लिए तू असह्य बदनामी लगा रही है ? ॥४६॥

नान्दीमुखी—(मुसकराती हुई) ओ भोलीभाली ! मलयाचल की

दुष्कीर्ति न हि दक्षिणाय मरुते दाक्षिण्यशून्ये वद।
एतन्मन्मथकोटिसंभ्रममरंवैभ्रम्यते सुभ्रुवः
स्वान्ते नागरचक्रवर्तिनयनप्रान्तस्य लीलायितम् ॥४७॥१२॥

ता सच्चं कहेहि। कदा एदाए पच्चक्खीकिदो गोउलाणन्दो ? [तत्सत्यं कथय कदा एतया प्रत्यक्षीकृतो गोकुलानन्दः ?] ॥४८॥

विशाखा—एव्वं ऐदम्। [एवमेतत्।] ॥४९॥

नान्दीमुखी—(संस्कृतेन)

दरविचलितबाल्या वल्लभा बान्धवानां
विहरसि भुवने त्वं पत्युरामोदपात्री।
अहह पशुपरामाकामिनो मोहनत्वं
त्वमपि यदमुनान्तर्बाढ़मुन्मादितासि ॥५०॥१३॥

ता अहं भअवदीं तुवरेदुं गमिस्सम्। [तदहं भगवतीं त्वरयितुं गमिष्यामि।] (इति निष्क्रान्ता) ॥५१॥

वायु को वदनाम मत कर। क्या हम (वायु से होने वाले) पुलक-कम्प को नहीं पहिचानते ? इस सुन्दरी के अन्तःकरण में नागर चक्रवर्ती के नेत्र कटाक्ष-विलास की कोटि-कन्दर्प शोभा घूम रही है ॥४७॥१२॥

इसलिए तू सच बता इसने उस गोकुलानन्द—श्रीकृष्ण को कब देखा है ? ॥४८॥

विशाखा—(नान्दीमुखी के कान में) यह है सब बात ॥४९॥

नान्दीमुखी—हे राधे ! तुम्हारा अभी थोड़ा सा बचपन दूर हुआ है, (पूरा यौवन नहीं आया) तुम अपने बान्धवों की स्नेह पात्री हो और पति को आनन्द देने वाली होकर घर में विहार करती हो, इसलिए तुम्हारे लिए आश्चर्य है और गोपी-वल्लभ श्रीकृष्ण की मोहिनी-शक्ति से तुम्हारा हृदय इतना उन्माद-ग्रस्त हो रहा है ॥५०॥१३॥

अच्छा अब मैं भगवती पौर्णमासी के पास शीघ्रता करने के लिये (तुम्हें श्रीकृष्ण से शीघ्र मिलाने के लिए) जाऊंगी (इतना कहकर नान्दीमुखी चली जाती है) ॥५१॥

राधिका—(विमृश्य संस्कृतेन)

सा कल्याणी कुलयुवतिभिः शीलिता धर्मशैली
द्रागस्माभिः कथमविनयोत्फुल्लमुल्लङ्घनीया ? ॥
(इत्यर्धोक्ते पुनः सोत्कण्ठम्)
हा दृग्भङ्गीपरिमलकलाकर्मठोऽय कथं वा
हातुं शक्यः पशुपनगरीनागरीनागरेन्द्रः ॥५२॥१४॥

(ततः प्रविशति नान्दीमुखीमुखराभ्यामनुगम्यमाना पौर्णमासी)

पौर्णमासी—मुखरे, किमदु साधबाधा तर्किता त्वया राधा ? ॥५३॥

मुखरा—भअवदि, सुणाहि । [भगवति, शृणु ।] (संस्कृतेन)-

अग्रे वीक्ष्य शिखण्डखण्डमचिरादुत्कम्पमालम्बते
गुञ्जानां च विलोकनान्मुहुरसौ सास्रं परिक्रोशति ।
नो जाने जनयन्नपूर्वनटनक्रीड़ाचमत्कारितां
बालायाः किल चित्तभूमिमविशत्कोऽयं नवीनो ग्रहः ॥५४॥१५

श्रीराधिका—(वितर्क करते हुए) कुलवती युवतियों द्वारा आचरित जो कल्याणकारी धर्मशैली है, हमसे भला उसका दृष्ठता पूर्वक कैसे उल्लंघन हो जायेगा ? (इतना कहकर फिर उत्कण्ठा सहित कहती हैं—) परन्तु हाय ! दृग-कटाक्ष विद्या-कला मे अति निपुण उस गोकुल नागरियो के नागरेन्द्र को कैसे छोड़ सकूंगी ? ॥५२॥१४॥

[तब नान्दीमुखी व मुखरा के साथ पौर्णमासी आ पहुचती है]

पौर्णमासी—ओ मुखरा ! क्या राधा की दु.साध्य बाधा पर तुम ने कुछ विचार किया है ? ॥५३॥

मुखरा—भगवति ! सुनो—

यह राधा मोरपुच्छ को देखकर काम्पने लगती है और गुञ्जाओ को देखते ही बार बार नेत्रों में जलभरकर चीत्कार करती है । इसलिये न जाने इस राधा के हृदय-स्थल मे अपूर्व नृत्य क्रीड़ा की चमत्कारिता पैदा करते हुए कोई नवीन ग्रह प्रवेश कर गया है ॥५४॥१५॥

पौर्णमासी—(स्वगतम्) सोऽयमुद्दण्डस्य नवानुरागराशेः कोऽपि चण्डिमा। (प्रकाशम्) मुखरे, साधु विज्ञातम्, यदत्र दानवकुलावतंसाः कंसादयो राधामन्विष्यन्ति तेन कोऽप्ययमङ्गनाग्रहो बालामाविवेश ॥५५॥

मुखरा—भअवदि, को एत्थ पड़िआरो ? [भगवति, कोऽत्र प्रतीकारः ?

पौर्णमासी—अपि दानवारेर्दृष्टिरेव ॥५७॥

मुखरा—भअवदि, कुड़िला क्खु जड़िला एदं णाहिणन्दिस्सदि। [भगवति, कुटिला खलु जटिला इद नाभिनन्दिष्यति ।] ॥५८।

पौर्णमासी—मुखरे, सा खलु मद्गिरा संदिश्यताम् यथा—'जटिले, मा शङ्किष्ठाः। कृष्णमात्मविद्ययैव संघटयिष्यामि' इति ॥५६।

(मुखरा नमस्कृत्य निष्क्रान्ता)

पौर्णमासी—(उपसृत्य) वत्से, निजाभीष्टलाभेन कृतार्थीभूया. ॥६०॥

(राधा सावहित्थं प्रणमति)

पौर्णमासी—(अपने मन में) यह उसी मुकुन्द के नवीन अनुराग की ही अपूर्व चञ्चलता है। (स्पष्ट रूप से) मुखरा ! तुम ने ठीक ही समझा है, क्योंकि यहा दानवकुल भूपण कंस आदि राधा की तलाश मे रहते है, इसलिए कोई स्त्रीग्रह इस मे आकर प्रवेश कर गया है ॥५५॥

मुखरा—भगवति ! इसका फिर क्या इलाज ? ॥५६॥

पौर्णमासी-दानवशत्रु कृष्ण की एक निगाह ही इसका इलाज है ॥५७

मुखरा—भगवति ! वह कुटिल जटिला तो यह बात स्वीकार नही करेगी ॥५८॥

पौर्णमासी—मुखरा ! तुम जाकर उसे मेरी तरफ से कह दो "हे जटिले ! तुम किसी बात की शङ्का मत करो, मै आत्मविद्या द्वारा ही कृष्ण का मिलन करा दूगी" ॥५६॥

(मुखरा नमस्कार कर चली जाती है)

पौर्णमासी—(राधा के निकट आकर) पुत्रि ! अपने मनोभाञ्छित को प्राप्त कर कृतार्थ होओ॥६०॥

[श्रीराधा भाव गोपन करते हुए पौर्णमासी को प्रणाम करती है]

पौर्णमासी—(स्वगतम्)

भजन्त्या: सव्रीडं कथमपि तदाडम्बरघटा-
मपह्नोतुं यत्नानभिनवमदामोदमधुरा।
अधीरा कालिन्दीपुलिनकलभेन्द्रस्य विजयं
सरोजाक्ष्या: साक्षाद्वदति हृदि कुञ्जे तनुवनी ॥६१॥१६॥

(पुनर्निरूप्य जनान्तिकम्) हन्त नान्दीमुखि, निर्भरगभीरप्रेमोर्मिनिर्मित-मन. क्षोभा किमप्येषा विचेष्टते । तदियमवधार्यतामनुरागवीरस्य कापि दुर्विबोधगभीरविक्रमवैचित्री ॥६२॥ तथा हि,—

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन्मनो धित्सते
बालासौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः।

पौर्णमासी—(मन में) कमल-लोचना श्रीराधा के हृदय-कुञ्ज मे कालिन्दी-पुलिन-विहारी उन्मत्त गजेन्द्र ने प्रवेश कर अपनी विजय को प्रकाशित किया है। यद्यपि यह लज्जा पूर्वक उसकी डंका ध्वनि को छिपाने का बहुत यत्न कर रही है, तथापि इसकी अभिनव उन्माद जनित आनन्द माधुरी से चञ्चलतायुक्त शरीर रूप कानन ने उस विजय को साक्षात् प्रकट कर दिया है, अर्थात् हृदय मे उत्पन्न श्रीकृष्ण-अनुराग के विकार इसके शरीर पर स्पष्ट प्रकाशित हो रहे है। ६१॥१६॥

(फिर निरूपण पूर्वक हाथ की ओट करके कहती हैं)

—हे नान्दीमुखी ! निरतिशय गम्भीर प्रेम तरङ्गो से आन्दोलित होने के कारण ही मन में क्षुब्ध हुई इस राधा मे ये सब अनिर्वचनीय चेष्टाएं है। इसलिये यह बात पक्की समझ लो कि यह सब अनुरागवीर (कृष्ण) के ही अनूपम दुर्बोध गम्भीर पराक्रम की विचित्रता है ॥६२॥

और एक आश्चर्य देख—

मुनिगण विषयो से मन को हटा कर एक क्षण काल के लिए भी जिस कृष्ण मे इस मन को लगाने की सदा कामना करते है, यह भोली-भाली राधा उस कृष्ण से अपने मन को हटाकर दूसरे दूसरे विषयों मे लगाना चाह रही है, हाय ! योगीगण अपने हृदय मे जिन की थोड़ी सी स्फूर्ति के लिए अनेक यत्न करते है। नान्दीमुखी ! यह मुग्धा राधा उनको

यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं वत पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति ॥६३॥१७

नान्दीमुखी—भअवदि, ईरिसस्स भाअस्स विण्णाणे मूढम्हि।
[भगवति, ईदृशस्य भावस्य विज्ञाने मूढ़ास्मि।] ॥६४॥

पौर्णमासी—वत्से, सत्यमात्थ दुर्गमोऽयं गाढ़ानुरागविवर्त्तः।
श्रूयताम् ॥६५॥

पीड़ाभिर्नवकालकूटकटुतागर्वस्य निर्वासनो
निःस्यन्देन मुदां सुधामधुरिमाऽहंकारसंकोचनः।
प्रेमा सुन्दरि नन्दनन्दनपरो जागर्ति यस्यान्तरे
ज्ञायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तयः ॥६६॥१८॥

तदेहि भावमस्याः परीक्षेवहि। (इत्युपसृत्य) वत्से, किमपि प्रष्टव्यासि ? ॥६७

पतिः प्रेमोदात्तः सुचरितकथा गोकुलपुरे
प्रसिद्धा ते शुद्धे जनिरपि च लक्ष्मीवति कुले।

अपने हृदय से निकालने की इच्छा कर रही है ॥६३॥१७॥

नान्दीमुखी—भगवति ! इस प्रकार के भाव-विज्ञान को समझने में मैं तो मूर्ख हों ॥६४॥

पौर्णमासी—बेटी ! तू सच कहती है, इस गाढ़ अनुराग के चक्कर को समझना बहुत कठिन है। सुनो—॥६५॥

—हे सुन्दरि ! नन्दनन्दन का प्रेम जिस के हृदय में पैदा होता है, उस प्रेम की पीड़ा और मधुरता को केवल वही ही व्यक्ति ठीक ठीक जान सकता है। उस प्रेम में ऐसी पीड़ा है कि वह नवीन सांप की जहर-तीव्रता और अहंकार को चूर-चूर कर घर देती है तथा जब उस प्रेम की आनन्द धारा प्रवाहित होती है। तब वह अमृत के गर्व को खण्डन कर देती है; (इस कृष्ण प्रेम में अतिशय दुख और सुख का एक साथ संमिश्रण है) ॥६६॥१८॥

इसलिए आ हम इस राधा के अनुराग की परीक्षा करें। (इतना कह कर श्रीराधा जी के निकट आती हैं)—पुत्री राधे ! मैं कुछ पूछना चाहती हूं ॥६७॥

तुम्हारा पति अति प्रेमवान है, और तुम भी गोकुल में सुचरित्रा

अपूर्वां कुर्वाणा मतिमिह महासाहसमयीं
सुहृद्भ्यस्त्व लज्जामपि किमिव राधे न भजसि ? ॥६८॥१९

(राधिका कातर्यमभिनीय सलज्ज ललिताकर्णमूले लगति)

ललिता—अज्जे, विण्णवेदि राही । [आर्ये, विज्ञापयति राधा ।]
(इति सस्कृतेन)—

दोषोद्गार त्वमपि कुरुषे हा मयि व्याकुलाया
पादेभ्यस्ते भगवति शपे नापराध्यामि साध्वि ।
पर्णै कर्णोत्पलवलयिभिस्ताड्यमानोऽपि धूर्तो
न श्यामात्मा मम तनुपरिष्वङ्गरङ्ग जहाति ॥६९॥२०॥

पौर्णमासी—(सेर्ष्यमिवालोक्य) मुग्धे किमन्या प्रौढमुद्रा नोद्दण्डयसि ?

राधिका—(सरोषम् सस्कृतेन)

क्रोशन्त्यां करपल्लवेन बलवान्सद्यः पिधत्ते मुख
धावन्त्यां भयभाजि विस्तृतभुजो रुन्धे पुर पद्धतिम् ।

प्रसिद्ध हो, तुम्हारा जन्म लक्ष्मी-सम्पन्न निर्मल कुल मे हुआ है, इसलिए तुम्हारे कुल मे जिस काम को कभी भी किसी ने नही किया है, उसे करने का दुस्साहस तुम्हारी बुद्धि मे कैसे पैदा हुआ ? हे राधे ! क्या तुम अपने बन्धु-बान्धवो मे लज्जिता नही होवोगी ? ॥६८॥१९॥

(यह सुनकर श्रीराधा भयभीत होकर लज्जासहित ललिता के कान मे कुछ कहती हैं)

ललिता—भगवति ! राधे कुछ आप को निवेदन करती है—

हाय ! एक तो मैं पहले ही व्याकुल हो रही हू, उस पर आप भी मुझे दोष दे रही हैं। भगवति ! मुझे तुम्हारे चरणो की शपथ है, इसमें मेरा कुछ दोष नहीं, मैं पतिव्रता ही हू, पत्र-निर्मित कर्णोत्पल द्वारा ताडना पर भी हाय ! वह धूर्त श्याम-विग्रह मेरे अङ्गो को आलिगन किए नही छोडता ॥६९॥२०॥

पौर्णमासी—(ईर्ष्यासहित देखती हुई) कृष्ण को देखकर क्यो मुग्ध हो जाती हो ? उसे प्रौढा रमणी बन कर क्यो नही दण्ड देती हो ? ॥७०॥

श्रीराधिका—माता ! (मैं तुम से क्या कहू ?) मैं यदि चिल्लाती

पादान्ते विलुठत्यसौ मयि मुहुर्दष्टाधरायां रुषा
मातश्चण्डि मया शिखण्डमकुटादात्माभिरक्ष्यः कथम् ।७१॥२१॥

पौर्णमासी—(स्वगतम्) निष्कम्पता बद्धमूलोऽयं प्रेमपलाशी ।७२॥

(प्रकाशम्)

त्वया नीतो वामः फलकमिलदङ्गो मधुरिपुः
सुखाशाभिः क्रीड़ाकुतुकिनि कुतो नेत्रपदवीम् ?
कुकूलाग्निज्वालापटलकटुकेलियंदधुना
दशेयं दन्त त्वां ज्वलयति हिमानीव नलिनीम् ॥७३॥२२॥

राधिका—(कृष्णमुद्दिश्य सोपालम्भमात्मगतम्) संस्कृतेन—

शिशिरय दृशौ दृष्ट्वा दिव्यं किशोरमितीक्षितः
परिजनगिरां विश्रम्भात्त्वं विलासफलाङ्कित ।

हूं तो वह बलवान झट अपने हस्त कमल से मेरे मुख को बन्द कर देता है। यदि मैं भयभीत होकर भागना चाहती हूं तो वह अपनी भुजाओं को फैला कर मेरे आगे का रास्ता रोक लेता है, यदि मैं उसके चरणों मे बार बार पड़ती हूं तो वह मधुरिपु क्रोधित होकर मेरे अधरों का दंशन करता है। हे भगवति ! तुम ही बताओ मैं उस मोरमुकुटधारी से अपनी कैसे रक्षा करूं ? ॥७१॥२१॥

पौर्णमासी—(मन मे) राधा के हृदय में निश्चय ही प्रेम-वृक्ष की जड़े पक्की हो चुकी हैं ॥७२॥

(स्पष्ट कहती है) हे क्रीडा-कौतुकिनी ! तुमने सुख पाने की आशा से चित्रपट मे लिखे उस प्रतिकूल नायक को किस लिए नेत्रों से देखा ? हाय ! हाय ! अ जो तुम्हारी दशा देख रही हूं, इससे ऐसा अनुमान होता है जैसे बर्फ से कमलनी जल जाती है, उसी प्रकार यह (प्रेम की) तुषाग्नि भीतर ही भीतर तुम्हे जला रही है ॥७३॥२२॥

श्रीराधिका—(श्रीकृष्ण को उद्देश्य करते हुए तिरस्कार पूर्वक अपने मन ही मन मे) मैं ने परिवार के लोगों की इस बात पर विश्वास कर लिया कि उस दिव्य किशोर-मूर्त्ति को देखते ही तुम्हारा हृदय-ताप नष्ट हो जायगा एवं लोचन शीतल होंगे और इसलिए मैं ने उसके चित्र-पट को

शिव शिव · यत्नं जानीमस्त्वामवक्रधियो वयं
निविड़वड़वावह्निज्वालाकलापविशशिनम् ॥७४।२३॥

पौर्णमासी—(सस्नेहमालोक्य) वत्से, क्षणमेकान्ते निविश्य पुष्पेषु लेखो निर्मीयताम्, यथायं कृष्णाय स्वसखीभ्यां समर्प्यते ॥७५॥

(राधा सखीभ्यां सह निष्क्रान्ता)

पौर्णमासी—(परिक्रम्य) नान्दीमुखि, कृष्णोऽपि नातिदूरे भविष्यति, यदत्र दक्षिणतो नैचिकीनिकुरम्बस्य हम्बारवाडम्बरोऽयमम्बरमाक्रामति । तदहं स्नानार्थं व्रजामि । ७६॥ (इति निष्क्रान्ते)

(ततः प्रविशति कृष्णः)

कृष्णः—(सोद्वेगम्)

यदवधि तदकस्मादेव विस्मापिताक्षं
नवतडिदभिरामं धाम साक्षाद्बभूव ।
तदवधि चिरचिन्ताचक्रसक्ता विरक्ति
मम मतिरुपभोगे योगिनीव प्रयाति ॥७७॥२४॥

देखा। शिव ! शिव ! मैं भोली-भाली यह कैसे जान पाती कि वह अतिशय ज्वालाराशि को देने वाला है ? । ७४॥२३॥

पौर्णमासी—(स्नेह पूर्वक देखते हुए) वेटी ! एक क्षण एकान्त मे बैठ कर पुष्प दल पर एक पत्र लिखो, जिसे अपनी सखियो के हाथ कृष्ण को भेज दो ॥७५॥

(तब श्रीराधा ललिता-विशाखा सखियो के साथ चली जाती हैं)

पौर्णमासी—(घूमकर) हे नान्दीमुखी ! कृष्ण भी अधिक दूर नही होगे, क्योकि दक्षिण दिशा उत्तम गौओ के हम्वा-रव से आकाश मण्डल पूरित हो रहा है। मैं तो अब स्नान करने जाती हू। (इतना कहकर दोनो चली जाती है) ॥७६॥

[तदनन्तर श्रीकृष्ण प्रवेश करते है]

श्रीकृष्ण—(उद्वेग पूर्वक) जब से अकस्मात् नेत्रो को चमत्कृत करने वाले, विद्युत् के समान मनोरम उस राधे के रूप को मैंने देखा, तब से मेरी वुद्धि चिरकाल के लिए चिन्ता-चक्र में फस गई और योगिनी की तरह अन्य सब विषयो से विरक्त हो गई है। ॥७७॥२४॥

(पुरोऽनुसृत्य स्वगतम्) हन्त, रङ्गणमाल्यमुपनेतुं प्रस्थितो वयस्यः कथं विलम्बते ॥७८॥

(प्रविश्य माल्यहस्तः)

मधुमङ्गलः—कधं अज्ज दुम्मणाएदि पिअवअस्सो ? होदु । पसङ्गदो जाणिस्सम् । [कथ- मद्य दुर्मनायते प्रियवयस्यः । भवतु । प्रसङ्गतो ज्ञास्यामि ।] (इति परिक्रम्य कृष्णं पश्यन् स्वगतम् । संस्कृतेन) ।७६॥

फुल्लप्रसूनपटलैस्तपनीयवर्णा-
मालोक्य चम्पकलतां किल कम्पतेऽसौ ।
शङ्के निरङ्कनवकुङकुमपङ्कगौरी
राधास्य चित्तफलके तिलकीबभूव ॥८०॥२५॥

(इत्युपसृत्य) भो, गेण्ह । [भोः, गृहाण ।] (इति माल्यं निवेदयति) ॥८१॥

कृष्णः—(अनाकर्णितकेनैव)

कनकाद्रिनिकेतकेतकीकलिकाकल्पकलेवरद्युतिः ।
हृदि सा मुदिरालिमेदुरे चपला मां किमलंकरिष्यति ॥८२॥२६॥

—(सामने देखकर मन-मन में) ओहो ! मधुमङ्गल रंगण पुष्प माला लेने गया था, इतनी देर कहां लगा दी ? ॥७८॥

[इतने में माला हाथ में लेकर मधुमङ्गल आता है]

मधुमङ्गल—(मन-मन में) प्रिय सखा कैसे अनमना हो रहा है ? अच्छा, प्रसङ्ग क्रम से पता लग जाएगा ॥७६॥

(यह कहते हुए घूमकर श्रीकृष्ण को देख मन-ही मन में)

विकसित कुसुमों वाली स्वर्णवर्ण की चम्पकलता को देखकर प्रिय मित्र पुलकित हो रहा है, जान पड़ता है निर्मल नवीन कुङ्कुम पङ्क सदृश गौरवर्णा राधा इस के चित्त-पट पर तिलक स्वरूप बन गई है ॥८०॥२५॥

(आगे आकर) प्रिय मित्र ! यह लो । (यह कह कर माला दे देता है) ॥८१॥

श्रीकृष्ण—(अनसुनी करते हुए) सुवर्ण पर्वत जात केतकी कलिका की भांति कान्ति युक्त यह राधा-बिजली मेरी स्निग्ध हृदय मेघ माला पर विराजमान है, अब और क्या वस्तु मुझे अलंकृत करेगी ? ॥८२॥२६॥

मधुमङ्गलः—(स्वगतम्) फलिदं मे तक्केण। (प्रकाशमुच्चैः) भो पिअवअस्स, समुहे विक्कोसन्दं वि कीस म ण पेक्खसि ? [फलितं मे तर्केण। भोः प्रियवयस्य, संमुखे विक्रोशन्तमपि कस्मान्मा न प्रक्षसे ?] ॥८३॥

कृष्णः—(सावहित्थम्) सखे, चम्पकलताया लावण्याकृष्टेन मया नोपदृष्टोऽसि ॥८४॥

मधुमङ्गलः—सच्चं जेव्व भणासि, किंतु सचारिणीए चम्पअलदाए [सत्यमेव भणसि, किंतु संचारिण्याश्चम्पकलतायाः।] ॥८५॥

कृष्णः—सखे, काममसंभाव्यश्चम्पकलतायाः संचारः ॥८६॥

मधुमङ्गलः—वअस्स, क्खणं विरमेदु रङ्कतणम्। उज्जुअं कहेहि कहं सुण्णहिअओसि त्ति ? [वयस्य, क्षणं विरमतु वक्रत्वम्। ऋजुकं कथय कथं शून्यहृदयोऽसीति।] ॥८७॥

कृष्णः—(सस्मितम्) सखे, मालां विना ॥८८॥

मधुमङ्गलः—बालां त्ति भणाहि। [बालामिति भण।] ॥८९॥

कृष्णः—मुधेयं ते विशङ्का ॥९०॥

मधुमङ्गलः—(संस्कृतमाश्रित्य)

मधुमङ्गल—(मन में) मेरा अनुमान सच्चा ही निकला। (स्पष्ट रूप में) हे प्रिय मित्र ! मैं तुम्हारे सामने चिल्ला रहा हूं फिर भी तुम मुझे क्यों नही देख रहे ? ॥८३॥

श्रीकृष्ण—(भाव छिपाते हुए) मित्र ! चम्पकलता के लावण्य में आकृष्ट होने से मैं तुम्हें नही देख पाया हू ॥८४॥

मधुमङ्गल—सत्य कह रहे हो, परन्तु चलती-फिरती चम्पकलता के।

श्रीकृष्ण—मित्र ! चलती-फिरती चम्पकलता मिलना तो असम्भव है।

मधुमङ्गल—मित्र ! थोड़ी देर के लिए टेढापन छोड़ दो, सीधे बोलो, किस लिए निराश-हृदय हो रहे हो ? ॥८७॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कराते हुए) सखे ! माला के विना ॥८८॥

मधुमङ्गल—बाला के विना कहो ॥८९॥

श्रीकृष्ण—यह आशंका व्यर्थ है ॥९०॥

न जानीषे मूर्ध्नश्च्युतमपि शिखण्डं यदखिलं
न कण्ठे यन्माल्यं कलयसि पुरस्तात्कृतमपि ।
तदुन्नीतं वृन्दावनकुहरलीलाकलभ हे
स्फुटं राधानेत्रभ्रमरवरवीर्योन्नतिरियम् ॥६१॥२७॥

कृष्ण —(स्वगतम्) कथं निखिलमेव तर्कितं धूर्तेन ? तदलं प्रतार्य। (प्रकाशम्) सखे, यथार्थमात्थ । तदाकर्ण्यताम् । ॥६२॥

मम राधा निसर्गस्थं प्रतीपमनयन्मनः ।
महाज्यैष्ठीव सहसा प्रवाहं सौरसैन्धवम् ॥६३॥२८॥

मधुमङ्गल —णूणं अच्छीणं दे पच्चक्खीभूदा एसा । [नूनमक्ष्णोस्ते प्रत्यक्षीभूतैषा ।] ॥६४॥

कृष्ण —अथ किम् । सुबलतः सा परिचिवये च (इत्यौत्सुक्यमभिनीय)

भ्रमद्भ्रूवल्लीकं प्रतिदिशमपाङ्गस्य वलनैः
कुरङ्गीभ्यो भङ्गीभरमुपदिशन्तीमिव दृशोः ।

मधुमङ्गल—बन्धो ! तुम्हारे मस्तक से मोरपुच्छ पृथ्वी पर गिर गया है । तुम्हें उसका पता नहीं । तुम्हारे गले मे मैं ने माला डाल दी है, वह भी तुम नहीं जानते । हे वृन्दावन-कुञ्ज लीला विलासी मातंग ! मैं ने निश्चय जान लिया है कि राधा के नेत्र युगल भ्रमरों का ही यह उन्नत प्रभाव है ॥६१, २७॥

श्रीकृष्ण—(मन मे) इस धूर्त ने सब बात कैसे जान ली है ? अब इस से अधिक विवाद करने का कुछ प्रयोजन नहीं है । (स्पष्ट कहते हैं) मित्र ! मैं तुम्हें सच्ची बात बताता हूं, उसे सुनो ॥६२॥

—महा ज्येष्ठी पूर्णिमा के दिन समुद्र मे तूफान आने से जैसे उसका जल गङ्गा की तरफ उलटा प्रवाहित होकर क्षोभ उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार राधा ने मेरे मन की स्वाभाविक गति को क्षुब्ध कर दिया है ॥६३॥२८॥

मधुमङ्गल—निश्चय ही तुम्हारे नेत्रों ने उसे देखा है ॥६४॥

श्रीकृष्ण—क्यों नहीं, सुबल द्वारा उसका परिचय मिला है ॥६५॥

(यह कहकर उत्सुकता प्रकाश करते हुए)—

मित्र ! यह राधा चारों दिशाओं मे विलास विशिष्ट भ्रूलता द्वारा

ततस्तां बिम्बोष्ठीं कलयति मयि क्रोधविकटो
मनोजन्मा पौष्पं धनुरनुपमं सज्यमकरोत् ॥९६॥२९॥

मधुमङ्गलः—अवि णाम संवुत्तं अण्णोण्णदंसणम् । [अपि नाम संवृत्तमन्योऽन्यदर्शनम् ।] ॥९७॥

कृष्णः—नहि नहि ।

तस्याः सखे मुखतुषारमयूखबिम्बे
दूरान्ममाक्षिपदवीमधिरूढमात्रे ।
निर्बन्धतः शपथकोटिभिरम्बयाहं
नीतः क्षणादहह सद्मनि भोजनाय ॥९८॥३०॥

मधुमङ्गलः—वअस्स, चिट्ठन्ति बहुलाओ बल्लवसुन्दरीओ, तहवि कीस तुमं एकाए राहीए णिब्भरं अणुरज्जसि ? [वयस्य, तिष्ठन्ति बहुला बल्लवसुन्दर्यः, तदपि कस्मात्त्वमेकस्यां राधाया निर्भरमनुरज्यसि ?] ॥९९॥

कृष्ण.—सखे, राधायामसाधारणी कापि माधुरी । तथा हि ।

तस्याः कान्तिद्युतिनि वदने मञ्जुले चाक्षियुग्मे
तत्रास्माकं यदवधि सखे दृष्टिरेषा निविष्टा ।

हरिणियों को मानों उपदेश दे रही थी, मैं ने भी अपने दोनों नेत्रों को उस बिम्बोष्ठी के दर्शन में जब लगाया, तब कन्दर्प क्रोधित हो उठा और मेरे प्रति उसने अपना अनुपम पुष्प-धनु तान लिया ॥९६॥२९॥

मधुमङ्गल—क्या तुम दोनों ने एक दूसरे को देखा है ? ॥९७॥

श्रीकृष्ण—नहीं, नहीं, मित्र ! दूर से ही उस के मुखचन्द्र मण्डल पर मेरे नेत्र-युगल केवल पहुंचे ही थे कि उस समय माता आ गई और मुझे कोटि शपथ देकर भोजन कराने घर ले गई ॥९८॥३०॥

मधुमङ्गल—सखे ! यह बता, अनेक सुन्दर सुन्दर गोपरमणियां मौजूद है, फिर भी तुम्हारा मन केवल उस श्रीराधा में ही क्यों अनुरक्त हो रहा है ? ॥९९॥

श्रीकृष्ण—मित्र ! क्या कहूं, राधा में कुछ अनिर्वचनीय माधुरी है, सुन—

आहा ! उस राधा के उज्ज्वल कान्तिमय मुख पर तथा मनोहर नेत्रों पर जब से मेरी दृष्टि गई, मैं तुम से सत्य कहता हूं, तब से चन्द्रमा

सत्य भ्रूमस्तदवधि भवेदिन्दुमिन्दीवरं वा
स्मारं स्मारं मुखकुटिलताकारिणीयं हृणीया ॥१००॥३१॥

मधुमङ्गलः—दसणदो पढम जेव्व तत्थ तुज्झ राओ मए तक्किदो त्थि। ता किंत्ति लावण्णोवाहिओ त्ति भणासि। [दर्शनेन प्रथममेव तत्र तव रागो मया तर्कितोऽस्ति। तत्किमिति लावण्योपाधिक इति भणसि ?] ॥१०१॥

कृष्णः—सखे, सत्यमात्थ। स्वचित्ताभिनिवेशादेव तस्यां कोऽपि महिमोन्नाह प्रतीयते। तथा हि ॥१०२॥

यत्र प्रकृत्या रतिरुत्तमानां, तत्रानुमेयः परमोऽनुभावः।
नैसर्गिकी कृष्णमृगानुवृत्तिर्देशस्य विज्ञापयति प्रशस्तिम् ॥१०३ ३२

(नेपथ्ये)

सहि सारिए, दिट्ठो तुए एत्थ वल्लविन्दणन्दणो। [सखि सारिके, दृष्टस्त्वयात्र वल्लवेन्द्रनन्दन।] ॥१०४॥

और कमलो को याद करके मुझे मुहँ बिगाड देने वाली लज्जा और घृणा आती है ॥१००। ३१॥

मधुमङ्गल—मैं समझ गया हू, केवल पहली बार दर्शन मात्र से ही तुम्हारा ऐसा अनुराग राधा मे उत्पन्न हो उठा है, फिर क्या ? अब उसकी लावण्यता का वर्णन क्यो कर रहा है ? ॥१०१॥

श्रीकृष्ण –मित्र ! मैं सत्य कहता हू, मैं ने अपने चित्त के अभिनिवेश से ही राधा की अतिशय अनुपम महिमा का अनुवाद किया है, सुन—॥१०२

श्रेष्ठ पुरुषो का जहा अपने आप अनुराग बढ उठे, वहा कोई न कोई परम श्रेष्ठ पदार्थ या महत्व का अनुमान कर लेना चाहिये, क्यो कि स्वभावत कृष्णसार मृग जिस देश मे विचरण कर, उस देश की श्रेष्ठता अवश्य अपने आप ही ज्ञात होती है ॥१०३॥३२॥

(पर्दे के पीछे से आवाज आती है)

ओ सखि सारिके ! तुमने क्या यहां व्रजेन्द्रनन्दन को देखा है ?॥१०४

श्रीकृष्णः—सखे, नेदीयानयं सुकुमारीकण्ठध्वनिरुदञ्चति । तदत्र तूष्णीमास्वहे ॥१०५॥

(ततः प्रविशतो ललिताविशाखे)

ललिता—पेक्ख, एसो दिट्ठिआ पुरदो कण्हो । ता उपसप्पम्ह । (इत्युभे तथा कृत्वा) जअदु जअदु गोउलाणन्दो । [प्रेक्षस्व, एष दिष्ट्या पुरतः कृष्णः। तदुपसर्पावः । जयतु जयतु गोकुलानन्दः ।] ॥१०६॥

श्रीकृष्णः—सखि ललिते, शङ्के, मनोहारिकुसुमपत्रमादातुमद्य वृन्दाटवीमध्येऽवतीर्णासि ॥१०७॥

ललिता—विण्णादं वि णूणं आआरेण संगोवेसि जं दादुं त्ति ण भणासि । ता गेण्ह णं कण्णिआरकोरअपत्तम् । [विज्ञातमपि नूनमाकारेण संगोपयसि यद्दातुमिति न भणसि। तद्गृहाणैनं कर्णिकारकोरकपत्रम् ।] (इत्यनङ्गलेख कृष्णकरेऽर्पयति) ॥१०८॥

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्) चेतः, समाश्वसिहि समाश्वसिहि । त्वदभीष्टबीजस्याङ्कुरोऽयमिति शङ्के ॥१०९॥

श्रीकृष्ण—मित्र ! यहा निकट ही किसी सुकुमारी की ध्वनि आ रही है, इस लिए हमे चुपचाप रहना चाहिये ॥१०५॥

[तदनन्तर ललिता-विशाखा प्रवेश करती है]

ललिता—सखि ! देखो, देखो, सौभाग्य वश श्रीकृष्ण सामने ही विद्यमान हैं, चलो इनके निकट चलें । (इतना कहकर दोनों उनके पास आकर कहती हैं)—गोकुलानन्द की जय हो, जय हो ॥१०६॥

श्रीकृष्ण—सखि ललिते ! मैं समझता हू तुम मनोहारी पुष्प-पत्रों को लेने के लिए आज वृन्दावन मे पधारी हो ॥१०७॥

ललिता—जानी हुई बात को भी तुम दूसरे रूप मे छिपाते हो, यो क्यों नही कहते कि देने के लिए आई हो । यह लो कर्णका कुसुम के सुगन्धित पत्र । (इतना कहकर श्रीकृष्ण के हाथ मे अनङ्गलेख अर्पण करती है) ॥१०८

श्रीकृष्ण—(मन-मन मे) अरे मन ! आश्वस्त हो, तसल्ली कर, जान पड़ता है यही पत्र तुम्हारे मनोवाञ्छित बीज का अङ्कुर है ॥१०९॥

मधुमङ्गलः—भोदि ललिदे, किं इमिणा अक्खराणां पत्तेण ? सक्कराए पत्तं समप्पेहि। [भवति ललिते, किमेतेनाक्षराणा पत्रेण । शर्कराणा पत्रं समर्पय।] ॥११०॥

श्रीकृष्णः—सखे, वाचय पत्रम् । कदाचिदेतन्नः कर्णरसायनस्य पात्रीभवेत् ॥१११॥

मधुमङ्गल —भो वअस्स, दिट्ठा तुम्ह गोआलजादीए वदाण्णदा। णं अम्हबम्हणजादिं जेव्व गोरएण वन्दामि, जं तहिं दिअहे जण्णिअबम्हणीहिं चउविहेण अण्णेण भोइदम्ह। [भो वयस्य, दृष्टा युष्मद्गोपालजातेर्वदान्यता। नन्वस्मद्ब्राह्मणजातिमेव गौरवेण वन्दे, यत्तास्मिन्दिवसे याज्ञिकब्राह्मणीभिश्चतुर्विधेनान्नेन भोजिताः स्म.।] (इति लेख वाचयति) ॥११२॥

धरिअ पड़िच्छन्दगुणं सुन्दर मह मन्दिरे तुमं वससि।
तह तह रुन्धसि वलिअं जह जह चइदा पलाएमि॥
[धृत्वा प्रतिच्छन्दगुणं सुन्दर मम मन्दिरे त्वं वससि।
तथा तथा रुणत्सि वलितं यथा यथा चकिता पलाये] ॥११३॥३३॥

श्रीकृष्ण.—सखे, दुरधिगमार्था तावदियं गाथा। तेन पुनर्भण्यताम् ॥११४

मधुमङ्गल—ललिते ! इस अक्षरों के पत्ते से क्या होगा, मिठाई का पत्ता समर्पण कर॥११०॥

श्रीकृष्ण—मित्र ! पढना इस पत्र को, क्या यह हमारे कानों की रसायण का पात्र बनता है ? ॥१११॥

मधुमङ्गल—हे सखे ! मैंने तुम्हारी गोपजाति की यही तो उदारता देखी है। गौरव पूर्वक हमारी ब्राह्मण जाति की वन्दना करते हो, क्योंकि उस दिन भी याज्ञिक ब्राह्मणियों ने हमें चतुर्विध अन्न भोजन कराया था॥११२॥

(यह पढ़कर पत्र पढ़ने लगता है)

—हे सुन्दर ! तुम निष्कपट के रूप में मेरे भवन में निवास करते हो, जैसे जैसे चकित होकर मैं इधर-उधर भागती हूँ, वैसे ही वैसे उधर आकर तुम मुझे रोक लेते हो ॥११३॥३३॥

श्रीकृष्ण—इस पत्र की बात का अभिप्राय मेरी समझ में नहीं आया, इसलिए इसे फिर पढ़ो ॥११४॥

(मधुमङ्गलस्तथा करोति)

श्रीकृष्ण.—(सानन्द स्वगतम्) कुलस्त्रियो हि धर्मभीरवो भवन्ति। तदुपेक्षया भावनिष्ठां निष्टङ्कयामि। (इति सरम्भमभिनीय प्रकाशम्) हंहो, पश्य पश्य ॥११५॥

स्निग्धैरेभि सखिभिरखिलैर्धेनुवृन्दानुसारी
नारीवार्त्ताविमुखहृदय. काननान्ते चरामि।
मां स्वैरिण्यस्तदपि यदिमा दूषयन्ति प्रकाम
तद्विज्ञाप्य द्रुतमिह जरद्गोपगोष्ठ्यां करिष्ये ॥११६॥३४॥

(इति कृत्रिमामर्षेण द्रुत परिक्रामति)

मधुमङ्गलः—(स्मितमावृत्य) भो बम्हआरिसिहामणी ! खणं णिवट्टिअ इमाओ दुम्मुहगोइआओ पच्चुत्तरेण णिज्जिणिअ विद्दावेहि। अह वखु एद सव्व धिट्ठाणं वुत्तन्त गोउलेसरीए विण्णविस्सम्। [भो ब्रह्मचारिशिखामणे ! क्षण निवर्त्य इमा दुर्मुखगोपिका प्रत्युत्तरेण निर्जित्य विद्रावय।

(मधुमङ्गल फिर पढता है)

श्रीकृष्ण—(आनन्द पूर्वक मन मे) कुलस्त्रिया निश्चय ही धर्म-भीरू होती है। इसलिए इनकी उपेक्षा करके इनके भावो की निष्ठा को जाचता हू। (इतना कहकर शीघ्रता से दिखाते हुए) सखा ! ओहो ! देखना देखना—॥११५॥

मैं सब सखाओ के साथ गौएं चराता हुआ वन मे ही विचरता हू, मेरा चित्त कभी भी स्त्रियो की वार्त्ता मे नही जाता है, तो भी यदि ये समस्त स्वेच्छाचारिणी रमणिया आकर हमे बदनाम करती है, तो मैं शीघ्र जाकर वृद्ध गोपियो की गोष्ठी मे यह सब बतलाऊ गा ॥११६॥ ३४॥

(इतना कहकर बनावटी क्रोध दिखाते हुए चलने लगते है)

मधुमङ्गल—(हसी को रोकते हुए)—हे ब्रह्मचारि शिरोमणि ! जरा रुक जाओ, इन दुर्मुखा गोपियो को प्रत्युत्तर देकर पराजित करके अभी भगा देता हू। परन्तु मैं भी मा-यशोदा के पास जाकर इन सब धृष्ट गोपियो का सब हाल सुनाऊ गा। (इतना कहकर श्रीकृष्ण का हाथ पकड कर

अहं खल्विदं सर्वं धृष्टानां वृत्तान्तं गोकुलेश्वर्यै विज्ञापयिष्यामि ।] ॥११७॥
(इति पाणौ धृत्वा व्यावर्त्तयति)

(इति परस्परमवेक्ष्य वैलक्ष्यं नाटयतः)

श्रीकृष्णः—सखि विशाखे, चातुरक्षिकं प्रेक्षणमपि नास्ति । कुतस्तावत्परितो रोधनम् ? तदुन्नयामि । केनाप्यपरेण नागरेण तस्या. स्वान्तमुच्चालितम् ॥११८॥

विशाखा—(संस्कृतमाश्रित्य)

कस्ताहग्व्रजमण्डलेऽद्य वलते शक्रो गरीयानसौ
येनोच्चालयितुं बलात्कुलवतीचेतोगिरिग्रामणीः ?
इत्यस्नाभिरयत्नविक्रमलवादुत्क्षिप्तगोवर्धनो
हेतुस्त्वं पङ्कजाक्ष यदुभिस्तत्रासि निष्टङ्कितः ॥११९॥३५

मधुमङ्गलः—अइ वाआलिए, चिट्ठ चिट्ठ । दिट्ठो मए उक्खित्तदण्डमण्डलेहिं गोवेहिं गोवद्धणो धरिदो । तुमं कीस एक्कं ज्जेव पिअवअस्स

वापस लाता है) ॥११७॥

(ललिता-विशाखा दोनों एक दूसरे को देखकर विस्मय प्रकाश करती हैं)

श्रीकृष्ण—सखि विशाखा ! मेरी और राधा की कभी चार आंख ही नहीं हुई हैं—आंख से आंख देखी भी नहीं है, फिर कहो कैसे मैं उसे चारों ओर से रोक लेता हूं ? मेरा अनुमान है, किसी दूसरे नागर ने उसके मन को चञ्चल कर रखा है ॥११८॥

विशाखा—हे कमलनयन ! इस व्रज मण्डल में दूसरा और कौन तुम्हारे समान बलशाली श्रेष्ठ पुरुष है, जो बल पूर्वक कुलवतियों के चित्त रूप गिरिराज को विचलित करने में समर्थ है । तुम ने जब अपने स्वाभाविक बल से गोवर्धन को उठा लिया, तभी से सती नारियों ने तुम्हें ही (युवतियों के मन को चञ्चल करने का) मूल कारण निर्धारित किया है ॥११९॥३५

मधुमङ्गल—अरी वाचाल ! ठहर जा, ठहर जा, मैं ने अपनी आंखों से देखा है, सब गोपों ने लाठी लगाकर गोवर्धन को धारण किया था, तू

संभावेसि। [अयि वाचालिके, तिष्ठ तिष्ठ। दृष्टो मया उत्क्षिप्तदण्डमण्डलैर्गोपैर्गोवर्धनो धृतः। त्वं कस्मादेकमेव प्रियवयस्यं संभावयसि।] ॥१२०॥

श्रीकृष्णः—ललिते, अलमतिप्रसङ्गेन। तन्निवर्तस्व ॥१२१॥

ललिता—सुन्दर, सव्वगोउलसुहआरिणो वि तुअत्तो कधं सा एका जेव्व दुक्खं अरिहदि वरिअसि ? [सुन्दर, सर्वगोकुलसुखकारिणोऽपि त्वत्तः कथं सा एकैव दुःखमर्हति वरीयसि ?] ॥१२२॥

श्रीकृष्णः—

सङ्गी मे मधुमङ्गलो न सहते धर्माध्वनो विच्युतिं
श्रीदामा परिमार्गयन्मम न हि छिद्राणि निद्रायते।
कंसः शास्ति खल. क्षितिं कथमतो मुग्धे विधेयं मया
निःशङ्कं कुलसुन्दरीपरिभवज्वालामहासाहसम् ? ॥१२३॥३६॥

ललिता—(सामर्षम् संस्कृतेन)

अन्तः क्लेशकलङ्किताः किल वयं यामोऽद्य याम्यां पुरीं
नायं वञ्चनसंचयप्रणयिनं हासं तथाप्युज्झति।

किसलिए अकेले कृष्ण की प्रशंसा कर रही है ? ॥१२०॥

श्रीकृष्ण—ललिते ! इस बात का कोई प्रयोजन नही, इसे बन्द करो। ॥१२१॥

ललिता—हे सुन्दर ! आप समस्त गोकुल को सुख देने वाले है, तो फिर अकेली वह श्रेष्ठ नारी श्रीराधा क्यो दुख भोग करती है ? ॥१२२॥

श्रीकृष्ण—हे ललिते ! मेरा साथी मधुमङ्गल धर्म-पथ से मेरे विच्युत होने को सहन नही कर सकता, श्रीदामा मेरे छिद्रों को ढूढने मे सदा जागरुक रहता है, और दुष्ट कस पृथ्वी मण्डल पर शासन करता है, हे मुग्धे ! तुम कहो, फिर मैं कैसे निशङ्क होकर कुल सुन्दरियो की अनादर रूप ज्वाला को प्रज्वलित करने का महा साहस कर सकता हू ? ॥१२३॥३६॥

ललिता—(क्रोध सहित राधे ! हम आन्तरिक क्लेश से कलङ्कित हैं, इसलिए यदि हम आज यमपुरी को भी चली जाएं, फिर भी यह कृष्ण वञ्चना रूप परिहास का परित्याग नही करेगा। हाय ! बुद्धिमति राधे ! इस

अस्मिन्सपुटिते गभीरकपटैराभीरपल्लीविटै
हा मेधाविनि राधिके तव कथं प्रेमा गरीयानभूत् ? ॥१२४॥३७॥

(इति रोदिति)

मधुमङ्गल—अइ मुद्धे, सअलसत्थविसारओ जस्स अम्हारिसो अमच्चो होइ सो वि किं एदं धम्मं अदिक्कमिस्सदि। ता अलं वणरुदिदेण। [अयि मुग्धे, सकलशास्त्रविशारदो यस्यास्मादृशोऽमात्यो भवति, सोऽपि किमिदं धर्ममतिक्रमिष्यति ? तदलं वनरुदितेन।] ॥१२५॥

विशाखा—(स्वगतम्) एणं राहीए गुञ्जावलिं कण्हस्स देन्ती इङ्गिदं लक्खेमि। [एना राधाया गुञ्जावली कृष्णाय ददती अहमिङ्गितं लक्षयामि।] (प्रकाशम् सस्कृतेन) ॥१२६॥

उदीर्णरागेण करम्बितान्तरा परिस्फुरत्कृष्णमुखी गुणाञ्चिता।
गुञ्जावली मञ्जुतरावलम्बिता साराधिकेयं तव कण्ठसङ्गमम् ॥१२७॥३८

महान कपटी गोपिका कामुक कृष्ण में तुम्हारा इतना अधिक प्रेम क्यों बढ़ गया है ? ॥१२४॥३७॥

(इतना कहकर ललिता रोने लगी)

मधुमङ्गल—अरी मुग्धे ! हम जैसा समस्त शास्त्र विशारद जिसका मन्त्री है, वह (कृष्ण) कैसे धर्म का त्याग कर सकता है ? इस लिए इस अरण्य-रोदन को (जिसे सुनने वाला कोई नहीं है) बन्द कर ॥१२५॥

विशाखा—(मन में) श्रीराधा की यह गुञ्जामाला श्रीकृष्ण को देकर इसका अभिप्राय देखती हूं। (स्पष्ट रूप से)— ॥१२६॥

हे कृष्ण ! जिस का सब भीतरी अङ्ग लाल वर्ण का है और मुखभाग श्याम-गुणों से भूषित है, और जिसका गुम्फित करने वाला सूत्र अधिक सार विशिष्ट और मनोहर है, ऐसी गुञ्जामाला को तुम कण्ठ में धारण करो।

[पक्षान्तर में—हे कृष्ण ! जिसका चित्त अनुराग से परिपूर्ण है और मुख में सदा कृष्ण-कृष्ण पुकारती रहती है, जो अनेक गुणों से गुम्फित और मन को हरने वाली है, ऐसी श्रीराधिका को तुम गले लगाओ] ॥१२७॥३८॥

(इति कृष्ण कण्ठे स्वयमर्पयति)

श्रीकृष्ण:—(स्मित्वा सकपटेर्ष्यम्)

रागिणमपि सुकठोरं सुवृत्तमपि मुहुरुदीर्णमालिन्यम्।
युवतीमामिव भाव न हि गुञ्जाहारमिच्छामि ॥१२८। ३६॥

(इत्यजानन्निव कण्ठादवतार्य रङ्गणमालिकामर्पयति)

विशाखा—(स्वगतम्) इमस्स भमो वि अम्हाणं मङ्गलो संवुत्तो। [एतस्य भ्रमोऽप्यस्माकं मङ्गलः संवृत्तः।] (इति वस्त्रेण संवृणोति) १२९

ललिता—हला, गोविआकोडिभुअङ्गस्स इमस्स अक्खलिदं अच्चरिअं वम्हचरिअं दिट्ठिआ पअडीभूदम्। ता अम्हे वि गदुअ तं अत्थाणाणुराइणीं राहिअं णिवट्टावेम्ह। [हला, गोपिका कोटिभुजङ्गस्य एतस्यास्खलितमाश्चर्यं ब्रह्मचर्यं दिष्ट्या प्रकटीभूतम्। तदावामपि गत्वा तामस्थानानुरागिणी राधिकां निवर्त्तयावः।] ॥१३०॥

(यह कहकर उस माला को वह स्वयं श्रीकृष्ण के गले मे डालती है)

श्रीकृष्ण—(मुसकराते हुए कपट-ईर्ष्या सहित) लाल वर्ण होते हुए भी यह गुञ्जामाला अति कठोर है, सुन्दर मालाकार में होते हुए भी अति मालिन्ययुक्त है। इसलिए युवति-भावमयी माला को मैं नही चाहता हूं।

(अभिप्राय यह है कि अनुरागवती होकर भी अपने अनुराग को भीतर छिपाय रहती है, बाहर केवल कठोरता का ही प्रदर्शन करती है। इसलिए मैं ऐसी श्रीराधा को नही चाहता हू) ॥१२८॥३६॥

(इतना कहकर अजान की भांति गले की उस माला को उतार कर विशाखा के हाथ मे दे देते हैं)

विशाखा—(मन मे) इनका भ्रम भी हमारे मङ्गल के निमित्त है। (यह कह कर माला को कपड़े से ढक लेती है ॥१२९॥

ललिता—विशाखा ! कोटि गोपिका-कामुक का अस्खलित आश्चर्य-मय ब्रह्मचर्य अब आखो के सामने है, चलो हम भी इसके प्रति अनुराग करने वाली राधिका को रोक देवें ॥१३०॥

विशाखा—सहि, जुत्तं मन्तेसि। [सखि, युक्तं मन्त्रयसि।] ॥१३१॥

(इत्युभे परिक्रामतः)

ललिता—विशाहे, तुमं गदुअ इमाए रङ्गणमालिआए पिअसहीं आसासेहि। अहं क्खु एदं वुत्तन्तं भअवदीए णिवेदिस्सम्। [विशाखे, त्वं गत्वानया रङ्गणमालिकया प्रियसखीमाश्वसिहि। अहं खल्विदं वृत्तान्तं भगवत्यै निवेदिष्यामि।] ॥१३२॥

(इति निष्क्रान्ते)

मधुमङ्गलः—भो, वअस्स आदरिज्जन्तं वि अप्पाणं कीस आदरावेसि। इदं क्खु पच्चादावपव्वदाहिरोहणस्स अहिरोहिणीणिम्माणं दाव। [भोः, वयस्य! आद्रियमाणमप्यात्मानं कस्मादादरयसि? इद खलु पश्चात्तापपर्वताधिरोहणस्याधिरोहिणीनिर्माणं तावत्।] ॥१३३।

श्रीकृष्णः—सखे, सत्यं ब्रवीषि। साहसिकयं हसितेनैवानुष्ठितम् ॥१३४

मधुमङ्गलः—पेक्ख गोईजुअलं णेत्तपहं अदिक्कमिदम्। [पश्य, गोपीयुगलं नेत्रपथमतिक्रान्तम्।] ॥१३५॥

विशाखा—सखि! तुमने ठीक सलाह दी है। (यह कहकर दोनों चल पड़ती हैं) ॥१३१॥

ललिता—विशाखा! तू तो जाकर इस कुसुममाला से प्रिय सखी श्रीराधा को आश्वासन दे और मैं जाकर इस वृत्तान्त को भगवती पौर्णमासी को निवेदन करूंगी ॥१३२॥

[दोनों चली जाती हैं]

मधुमङ्गल—हे सखे! आदर को प्राप्त हुए तुम फिर किस लिए अधिक आदर चाहते हो? यह बात निश्चय ही बाद में तुम्हारे लिए पश्चाताप के पर्वत पर चढ़ने की सीढ़ी के समान बनेगी, (बाद में तुम्हें पश्चाताप करना होगा) ॥१३३॥

श्रीकृष्ण—मित्र! तू सच कहता है। मैंने हंसी हंसी में ऐसा साहस किया है ॥१३४॥

मधुमङ्गल-देखो, दोनों गोपियाएं हमारी दृष्टि से दूर निकल गई हैं॥

श्रीकृष्णः—(सानुतापम्)

श्रुत्वा निष्ठुरतां ममेन्दुवदना प्रेमाङ्कुरं भिन्दती
स्वान्ते शान्तिधुरां विधाय विधुरे प्रायः परांञ्चिष्यति।
किं वा पामरकामकार्मुकपरित्रस्ता विमोक्ष्यत्यसून्
हा मौग्ध्यात्फलिनी मनोरथलता मृद्वी मयोन्मूलिता ॥१३६॥४०

मधुमङ्गलः—दाणि किं एत्थ सरणम् ? [इदानीं किमत्र शरणम् ?] ॥१३७॥

श्रीकृष्णः—सखे, प्रत्यनङ्गलेखं विना नान्यत्पश्यामि शरणम् ॥१३८॥

मधुमङ्गलः—किं एत्थ लेहसाहणम् । [किमत्र लेखसाधनम् ।]१३९

श्रीकृष्णः—वशीकारक्रियाप्रशस्तो रागवान् जवानिर्यासः ।.१४०॥

मधुमङ्गल –एहि उड्डुमहाडइमण्डिदं णादिदूरे पवखन्दणतित्थं गच्छेम्ह। [एहि, उड्डमहाटवीमण्डितं नातिदूरे प्रस्कन्दनतीर्थं गच्छावः।] ॥१४१॥

(इति निष्क्रान्तौ)

(ततः प्रविशति विशाखया प्रबोध्यमाना राधा)

श्रीकृष्ण—(अनुताप पूर्वक) हाय ! वह चन्द्रमुखी राधा मेरी निष्ठुरता को सुनकर प्रेमाकुंर को छेदन कर अपने हृदय में धीरज पूर्वक विरह में निश्चय ही दुखी होगी, अथवा पापी कामदेव की धनुष टंकोर से भयभीत होकर प्राणों को छोड़ देगी। हा ! हा ! मैंने मूर्खता से कोमल फलवती मनोरथ-लता को जड़ से उखाड़ डाला है ॥१३६॥४०॥

मधुमङ्गल—अब उपाय ही क्या है ? ॥१३७॥

श्रीकृष्ण—मित्र ! प्रेम-पत्र के प्रत्युत्तर देने के सिवा और कोई उपाय नही दीखता है ॥१३८॥

मधुमङ्गल—यहां लिखने का क्या साधन है ? ॥१३९॥

श्रीकृष्ण—वशीकरण कार्य मे लोहित जवा पुष्प का रस प्रसिद्ध है ?

मधुमङ्गल—आओ ! जवा पुष्पों से मण्डित प्रस्कन्दन तीर्थ नजदीक ही है, वहा चलते हैं ॥१४१॥

[दोनों चले जाते हैं]

राधिका—(सखेद सस्कृतेन)

यस्मोत्सङ्गसुखाशया शिथिलिता गुर्वी गुरुभ्यस्त्रपा
प्राणेभ्योऽपि मुहृत्तया सखि तथा यूय परिक्लेशिता ।
धर्म सोऽपि महान्मया न गणित. साध्वीभिरध्यासितो
धिग्धैर्यं तदुपेक्षितापि यदह जीवामि पापीयसी ॥१४२॥४१

विशाखा—(ससभ्रमम्) सहि, समस्सस समस्सस । [सखि, समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।] (इति रङ्गणमाला घ्राणेऽर्पयति) ॥१४३॥

राधिका—(सज्ञा लब्ध्वा) हला, किं एदं अच्चरिअं जं समोहणं वि पवोदेहि । [हला, किमिदमाश्चर्यं यत्समोहनमपि प्रवोधयति ।] ॥१४४॥

विशाखा—(माल्य निवेद्य सस्कृतेन)

अङ्गोत्तीर्णविलेपन सखि समाकृष्टिक्रियाया मणि-
र्मन्त्रो हन्त मुहुर्वशीकृतिविधौ नामास्य वशीपते ।

(इसके बाद विशाखा के द्वारा चेतना मे लाई हुई श्रीराधा प्रवेश करती हैं)—

श्रीराधा—(खेद पूर्वक)—हे सखि ! जिन श्रीकृष्ण के आलिङ्गन-सुख की आशा मे मैं ने गुरुजनो की भारी लज्जा को भी त्याग कर दिया है, प्राणो से भी अधिक प्रिय तुम सखियो को जिनके लिए अत्यन्त कष्ट दिया है और साध्वी स्त्रियो से सेवित उस प्रसिद्ध पातिव्रत्य धर्म को भी जिनके लिए मैं ने कुछ भी नही गिना, उन्ही श्रीकृष्ण ने मेरी उपेक्षा कर दी है, फिर भी मैं पापिनी जीवित हू, मेरे ऐसे धैर्य को धिक्कार है। (इतना कहकर मूर्च्छित हो जाती हैं) ॥१४२॥४१॥

विशाखा—(सम्भालते हुए) सखि ! धीरज धरो, स्थिर होओ ॥१४३
(इस प्रकार कहते हुए विशाखा उस पुष्प माला को श्रीराधा की नासिका के आगे धरती है)

श्रीराधिका—(चेतना पाकर) हा सखि ! यह कैसी आश्चर्यमय वस्तु ! जो मूर्च्छित को भी चेतन कर रही है ? ॥१४४॥

विशाखा—(माला को देती हुई) राधे ! वशीधारी श्रीकृष्ण के अङ्गो से उत्तर चन्दन-केसर आकर्षण क्रिया मे मणि के सदृश है, उनका

निर्माल्यस्त्रगियं महौषधिरिह स्वान्तस्य संमोहने
नासां कस्तिसृणां गृणाति परमाचिन्त्यां प्रभावावलीम् ॥१४५॥४२

राधिका—(स्वगतम्) एव्वंगुणेण इमिणा उवेक्खिदं वि णं हदसरीरं कधं अज्जवि णिल्लज्जाहं धारेमि। ता कालिअहदपवेसोवाअं अणुसरिस्सम्। (प्रकाशम्) विसाहे, विण्णवेहि गुरुअणं जं बारहाइच्चतित्थं गदुअ सूरं अच्चिदुकामम्हि। [एवं गुणेनानेनोपेक्षितमपि इद हतशरीरं कथमद्यापि निर्लज्जाहं धारयामि ? तत्कालियह्रदप्रवेशोपायमनुसरिष्यामि । विशाखे, विज्ञापय गुरुजन यद्द्वादशादित्यतीर्थं गत्वा सूर्यमर्चयितुकामास्मि ।]॥१४६॥

विशाखा—साहु सुमराइदं पिअसहीए जं अज्जाए जडिलाए वि इदं जेव्व दाणि आदिट्ठम्हि। ता एहि। [साधु स्मारित प्रियसख्या यदार्यया जटिलयापि इदमेवेदानीमादिष्टास्मि। तदेहि।] ॥१४७।

(इत्युभे परिक्रामत)

राधिका—(सव्यामोहम्)

ण परिहरइ मुउन्दो तहवि दुरासा विरोहिणी इहई।
मह सहि गहीरणीरा सगणं वहिणी किदन्तस्स॥

नाम वशीभूत करने मे मन्त्र के समान है, और यह उनके गले की माला मन के मोहित हो जाने मे महा औषधि स्वरूप है, इसलिए हे सखि ! मणि मन्त्र एव महौषधि—इन तीनो के परम आश्चर्यमय प्रभाव का तू क्यो नही गान करती है ? ॥१४५॥४२॥

श्रीराधिका—(मन मे) ऐसे गुणवान द्वारा उपेक्षित दुर्भागे शरीर को भी मैं आज तक कैसी निर्लज्ज होकर धारण कर रही हू ? अव मै कालियह्रद मे प्रवेश कर इस शरीर को त्यागने का उपाय करूंगी। (स्पष्ट कहती हैं)—विशाखा ! तुम गुरुजनो को जाकर जना दो कि मै द्वादश-आदित्य तीर्थ पर जाकर सूर्य की आराधना करना चाहती हू ॥१४६॥

विशाखा—प्रिय सखि ! तुम ने अच्छा याद किया, क्योकि आर्या जटिला ने भी आज मुझे यही आदेश दिया, तब आओ चले (इतना कह कर दोनो चल पडती है) ॥१४७॥

श्रीराधिका—(मोह सहित) विशाखा ! श्रीकृष्ण ने मुझे त्याग कर

[मा परिहरति मुकुन्दस्तथपि दुराशा विरोधिनी दहति।
मम सखि गभीरनीरा शरणं भगिनी कृतान्तस्य] ॥१४८॥४३॥

विशाखा—हला, पेक्ख पत्थाणे मङ्गलसूअणाइं सउणाइं। ता एवं मा भण। [हला, पश्य प्रस्थाने मङ्गलसूचनानि शकुनानि। तदेवं मा भण ॥१४९॥

राधिका—(पुरो दृष्ट्वा) हला, कथमेसा पुव्वदिसामुहे आआलिआ झा दीसइ। [हला, कथमेषा पूर्वदिशामुखे आकालिकी सध्या दृश्यते।]

विशाखा—ण खु संझा। पेक्ख पक्कन्दतीत्थे सूरस्स वल्लहा परिफुल्लिदा उड्डराइ रेहदि। ता इमस्स अग्घं कादुं ण अवचिणम्ह। [न खलु सध्या पश्य प्रस्कन्दतीर्थे सूर्यस्य वल्लभा प्रफुल्लिता प्रफुल्लिता उड्डराजी राजति। तदस्या अर्घ्यं कर्तुमेतदवचिन्व.।] ॥१५१॥

(इत्युभे तथा कुरुत.)

(तत. प्रविशति बटुना सह कृष्ण)

श्रीकृष्णः—सखे, सेयं राधाधरकान्तितस्करी जवाराजि. ॥१५२॥

दिया है, तो भी विरोधिनी दुराशा मुझे जला रही है। अब सखि! गम्भीर जलशालिनी यम-भगिनी यमुना ही एक मात्र मेरा आश्रय है ॥१४८

विशाखा—हे राधे ! ऐसी बात मत कहो, देखो तुम्हारे चलते मे मङ्गल सूचक शकुन हो रहे हैं ॥१४९॥

श्रीराधिका—(सामने देखकर) सखि ! देखना, पूर्व दिशा मे यह कैसे असमय मे सन्ध्या दीख रही है ? ॥१५०॥

विशाखा—राधे ! यह सन्ध्या नही है। देखो, प्रस्कन्द तीर्थ पर सूर्य-प्रिय जवा कुसुम ही प्रफुल्लित होकर शोभित हो रहे हैं। सूर्य देव के अर्घ्य के लिए इन्हीं को चल कर चयन करें। (इतना कहकर दोनो कुसुम चयन करने जाती है) ॥१५१॥

[तब मधुमङ्गल सहित श्रीकृष्ण वहा प्रवेश करते हैं]

श्रीकृष्ण—मित्र ! राधा की अधर कान्ति को हरण करने वाली यही जवा-कुसुमावली है ॥१५२।

मधुमङ्गलः—अदो एवं णिप्पीडिअ णिम्माहि पच्चणङ्गलेहम् । [अत एतन्निष्पीड्य निर्माहि प्रत्यनङ्गलेखम् ।] ॥१५३॥

श्रीकृष्णः—(परिक्रम्य सविस्मयम्)

एषा नान्तिकवर्तिनी सुरगिरेरैलावृती हन्त भू-
रग्रे किं कलयामि काञ्चनरुचामुद्गारगौरीर्दिशः ।
आं ज्ञातं मणिनूपुरध्वनिभरादालीजनालंकृता
कान्तीनां कुलदेवता विलसितुं वृन्दाटवीं विन्दति ॥१५४॥४४॥

मधुमङ्गल.—हन्त भो, मग्गिज्जन्तम्मि वाउरासाहणे कुरङ्गी सअं हत्थं गदा । [हन्त भो., मृग्यमाणे वागुरासाधने कुरङ्गी स्वयं हस्तं गता] १५५

श्रीकृष्णः—(सानन्दम्) सखे, साधु विज्ञातम् । तदत्र वृक्षान्तरितौ शृणुवः किमसौ प्रस्तौति ॥१५६॥

(इति तथा स्थितौ)

राधिका—(विशाखामालम्ब्य सास्रम्) हला, एसो जणो कधापसङ्गे

मधुमङ्गल—अब इनको निचोड़ कर तुम प्रेम पत्र का प्रत्युत्तर तैयार करो ॥१५३॥

श्रीकृष्ण—(घूमकर विस्मय पूर्वक)—सखे ! यह सुमेरु के निकटवर्ती इलावर्त्त वर्ष की भूमि नहीं है, फिर, यह सामने की दिशा में स्वर्ण कान्ति प्रकाशित करने वाला गौर वर्ण मैं कैसे देख रहा हूं ? ओ मणिमय नूपुर ध्वनि आ रही है ! मैं जान गया कि अलकृत सखियो के साथ समस्त कान्तियो के कुल देवता विलास करने के लिए यहा वृन्दावन मे पर्यटन कर रहे है ॥१५४॥४४॥

मधुमङ्गल—आहा मित्र ! अन्वेषण पूर्वक जाल बिछाकर जिस कुरङ्गी को फंसाने की इच्छा कर रहे थे, वह अपने आप ही हाथो मे पड गयी ॥१५५॥

श्रीकृष्ण—(आनन्द पूर्वक) सखे ! ठीक कहा है । तब यहा वृक्ष की ओट मे हम दोनो चलकर सुनें, यह क्या कहती है । (यह कहकर दोनो वहा ठहर जाते हैं) ॥१५६॥

श्रीराधिका—(विशाखा के कन्धे पर हाथ रखकर नेत्रो से अश्रु

सअं सुमरिदव्वो। [हला, एष जनः कथाप्रसङ्गे स्वयं स्मारितव्यः।] १५७

विशाखा—(सवाष्पम्) सहि, अच्छीणधीरत्तणादिगुणा भणिज्जसि। ता किति एव्वं उव्विग्गासि। [सखि, अक्षीणधीरत्वादिगुणा भण्यसे। तत्किमित्येवमुद्विग्नासि।] ॥१५८॥

राधिका—सहि, णिग्गुणीकिदम्हि तेण धुत्तेण। [सखि, निर्गुणीकृतास्मि तेन धूर्तेन।] (इति संस्कृतेन)।

तस्योरस्तटमण्डलं धृतिनदीरोधक्रियापण्डितं
वक्त्रेन्दुः कुलधर्मपङ्कजवनीसंकोचदीक्षाव्रती।
दोर्यूपौ नितरामुदञ्चितचिरव्रीडाभिचाराध्वरौ
हा कष्टं निखिलंगिला सखि दृशोर्भङ्गीभुजङ्गी तु सा ॥१५९॥४५

श्रीकृष्णः—प्रिये, त्वन्माधुर्येण माधवश्च जडीकृत्य निर्गुणामवस्थां नीतोऽयम् ॥१६०॥

प्रवाहित करती हुई) विशाखा! कभी वार्त्तालाप में मुझ अभागिनी को भी तुम याद कर लिया करना ॥१५७॥

विशाखा—(अश्रु बहाते हुए) सखि! तुम्हें सब लोग अक्षुण्ण-धैर्य-गुण धारण करने वाली कहते है, फिर तुम इस प्रकार क्यों परेशान हो रही हो? ॥१५८॥

श्रीराधिका—विशाखा! उस धूर्त्त ने मुझे गुणहीन कर दिया है।

सखि! जिसका विशाल वक्षस्थल कुलीन स्त्रियों की धैर्यरूपी नदी को रोकने में चतुर है, जिस के मुख चन्द्र ने कुल धर्म रूप कमलों के वन को संकुचित करने के लिए दीक्षा पूर्वक व्रत ले रखा है, और जिसकी भुजा अतिशय चिर लज्जा को विनष्ट करने के लिए अभिचार रूप यज्ञ के यूप सदृश है (यज्ञ पशु को बान्धने के खूंटा विशेष को यूप कहते हैं।) हाय अति कष्ट! हे विशाखा! उसकी लोचन भङ्गी रूप सर्प ने कुलीन स्त्रियों के समस्त धर्मों को निगल लिया है ॥१५९॥४५॥

श्रीकृष्ण—हे प्रिये! तुम्हारे माधुर्य ने माधव को भी जड़ीभूत कर निर्गुण अवस्था प्राप्त करा दी है ॥१६०॥

राधिका—(आकाशे अञ्जलिं बद्ध्वा । संस्कृतेन) हन्त भो बकीहत,

गृहान्त खेलन्त्यो निजसहजबाल्यस्य बलना-
दभद्रं भद्रं वा किमपि नहि जानीमहि मनाक् ।
वय नेतु युक्ता कथनशरणां कामपि दशां
कथं वा न्याय्या ते प्रथयितुमुदासीनपदवीम् ॥१६१॥४६॥

श्रीकृष्ण—प्रिये, क खलु जिजीविषुर्जीवातुभूताया सिद्धौषधि-लतायामुदास्ते ॥१६२॥

राधिका—(निःश्वस्य) हला एसा पिआ मे एकाअली तुए अप्पणो कण्ठे धारणिज्जा । [सखि, एषा प्रिया मे एकावली त्वया आत्मन कण्ठे धारणीया ।] (इति कण्ठादेकावलीमुत्तारयति) ॥१६३॥

विशाखा—(हठान्निवार्य) हला, एव्व अणुचिट्ठन्ती किंति म डहसि ज ललिद पडिक्खिअ णिरुज्जमम्हि । [हला, एवमनुतिष्ठन्ती किमिति मा दहसि यल्ललिता प्रतीक्ष्य निरुद्यमास्मि ।] (इति रोदिति) ॥१६४॥

श्रीराधिका—(आकाश की ओर हाथ जोडकर) हाय रे पूतना घाति ! (बालक पन से ही स्त्रियो का सहार करने वाले !) हम तो अपने बाल्य स्वभाव से घरो मे ही खेलती रहती हैं, भला बुरा कुछ नही जानती । हमे इस प्रकार की आश्रय शून्य अवस्था प्राप्त कराना—निराश्रय करना क्या तुम्हे उचित है और तुम्हारा हमारे प्रति इस प्रकार उदासीन भाव—उपेक्षा भाव दिखाना क्या न्याय सङ्गत है ? ॥१६१॥४६॥

श्रीकृष्ण—प्रिये ! जीने की इच्छा करने वाला कौन व्यक्ति है जो सिद्ध जीवन-औपधि लता की उपेक्षा करेगा ? ॥१६२॥

श्रीराधिका—(लम्बी सास छोडकर) हे सखि ! मेरे इस प्रियमत मुक्ता हार को तुम अपने गले मे पहन लो । (इतना कहकर गले से मुक्ता हार को उतारती है) ॥१६३॥

विशाखा—(बल पूर्वक रोकते हुए) राधे ! तुम ऐसा काम कर मुझे क्या जलाती हो, मैं तो ललिता की इन्तजार मे ही निरुद्यम (प्रयत्न हीन) हो रही हू । (इतना कहकर रोने लगती है) ॥१६४॥

राधिका—(सस्कृतेन)

अकारुण्य' कृष्णो यदि मयि तवाग. कथमिद
मुधा मा रोदीर्मे कुरु परमिमामुत्तरकृतिम् ।
तमालस्य स्कन्धे विनिहितभुजावल्लरिरिय
यथा वृन्दारण्ये चिरमविचला तिष्ठति तनु ॥१६५॥४६॥

श्रीकृष्ण —(सास्रम्) सखे, दृष्टानुरागस्य साधिष्ठता ॥१६६॥

राधिका—(स्वगतम्) तुवरावेदि म कावि घणुक्कण्ठा । (प्रकाशम्) हला, सूरमच्चिअ कि पि अब्भत्थिदुकामाम्हि । ता जाव सिणाण कदुअ णिवुत्ता भवे ताव तुम एत्थ पुप्फ अवचिणेहि । (इति तीर्थाभिमुख द्वित्राणि पदानि गत्वा पुनरात्मगतम्) हन्त, सो तिल्लोकमोहणो मुहचन्दो पुणो मए ण दिट्ठो । (इति सोत्कण्ठ निवृत्य प्रकाशम्) हला, पसीद पसीद, दसेहि त पडिच्छन्दअम् । [त्वरयति मा कापि घनोत्कण्ठा । हला, सूर्यमर्चयित्वा किमप्यभ्यर्थयितुकामास्मि । तद्यावत्स्नान कृत्वा निवृत्ता भवेय तावत्त्वमत्र पुष्पमवचिनु । हन्त, स त्रैलोक्यमोहनो मुखचन्द्र पुनर्मया न दृष्ट । हला, प्रसीद प्रसीद । दर्शय एन प्रतिच्छन्दम् ।] ॥१६७॥

श्रीराधिका—सखि ! श्रीकृष्ण यदि मेरे प्रति निष्ठुर हो रहे हैं तो तुम्हारा क्या दोष है ? अब वृथा रोवो मत । बस, तुम मेरी अन्त्येष्टि क्रिया इस प्रकार कर देना कि तमाल वृक्ष की शाखा से मेरी भुजाओ को बाध कर मुझे लटका देना, जिससे वृन्दावन मे ही अविचल भाव से मेरा यह शरीर चिर काल पर्यन्त रहा आवे ॥१६५॥

श्रीकृष्ण—(अश्रु बहाते हुए) मधुमङ्गल ! देखो तुमने अनुराग की पराकाष्ठा ? ॥१६६॥

श्रीराधिका—(मन मे) यमुना मे प्रवेश करने की गाढ उत्कण्ठा मुझे उतावली कर रही है । (स्पष्ट कहती है) सखि ! सूर्यदेव की पूजा करके जिस मनोवाञ्छित की कामना करती है, उसके लिए जब तक मैं स्नान करके न आऊ, तब तक तुम फूल चुनलो । (इतना कहकर यमुना की ओर दो तीन कदम जाकर फिर मन मे सोचती हैं) हाय ! हाय ! वह त्रिभुवन-मोहन मुख-चन्द्र मैं एक बार भी फिर न देख सकी । (यह सोचकर उत्कण्ठा पूर्वक लौट कर कहती है)—सखि ! प्रसन्न होवो, आनन्दित होवो, एक बार और मुझ उस चित्र-पट के दर्शन करा दो ॥१६७॥

विशाखा—सहि, णत्थि एत्थ चित्तफलअम्। [सखि, नास्त्यत्र चित्रफलकम्।] ॥१६८॥

राधिका—(सव्यथम्) तदो पणिहाणेण णं पच्चक्खीकरिस्सम्। [तत प्रणिधानेनैन प्रत्यक्षीकरिष्यामि।] (इति ध्यान नाटयति ॥१६९॥

श्रीकृष्ण —सखे, पीतमपीतपूर्वमुन्मादक श्रोत्रमाध्वीकम्। तदग्रतो गच्छाव ॥१७०।

(इत्युभौ तथा कुरुत)

विशाखा—(विलोक्य सानन्द ससम्भ्रमम्) सहि, दिट्ठिआ तुज्झ सुहज्झाणेण फलिदम्। ता झत्ति उग्घाडेहि लोअणम्। [सखि, दिष्टया तव सुखध्यानेन फलितम्। तज्झटिति उद्घाटय लोचनम्।] ॥१७१॥

(राधिका दृश दरोन्मील्य चमत्कार नाटयति)

विशाखा—(संस्कृतेन)

यदर्थं सकोर्ण पतसि हतकन्दर्पकदने
मृदु वा दुर्वारे ज्वलयसि तनु प्रेमदहने।
अखण्डेनापीड सखि नवशिखण्डेन कलय-
न्विलासी सोऽय ते स्फुरति पुरतो जीवितपति ॥१७२॥४८

विशाखा—राधे ! वह चित्र यहा तो नही है ॥१६८॥

श्रीराधिका—(दुख पूर्वक) तब तो उसका ध्यान कर उसे प्रत्यक्ष करूगी। (इतना कहकर ध्यान मुद्रा मे जुड जाती हैं) ॥१६९॥

श्रीकृष्ण—सखे ! अभूतपूर्व कर्ण रसायन सुधा का पान कर लिया है तो, आओ आगे चले ॥१७०॥

(इतना कहकर दोनों आगे चलते है)।

विशाखा—(दोनो को देखकर आनन्द उद्रेक के साथ) राधे ! कैसा सौभाग्य ! तुम्हारा शुभ ध्यान सफल हुआ है, झट नेत्रो को खोलो ॥१७१॥

(श्रीराधिका नेत्रो को थोडा सा खोलकर चमत्कृत हो उठती है)

विशाखा—राधे ! हाय ! जिसके लिए तू अतिशय कन्दर्प पीडा भोग रही थी, एव दुर्निवार प्रेमाग्नि मे जिसके लिए तुम्हारा कोमल शरीर जला जा रहा था, वह अखण्ड नव मोर मुकुटधारी, वृन्दावन विहारी तुम्हारा प्राणनाथ तुम्हारे आगे खडा है ॥१७२। ४८॥

राधिका—अम्महे सिविणस्स माहुरी । [अहो स्वप्नस्य माधुरी ।] १७३

विशाखा—अविसद्धे, एसो दे अपुव्वो सिविणो जो णिद्दाए विणा वि णिप्पण्णो । [अविश्रब्धे एष तेऽपूर्व स्वप्नो यो निद्रया विनापि निष्पन्न ।]

श्रीकृष्ण —

असौ दृग्भङ्गीभि कुसुमशरमङ्गीकृतशर
सृजन्ती दन्तीन्द्रक्रमणकमनीयालसगति ।
अदूरे रम्भोरुरिह वदनबिम्बस्य सुषमा
समारम्भादम्भोरुहमधुरिमाण दमयति ॥१७५। ४९॥

राधिका—(कृष्ण दृगन्त नर्तयन्ती स्वगतम् साहु रे हिअअ, साधु दिट्ठिआ मुहुत्त विलम्बिदम् । [साधु रे हृदय, साधु । दिष्टया मुहूर्त विलम्बितम् ।] ॥१७६॥

श्रीकृष्ण —(स्मित्वा) धूर्ते विशाखिके, समन्तान्मृग्यमाणा दिष्ट्या त्वमत्र दृष्टासि । यदद्य भवत्या रूपसादृश्यादपाकिमगुञ्जाहारेण मा प्रताय दुर्लभा मे रङ्गणमालिकापनीता ॥१७७॥

मधुमङ्गल —भो, ण राहीए कण्ठादो दीसन्तीं अप्पणो रङ्गणमालिअ

श्रीराधिका—आहा ! स्वप्न की क्या आश्चर्यमय माधुरी है ? ॥१७३

विशाखा—अविश्वासिनि ! यह तेरा कैसा अपूर्व स्वप्न है जो विना नीद के दीख रहा है ? ॥१७४॥

श्रीकृष्ण—अहो ! दूर से ही यह विशाल नितम्बिनी अपनी सुन्दर गति से मतवाले हाथी की गति को लज्जित करती हुई अपनी नयन भङ्गी से कामदेव के बाणो को छोड रही है और अपने मुख की छटा शोभा द्वारा प्रफुल्लित कमल की मधुरिमा को निन्दित कर रही है ॥१७५॥४९॥

श्रीराधिका—(श्रीकृष्ण पर दृगकटाक्ष करती हुई अपने मन ही मन म)—ठीक है रे हृदय ! ठीक है, तू ने सौभाग्य वश क्षण भर की देर कर दी है ॥१७६॥

श्रीकृष्ण—(मुसकरा कर) अरी धूर्त्त विशाखा ! चारो तरफ ढूढते हुए सौभाग्य वश तू यहा दीखी है । तू आज अपने रूप के सदृश अपक्व गुञ्जाहार से मुझे ठगकर मेरी दुर्लभ रङ्गण-माला को उठा लाई है ? ॥१७७

मधुमङ्गल—सखे ! तुम्हारी वह रङ्गण माला तो राधा के गले मे

सअं जेव्व आअडिअ गेण्ह । [भो, एना राधायाः कण्ठतो दृश्यमानामात्मनो रङ्गणमालिका स्वयमेवाकृष्य गृहाण ।] ॥१७८॥

श्रीकृष्ण—सखे, जानतापि भवता किमिदमन्याय्यमुपन्यस्तम् । न खलु स्वप्नेऽपि मया कामिनीस्पर्श. स्मर्यते ॥१७९॥

राधिका—(स्वगतम्) इमस्स परिहासो वि एसो संकिदाए मम सच्चो पडिभादि । [एतस्य परिहासोऽप्येष शङ्कितायाः मम सत्य. प्रतिभाति ।]

विशाखा—(विहस्य) अयि वराङ्गणातरङ्गिणीणं महासाअर, चिट्ठ चिट्ठ । दाणिं वि इमाइं दीसन्ति तुज्ज अङ्गेसु ताणं चिण्हाइं । [अयि वराङ्गनातरङ्गिणीना महासागर, तिष्ठ तिष्ठ । इदानीमपीमानि दृश्यन्ते तव अङ्गेषु तासा चिह्नानि । [(इति सस्कृतेन) ॥१८१॥

> आकृष्टानि कटाक्षभङ्गिभिरलं गोपाङ्गनानां त्वया
> रक्तान्यत्र मनांसि यानि निमिषोन्मुक्तानि नेत्राण्यपि ।
> तान्येतानि भवान्नवाञ्जनतनो गुञ्जावलोनां छला-
> त्पिच्छानां च सदा प्रसाधनधिया सधारयन्नन्दसि ॥१८२॥५०

दीख रही है, तू स्वय खीचकर ले ले न ॥१७८॥

श्रीकृष्ण—मित्र ! तू जान-बूझ कर भी क्यो ऐसा अन्याय करने की बात कहता है ? मैं तो स्वप्न मे भी कभी कामिन के स्पर्श का स्मरण नही करता हू ॥१७९॥

श्रीराधिका—(मन मे) इसका परिहास भी शङ्का के मारे मुझे तो सच्चा लगता है ॥१८०॥

विशाखा—(हस कर) अरी वराङ्गना-तरङ्गिणियो की महा सागर ! जरा ठहर, अभी तुम्हारे अङ्गो मे उन कामिनियो के सब चिह्न दीखने लगेगे ॥१८१॥

—हे नवाजनगात ! (नवीन कज्जल की भाति श्यामवर्ण कृष्ण !) तुमने नेत्र कटाक्ष भङ्गी से गोपाङ्गनाओ के अनुरक्त मन और पलकरहित नेत्रो को आकर्षण कर लिया है और गुञ्जावली एव मोर पुच्छ को मन एव नेत्रो के आकर्षण करने का साधन समझ कर तुम इन दोनो को धारण करते हुए सुख पूर्वक विचरते हो ॥१८२॥५०॥

श्रीकृष्णः—(सहर्षमात्मगतम्)

प्रमदरसतरङ्गस्मेरगण्डस्थलाया:
स्मरधनुरनुबन्धिभ्रूलतालास्यभाजः ।
मदकलचलभृङ्गीभ्रान्तिभङ्गीं दधानो
हृदयमिदमदाङक्षीत्पक्ष्मलाक्ष्याः कटाक्षः ॥१८३॥५१॥

(नेपथ्ये)

णत्तिणि विसाहे । [नप्त्रि विशाखे ।]

श्रीकृष्णः—कथमकाण्डे जरापाण्डुरेयं जटिला ॥१८४॥

(प्रविश्य)

जटिला—(पुरो दृष्ट्वा स्वगतम्) कहं एत्थ कण्हो । (प्रकाशम्) विसाहे, किति इमाइं धूअगन्धरत्तचन्दनाइं तुए विसुमरिदाइं । [कथमत्र कृष्णः । विशाखे, किमित्येतानि धूपगन्धरक्तचन्दनानि त्वया विस्मृतानि ।] ॥१८५॥

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्)

चन्द्रिकां चन्द्रलेखायाश्चकोरे पातुमुद्यते ।
पिधानं विदधे हन्त शरदम्भोधरावली ॥१८६॥५२॥

श्रीकृष्ण—(आनन्द पूर्वक मन मे) आनन्द रस के कारण मुसकान से जिसके गण्डस्थल प्रफुल्लित हो रहे है, जिसकी भृकुटि कन्दर्प धनुप के समान नाच रही है, उन्मत्ततावश भंवरे की भ्रान्ति पैदा करने वाले श्रीराधा के कटाक्षों ने मेरे हृदय को घायल कर दिया है ॥१८३॥५१॥

[पर्दे के पीछे से आवाज आती है—हे नातिनी विशाखे !]

श्रीकृष्ण—यह जरापाण्डु वर्णा (वृद्धावस्था के कारण पीले रंग वाली) जटिला असमय मे यहा कैसे ? ॥१८४॥

(जटिला प्रवेश करती है)

जटिला—(सामने देखकर मन ही मन में) यहां कृष्ण कैसे ? (स्पष्ट कहती है) विशाखा ! यह धूप अग्रवत्ती और लाल चन्दन तुम कैसे भूल आई ? ॥१८५॥

श्रीकृष्ण—(मन मन में) हाये चकोर के चन्द्र कला की चन्द्रका पान करने लगते ही शरद ऋतु की सफेद मेघ माला ने आकर चन्द्र को ढक दिया । (स्पष्ट कहते है)—मामी मां ! प्रणाम है ॥१८६॥५२॥

(प्रकाशम्) मातुर्मातुलानि, प्रणमामि ।

जटिला—मोहण, वल्लअकिशोरीउले अवङ्कदिट्ठी होहि । [मोहन वल्लवकिशोरीकुले अवक्रदृष्टिर्भव ।] ॥१८७॥

मधुमङ्गल.—(विहस्य) भो दधीचिहड्डकक्कसे, एसो सव्वदो उदारदिट्ठी च्चेअ मज्झ पिअवअस्सो । तुमं वखु केअरच्छी । ता अप्पाणं आससेहि । [भो दधीच्यस्थिकर्कशे, एष सर्वदोदारदृष्टिरेव मम प्रियवयस्य । त्व खलु केकराक्षी । तदा आत्मानमाशिषय ।] ॥१८८॥

जटिला—भो किशोरी भुअङ्ग ,कीस तुम आअदोसि । [भो किशोरी भुजङ्ग, कस्मात्त्वमागतोऽसि ।] ॥१८६॥

श्रीकृष्ण —आर्ये, लोकोत्तरानुरागचमत्कारिणीयं सुजवालक्ष्मी कं वा नाकर्षति ॥१९०॥

जटिला—(स्वगतम्) णूणं भअवदीए विज्जापहावसंभाविदा इमस्स एत्थ उवसत्ती । (प्रकाशम्) मोहण, झत्ति इदो गच्छेहि । [नून भगवत्या विद्याप्रभावसभाविता अस्यात्रोपसत्ति । मोहन, झटिति इतो गच्छ ।] १९१

जटिला—मोहन ! गोपकिशोरियो की तरफ तुम्हारी सीधी निगाह हो

मधुमङ्गल—(हसकर) हे दधीची-अस्थी कर्कशे ! (दधीची ऋषि की अस्थियो से भी अधिक कठोर !) यह मेरा प्रिय सखा तो सदा उदार दृष्टि है। तुम निश्चय ही वक्रदृष्टि हो, इसलिए अपने को ही ऐसा आशीर्वाद करो ॥१८८॥

जटिला—हे किशोरी-कामुक ! तुम यहां किस लिए आए हो ? ॥१८९॥

श्रीकृष्ण—हे आर्ये ! लोकातीत रक्त वर्णशाली जवा कुसुमो की मनोहर शोभा किस व्यक्ति को नही आकर्षण करती है ?

(पक्षान्तर मे—लोकातीत अनुरागवती यश-प्रकाशक जव-चिह्न धारण करने वाली लक्ष्मी स्वरूपा यह राधा किस को नही आकर्षण करती है ?) ॥१९०॥

जटिला—(मन मे) निश्चय ही ऐसा ज्ञात होता है, कि भगवती पौर्णमासी के विद्याप्रभाव से इसका यहा आना हुआ है । (स्पष्ट रूप मे) मोहन ! शीघ्र यहा से तुम चले जाओ ॥१९१॥

श्रीकृष्णः—अयि जल्पाकि वृद्धे किमित्याकुलासि । स्वच्छन्दतो गच्छेयम् ॥१६२॥

जटिला—(कुटिलं विलोक्य, संस्कृतेन)

निर्धौतानां निखिलधरणीमाधुरीणां धुरीणा
कल्याणी मे निवसति वधूः पश्य पार्श्वे नवोढा ।
अन्तर्गोष्ठे चटुल नटयन्नत्र नेत्रत्रिभागं
निःशङ्कस्त्वं भ्रमसि भविता नाकुलत्वं कुतो मे ॥१६३॥५३॥

श्रीकृष्णः—मृषाशङ्किनि वृद्धे, मा प्रलापं कृथाः । यावदेतां ते वधूमाकर्णयं तावन्मान्यां भावयामि ॥१६४॥

जटिला—विसाहे. किं ति एत्तिअं विलम्बिदासि । [विशाखे, किमित्येतावद्विलम्बितासि ।] ॥१६५॥

विशाखा—(स्मितवा) अज्जे, एणं दुल्ललिदं कुरङ्गं पेक्खन्ती विम्हिदम्हि । [आर्ये, एतं दुर्ललितं कुरङ्गं पश्यन्ती विस्मितास्मि ।] (इति सदृष्टिक्षेपम् ॥१६६॥

श्रीकृष्ण—अरी वाचाल बूढ़ी ! तू क्यों व्याकुल हो रही हो, मैं अपनी इच्छा से जाऊंगा ॥१६२॥

जटिला—(टेढ़ी निगाह से देखती हुई) अरे कृष्ण ! देख, जिसके रूप माधुर्य ने त्रिभुवन की मधुरता को तिरस्कृत कर रखा है, वह नवविवाहिता वधू मेरे पास खड़ी है और तुम भी इस गोकुल में मनोहर नेत्र प्रान्तों को नचाते हुए यहां निर्भय होकर घूम रहे हो, तो क्या मैं व्याकुल न होऊं ? ॥१६३॥५३॥

श्रीकृष्ण—झूठी शङ्का करने वाली वृद्धे ! वृथा प्रलाप मत कर । जब से मैं ने सुना है कि यह तुम्हारी वधू है, तब से मैं इस का आदर करता हूं ॥१६४॥

जटिला—विशाखा ! तू ने इतनी देर क्यों कर रखी है ? ॥१६५॥

विशाखा—(मुसकराते हुए) आर्ये ! मैं दुर्दान्त कुरङ्ग को सामने देख कर विस्मित हो रही हू ।

(पक्षान्तर में—कुत्सित रङ्गशील कृष्ण को देखकर विस्मित हो रही हूं) ॥१६६॥

अकरुण मुषिकअ चङ्ग कुरङ्ग पेम्मेण सगद हरिणीम् ।
विहल कूदणचडुलो तुम वणादो बण भमसि ॥

[अकरुण त्यक्त्वा चङ्ग कुरङ्ग प्रेम्णा सगता हरिणीम् ।
विफल ! कूर्दनचटुलस्त्वं वनाद्वन भ्रमसि ॥] ॥१९७॥५४॥

जटिला—अइ अत्थाणदुग्गहे, मुञ्च कुरङ्गकोदूहलम् । [अयि अस्थान दुर्ग्रहे, मुञ्च कुरङ्गकौतुकम् ।] ॥१९८॥

मधुमङ्गल—पिअवअस्स, पेक्ख । एसो सतिण्णो वि कीरजुआणो ण महुर दाडिमीं ण पडिज्जइ । [प्रियवयस्य, पश्य । एष सतृष्णोऽपि कीरयुवा इमा मधुरा दाडिमी न प्रतिपद्यते ।] ॥१९९॥

श्रीकृष्ण —(स्मित्वा)

हृदि तारितोऽपि दाडिमि सुमनोरोगेण ते रुचि वहता ।
पक्रिमरसासि किं वा नेति शुकः शङ्कयोदास्ते ॥२००॥५५॥

(विशाखा सदम्भङ्ग राधिकामवलोकते)

(इतना कहकर दृष्टि निक्षेप करते हुए। अरे अकरुण कुरङ्ग ! प्रेम पूर्वक निकट आई हुई मनोहरा कुरङ्गी को त्याग कर तू वृथा ही मनोहर *छलाग मारता हुआ वन वन मे भटक रहा है ।*

(पक्षान्तर मे— अरे करुणा—रहित, कृष्ण ! अनुराग पूर्वक निकट आई हुई सुन्दरी श्रीराधा की उपेक्षा कर गमन भङ्गी दिखाते हुए तुम वृथा ही वन वन मे भ्रमण कर रहे हो । इसे अङ्गीकार करो ।) ॥१९७॥

जटिला—अरी अनुचित बात मे आग्रहशीला विशाखे ! कुरङ्ग के कौतूहल को तू अब छोड ॥१९८॥

मधुमङ्गल—प्रिय मित्र ! देख तो, युवक शुक पक्षी तृष्णावन्त होकर भी इस मधुरा दाडिमी को ग्रहण नही कर रहा है ॥१९९॥

श्रीकृष्ण—(मुसकरा कर)—हे दाडिमी ! तुम्हारे मनोहर कान्ति युक्त कुसुमो के देखकर ही शुक का चित्त वशीभूत हो रहा है, किन्तु तुम्हारी रस परिपाक दशा प्राप्त हुई है कि नही, शुक इस की विवेचना मे उदासीन हो रहा है ॥२००॥

(विशाखा नेत्र भङ्गि सहित श्रीराधा को देखती है)

राधिका—(स्वगतम्) हिअअ, समस्सस समस्सस। [हृदय, समाश्वसिहि समाश्वसिहि।] (इति सखेदमपवार्य। सस्कृतेन) ॥२०१॥

पीतं न वागमृतमत्र हरेरशङ्कं न्यस्तं मयास्य वदने न दृगञ्चलं च।
रम्ये चिरादवसरे सखि लब्धमात्रे हा दुर्विधिरुरुधे जरतीच्छलेन ॥२०२॥५६

जटिला—(स्वगतम्) अम्हहे कण्हदिट्ठिणो माहप्पं, जं वहूए सो उवसग्गो तह णत्थि (प्रकाशम्) विसाहे, पेक्ख। अदिक्कमदि मज्झण्हो। ता तुरिदं सूरमण्डवं पविसम्ह। [अहो कृष्णदृष्टेर्माहात्म्यम्, यद्वध्वाः स उपसर्गस्तथा नास्ति। विशाखे, पश्य। अतिक्रमते मध्याह्नः। तत्त्वरितं सूर्यमण्डपं प्रविशाम।] ॥२०३॥

(इति तिस्रो निष्क्रान्ता)

श्रीकृष्णः—सखे, कौमुदीयं पौर्णमासीमनुवर्तते। तदेहि। तामेव प्रतिपद्यावहि ॥२०४॥

(इति निष्क्रान्तौ)

इति मन्मथलेखो नाम द्वितीयोऽङ्कः।

श्रीराधिका—(मन मे) अरे मन ! आश्वस्त हो, आश्वस्त हो। (इतना कहकर खेद पूर्वक हाथ का आवरण करके)—मैं ने कभी भी श्रीकृष्ण के वाक्य अमृत का कानभर कर पान नहीं किया है और न ही निस्सङ्कोच मन से उनके मुख कमल को नेत्र भर कर देख पाई हूं। हे सखि ! बहुत काल पीछे आज सुन्दर अवसर प्राप्त हुआ था। किन्तु हाय ! अभागे विधाता ने वृद्धा के बहाने आकर रोडा अटका दिया ॥२०१॥

जटिला—(मन मे) अहो ! श्रीकृष्ण दर्शन की कैसी आश्चर्यमय महिमा है ? कि मेरी वधू उपस्थित विपत्ति को नही देख रही है। (स्पष्ट रूप से विशाखा ! देख, दोपहर का समय निकल गया है इसलिए हम शीघ्र ही सूर्य मण्डप मे चलें। (इतना कहकर तीनो चली जाती है) ॥२०२॥५६॥

श्रीकृष्ण—यह कौमुदी (चान्दनी) पौर्णमासी का अनुगमन कर रही है, अतएव आओ हम उसके पीछे चलते हैं। (इतना कहकर वे भी चले जाते हैं) ॥२०३॥

[इस प्रकार सब चले जाते हैं]

इस प्रकार श्रीश्यामदासानुवादित श्रीविदग्धमाधव नाटक का
मन्मथ लेख नामक द्वितीय अंक समाप्त हुआ ॥२॥



तृतीयोऽङ्कः

(तत प्रविशति ललितयानुगम्यमाना पौर्णमासी)

पौर्णमासी—वत्से, नूनं मत्तत्रपमाणो नाभिनन्दति नन्दकुमारस्ते सखीसंगमम् ॥१॥

ललिता—भअवदि, दुब्बोह क्खु लोओत्तराणं चित्तं ण झत्ति विअसदि । [भगवति, दुर्वोध खलु लोकोत्तराणा चित्त न झटिति विकसति ।] । २

पौर्णमासी—(पुरोऽवलोक्य) वत्से, पश्य कदम्बवाटिकायां मधुमङ्गलेन सार्ध समङ्गल वर्धते मधुमर्दन । (पुनर्निरूप्य) ॥३॥

परामृष्टाङ्गुष्ठत्रयमसितरत्नैरुभयतो
वहन्ती सकीर्णौ मणिभिरुणैस्तत्परिसरौ ।

तृतीय अंक

[तब ललिता के बाद पौर्णमासी प्रवेश करती है]

पौर्णमासी—ललिता ! मैं कहते हुए लज्जा महसूस करती हू कि श्रीनन्दकुमार तुम्हारी सखी श्रीराधा के सङ्ग का अभिनन्दन नही करता है ॥१॥

ललिता—भगवति ! लोकातीत व्यक्तियो के दिल की बात दुर्वोध होती है, सहज मे प्रकाशित नही होती ॥२॥

पौर्णमासी—(सामने देखकर) बेटी ! देख, देख कदम्ब वाटिका मे मधुमङ्गल के साथ मधुसूदन आनन्द पूर्वक विचर रहे हैं ॥३॥

(फिर निरूपण करके कहती है)—

कल्याणमय केलि मुरली श्रीकृष्ण के हाथो मे शोभित हो रही है,

तयोर्मध्ये हीरोज्ज्वलविमलजाम्बूनदमयी
करे कल्याणीयं विहरति हरेः केलिमुरली ॥४॥१

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्ट कृष्णः)

कृष्णः—(सानुतापम्)

अपया नितरां पराङमुखी सहसा स्मेरसखीधृताञ्चला ।
गमिताद्य हठेन राधिका न कथं हन्त मया भुजान्तरम् ॥५॥२

(निःश्वस्य) सखे मधुमङ्गल, खञ्जरीटदृशः सा विलासमञ्जरी चोरयति मे चित्तचञ्चरीकम् ॥६॥ (इत्यौत्सुक्यं नाटयन् ।)

छिन्नः प्रियो मणिसरः सखि मौक्तिकानि
वृत्तान्यहं विचिनुयामिति कैतवेन ।
मुग्धं विवृत्य मयि हन्त दृगन्तभङ्गीं
राधा गुरोरपि पुरः- प्रणयाद्यतानीत ॥७॥३

पौर्णमासी—(दूरत एव कृष्णं निर्वर्ण्य साशङ्कम्)

उस मुरली के मुख की ओर का और पिछले सिरे का तीन तीन अगुल भाग इन्द्रनीलमणि से खचित और लाल वर्ण की मणियो द्वारा चारों ओर से घिरा हुआ है तथा दोनों भागों के बीच का भाग उज्ज्वल हीरे और निर्मल स्वर्ण से सुशोभित हो रहा है ॥४॥१॥

(उस के बाद यथा निरूपित स्वरूप से श्रीकृष्ण वहां प्रवेश करते हैं)

श्रीकृष्ण—(अनुताप पूर्वक) श्रीराधा अत्यन्त शर्माते एवं मुसकराते हुए हंसती हुई विशाखा का अञ्चल जब पकड़ रही थी, हाय ! आज मैं ने उसे जबरदस्ती अपनी भुजाओं मे क्यो न भर लिया ? ॥५॥२॥

(लम्बी सांस छोड़कर) मित्र मधुमङ्गल ! खञ्जनाक्षी वह विलास-मञ्जरी श्रीराधा मेरे चित्त भ्रमर को चुरा रही है ॥६॥

(इतना कहकर उत्सुकता दिखाते हुए)—"सखि ! मेरा प्रिय मणिहार टूट गया है, इसलिए पृथ्वी पर पड़े हुए मोतियों को चुने लेती हूँ"—ऐसा कहकर छल पूर्वक श्रीराधा ने अपने गुरुजनों के सामने भी अनुराग वश मेरे प्रति मनोहर कटाक्ष भङ्गि निक्षेप की थी ॥७॥३॥

अक्ष्णोर्द्वन्द्वं प्रसरति दरोद्घूर्णतारं मुरारे
श्वासाः चलूनां किल विचकिलैर्मालिकां म्लापयन्ति।
केयं धन्या वसति रमणी गोकुले क्षिप्रमेतां
नीतस्तीव्रामयमपि यया कामपि ध्यानमुद्राम् ॥

अथवा कृतं संदेहेन। वत्साः, राधिकैव खल्वत्र कारणम् ॥८॥४

श्रीकृष्णः—(पौर्णमासी पश्यन्नुपसृत्य) भगवति, प्रणमामि ॥६

पोर्णमासी—नागर, गोपीस्तनतटीष्वलंपटीभव ॥१०॥

श्रीकृष्णः—(किंचिद्विहस्य) कृतं पिष्टपेषिणीभिराशीर्भिर्यदहमेव गोपीति प्रसिद्धां श्यामां वल्लीमपि न पाणिपल्लवेन स्पृशामि ॥११॥

मधुमङ्गलः—(विहस्य) भोः, किं अम्हाणं सामए, गौरी ज्जेव्व मग्गिज्जइ। भोः, किमस्माकं श्यामया, गौर्येव मृग्यते।] ॥१२॥

पौर्णमासा—(सनर्मस्मितम्)

पौर्णमासी—(दूर से ही श्रीकृष्ण को देख शङ्का करते हुए) श्रीकृष्ण के दोनों नेत्र घूर्णिति से दीख रहे है और इसके लम्बे लम्बे सांस मल्लिका माला को मुरझाए दे रहे है। इस गोकुल मे ऐसी महाभागा कौन सी रमणी रहती है, जिसके गहरे ध्यान मे यह कृष्ण भी अतिशय मग्न हो रहे है ?—परन्तु इस मे कुछ सन्देह की बात नही है, ! निश्चय ही बेटी राधा इसका कारण है ॥८॥४॥

श्रीकृष्ण—*(पौर्णमासी को देखकर उसके निकट जाकर) भगवति !* प्रणाम करता हू ॥६॥

पौर्णमासी— नागर ! गोपी-वक्षोजो के लम्पट मत बनो ॥१०॥

श्रीकृष्ण—*(कुछ हंसते हुए) यह पिष्टपेश आशीर्वाद निरर्थक है (अर्थात् एक ही बात को बार बार कहना वृथा है) क्योकि मै तो गोपी* नाम से प्रसिद्ध श्याम वर्ण की लता को भी हाथ से नही छूता हूं ॥११॥

मधुमङ्गल—(हंस कर) हमें श्यामा (श्याम वर्ण वाली) से क्या प्रयोजन है, हम तो गोरी (गौर वर्ण वाली) को ढूण्ढ रहे है ॥१२॥

गोपेश्वरस्य तनयोऽसि नयोपपन्नः
ख्यातस्तथा व्रजकुले भुजयोर्बलेन।
लीलाशतैस्तदपि किं कुलपोषितस्त्व-
मुन्मादमुद्वहसि माधव राधिकायाः ॥१३॥५

मधुमङ्गलः—अइ विवरीदवादिणि बुड्डिए चिट्ठ चिट्ठ। [अयि विपरीतवादिनि वृद्धे तिष्ठ तिष्ठ।]।

तुज्झ राहिआए ज्जेव्व एसो अम्हं पिअवअस्सो उम्मादिओ।
जं सेहरसिङ्गवेत्ताइं दाणिं कहिं विभट्ठाइं ति ण जाणादि॥

[तव राधिकयैव एषोऽस्मत्प्रियवयस्य उन्मादितः।
यस्माच्छेखरशृङ्गवेत्राणीदानीं कस्मिन्विभ्रष्टानीति न जानाति]॥१४॥६

श्रीकृष्णः—(सलज्जम्) आर्ये, वाचाटोऽयं वटुर्मृषा जल्पति। किंतु निश्चितं ते व्याहरामि। न तासु मच्चित्तरागस्त्वद्गोपीषु। तदत्र तत्त्वतः पृच्छ्यतामयम् ॥१५

मधुमङ्गलः—अज्जे, सच्चं सच्चम्। अम्हपिअवअस्सहिअअस्स अज्जवि राओ तुम्हगोइआणं अङ्गेसु ण मए दिट्ठोत्थि। पत्युद तासं अङ्गराओ

पौर्णमासी—(परिहास युक्त हसते हुए)—हे माधव ! तुम गोपराज के पुत्र हो एवं न्याय परायण हो और शत शत लीलाओं का विस्तार कर अपनी भुजाओं के बल में इस गोकुल मे मशहूर हो, फिर तुम कुलरमणी श्रीराधा को क्यों उन्मादित कर रहे हो ? ॥१३॥५॥

मधुमङ्गल—अरी विपरीतवादिनी वृद्धे ! ठहर जा, ठहर जा, तेरी श्रीराधिका ने ही मेरे प्रिय मित्र को उन्मत्त कर रखा है, इसके मुकुट, शृंग, वेत कहा गिर पड़े है, यह कुछ नही जानता ॥१४॥६॥

श्रीकृष्ण—(लज्जा के साथ) आर्ये ! यह वाचाल ब्राह्मण पुत्र मिथ्या कहता है, किन्तु मैं तुम से सच कहता हूं कि तुम्हारी गोपियों के प्रति मेरे चित्त का अनुराग नही है। इसलिए यह बात सत्य है या झूंठ, तुम मधुमङ्गल से पूछो ॥१५॥

मधुमङ्गल—आर्ये ! यह बात सत्य है। मैं ने अपने प्रिय मित्र के हृदय का कस्तूरी-कुङ्कुमादि राग आज तक तुम्हारी गोपियों के अङ्गों मे

ज्जेव्व इमस्स हिअये दीसइ । [आर्ये, सत्यं सत्यम् । अस्मत्प्रियवयस्यहृदयस्य अद्यापि रागो युष्मद्गोपिकानामङ्गेषु न मया दृष्टोऽस्ति । प्रत्युत तासामङ्गराग एवास्य हृदये दृश्यते ॥१६

श्रीकृष्णः—(सप्रणयरोषम्) धिङ्मूर्ख, विश्रम्भादादृतोऽपि जिम्हतां न जहासि ॥१७॥

पौर्णमासी—सत्यमाह बटुः । तथाहि ।

> कामं सद्गुणमण्डलाश्रयतया तन्वन्महिष्ठां रुचिं
> वैचित्रीभरभाक्सदा शुभदशाश्रेणीश्रियामास्पदम् ।
> वंशीहुङ्कृतिलीलया शिथिलतामेणीदृशां नीयते
> वासः कंसनिषूदनाद्य भवता देहेषु गेहेष्वपि ॥१८॥७

मधुमङ्गलः—अज्जे, किं वि जाणासि जं वंसीहुंकिदिलीलाएत्ति भणासि । दिट्ठं तहिं दिअहे कण्णआणं तीरट्ठिदाइं अम्बराइं अप्पणो हत्थेण उवित्रविअ इमिणा वक्खन्धे णिक्खित्ताइं । [आर्ये, किमपि न जानासि

कभी नही देखा वल्कि उनका अङ्ग राग (कस्तूरी-केशरादि) ही इसके हृदय पर दीखता है ॥१६॥

श्रीकृष्ण—(प्रणय क्रोध के साथ) मूर्ख तुम्हें धिक्कार है, विश्वास पूर्वक आदर करने पर भी तू कुटिलता को नही छोडता ? ॥१७॥

पौर्णमासी—मधुमङ्गल ने ठीक कहा है, देख—

हे कंस नाशन ! जो समस्त मृगनैनी गोपियो के परिधेय वस्त्र शोभा गुणो के आश्रय रूप से महान कान्ति का विस्तार करने वाले थे, और जो भवन धन-धान्यादि सम्पत्ति व कुलीनतादि गुणो से शोभित हो रहे थे, तुमने आज अपनी वंशीध्वनि से वे सव देहवास (परिधान वसन) तथा गृहवास दोनों शिथिल कर दिये हैं अर्थात् तुम्हारी वंशीध्वनि सुनकर कुलीन रमणियों के परिधान वस्त्र ढीले पड़ गये है और वह अब घरो मे भी नहीं रह पाती हैं—उनके दोनो सुख शिथिल पड गए है ॥१८॥७।

मधुमङ्गल—भगवति ! क्या तुम कुछ भी नही जानती हो ? उस दिन मैं ने अपनी आखो से देखा है, कृष्ण ने व्रज कुमारियो के यमुना तट

यद्ग शोहुकृतिलीला इति भणसि। दृष्ट तस्मिन्दिवसे कन्यकात्ता तीरस्थिता-न्यम्बराण्यात्मनो हस्तेनोत्क्षिप्यानेन स्कन्धे निक्षिप्तानि।] ॥१९

श्रीकृष्ण —(सभ्रूभङ्ग बटुमावार्य) आर्ये, हुङ्कारादपि तथाभावाद्भव-द्गोपीनामभिव्यक्त साध्वीभावप्रभाव ॥२०

ललिता—(संस्कृतेन)

केनापि धूर्तपतिना खलु शिक्षितोऽसि
मन्त्र वशीकरणकारणमौषध वा।
पुण्योज्ज्वलान्यखिलगोपविलासिनीना
येन त्वया गृहसुखानि विलुण्ठितानि ॥२१॥८

मधुमङ्गल —सच्च कहेदि ललिदा। अण्णधा मन्तादिमन्तरेण पव्वदुत्तुङ्गा महादाणआ णविन्दीवरादोवि सोम्मसीअलपइदिणा कध इमिणा सहरिज्जन्ति। [सत्य कथयति ललिता। अन्यथा मन्त्रादिमन्तरेण पर्वतोत्तुङ्गा महादानवा नवेन्दीवरादपि सौम्यशीतलप्रकृत्या कथमनेन सह्रियन्ते।] ॥२२

ललिता—अज्ज जस्स सुमरण वि तथा संतावण त एद अप्पणो वअस्स मा क्खु सीअल भण। [आर्य, यस्य स्मरणमपि तथा सतापन

पर रखे हुए वस्त्र अपने हाथो से ही उठाकर कदम्बवृक्ष की शाखाओ पर फेंक दिये थे ॥१९॥

श्रीकृष्ण—(नेत्रो के इशारे से मधुमङ्गल को रोकते हुए) आर्ये! तुम्हारी हामी भरने से तुम्हारी गोपिकाओ के साध्वी भाव की महिमा ही प्रकट हो रही है ॥२०॥

ललिता—हे कृष्ण! तुमने किस धूर्त्तनायक से वशीकरण कारक मन्त्र अथवा औषधि की शिक्षा प्राप्त की है? जिससे तुमने समस्त पुण्यवान निर्मल गोपियो के गृह सुख को मिट्टी मे मिला दिया है ॥२१॥८॥

मधुमङ्गल—ललिते! तू सच कहती है, नही तो मन्त्रादि के बल बिना नवइन्दीवर से भी कोमल शीतल स्वभाव इस कृष्ण के द्वारा पर्वतो के समान महान दानवो का सहार कैसे सम्भव होता? ॥२२॥

ललिता—अरे मधुमङ्गल! जिसका स्मरण भी सन्ताप स्वरूप है,

तमेतमात्मनो वयस्यं मा खलु शीतलं भण ।] ॥२३

मधुमङ्गलः—भो वअस्स. पइदिसीअलो वि तुमं गोइआहिं उण्होत्ति भणिज्जसि । ता प्फंसिअ जाणिस्सम् । (इति कृष्णवक्षसि हस्तं न्यस्य ससंभ्रमम्· अहो. सच्चं ज्जेव्व कहेदि ललिदा । (क्षणं ·विमृश्य) ललिदे, विण्णादं विण्णादम् । तुअ राआ ण्चेअ णूणं उण्णा जाए हिअअवट्टिणीए चन्दकोडिसीअलो वि एस उण्णीकिदो । [भो वयस्य, प्रकृतिशीतलोऽपि त्वं गोपिकाभिरुष्ण इति भण्यसे । तत्स्पृष्ट्वा ज्ञास्यामि । अहो, सत्यमेव कथयति ललिता ललिते, विज्ञातं विज्ञातम् । तव राधिकैव नूनमुष्णा यया हृदयवर्तिन्या चन्द्रकोटिशीतलोऽप्येव उष्णीकृतः ।] ॥२४

ललिता—अज्ज, एत्थ राअपट्टपत्थरहिअए ताए दुरन्तपेम्मसोकुमज्जहदाए महसहीए कुदो पवेसो संभावीअदि । [आर्य अत्र राजपट्टप्रस्तरहृदये तस्या दुरन्तप्रेमसौकुमार्यहताया मत्सख्याः कुतः प्रवेशः संभाव्यते ।]२५

मधुमङ्गल.—(सरोषम्) चवले, अम्हवअस्सो तदो वि तुम्हसहीदो णिब्भरं सिणेहकोमलो ज एसो वञ्चिदनिन्दो जोइन्दो विअ एक्कग्गचित्तो णं ज्जेव्व सव्वदा चिन्तेइ । [चपले. मम वयस्यस्ततोऽपि तव सखीतो निर्भर स्नेहकोमलो यस्मादेष वञ्चितनिद्रो योगीन्द्र इव एकाग्रचित्त एनामेव सर्वदा

इस अपने प्रिय मित्र कृष्ण को शीतल मत कहो ॥२३॥

मधुमङ्गल—हे मित्र ! तुम स्वभाव से शीतल हो, फिर भी सब गोपिकाएं तुम्हें गरम कहती है। इसलिए तुम्हे स्पर्श करके देखूं । (इतना कहकर श्रीकृष्ण के वक्षस्थल पर हाथ धर कर सहसा कहता है) अहो ! ललिता सत्य ही कहती है। हे ललिते। मैं जान गया, जान गया।

तुम्हारी राधिका ही निश्चय बडी गरम है, जिसने हृदय मे प्रवेश कर कोटि चन्द्रो के समान शीतल इस कृष्ण को भी उत्तप्त कर दिया है ॥२४॥

ललिता—आर्य ! इस विराट-देशीय पत्थर के समान (विराट देश के हीरे के समान सुन्दर) हृदय मे दुरन्त प्रेम-सुकुमारिता से घायल हुई हमारी सखी का प्रवेश भला कैसे सम्भव हो सकता है ? ।.२५॥

मधुमङ्गल—(क्रोध मे भर कर) अरी चपले ! मेरा सखा तुम्हारी सखी के स्नेह से भरा अतिशय सुकोमल है, क्योंकि यह नींद को छोड़कर

चिन्तयति !] ॥२६

श्रीकृष्ण —(सापत्रपम्) धिग्बालिशा, कृतमलीकेन नर्मपुञ्जेन ॥२७

ललिता—(स्वगतम्) दिट्ठिआ वड्ढदि पिअसही। [दिष्टया वर्धते प्रियसखी ।] ॥२८॥

पौर्णमासी—सुन्दर, विश्राम्यतु नर्ममुद्रा।समाकर्णय मद्विवक्षितम् ॥२९

हित्वा दूरे पथि धवतरोन्तिक धर्मसेनो-
भङ्गोदग्रा गुरुशिखरिणं रहसा लङ्घयन्ती।
लेभे कृष्णार्णव नवरसा राधिकावाहिनी त्वां
वाग्वीचीभि किमिव विमुखीभावमस्या करोषि ? ॥३०॥६॥

मधुमङ्गल —अइ, सुद्धबुद्धिए अज्जवि एद ज्जेअ पुच्छसि। पेक्ख कूअताणं हदकोकिलाणं वित्तासणत्थं मए एद पुप्फकोदण्ड णिम्मिदम्।

योगेन्द्र को तरह एकाग्र चित्त होकर सदा श्रीराधा का ही चिन्तन किया करता है ॥२६॥

श्रीकृष्ण—(शर्माकर) मूर्ख धिक्कार है तुम्हे निराधार परिहासो का क्या प्रयोजन ? ॥२७॥

ललिता—मन-मन (मे) भाग्यवश प्रिय सखी राधा की बढोतरी हो रही है ॥२८॥

पौर्णमासी—हे सुन्दर ! अब परिहास को बन्द करो, मैं जो कहती हूँ उसे सुनो—

हे करुणासागर ! धर्म सेतु को तोडने मे समर्थ नवरस वाहिनी राधा-नदी धव * (पति रूप) वृक्ष को बडी दूर परित्याग कर अपने वेग से गुरुजन रूप पर्वत को लाघकर तुम्हारे पास पहुची है, फिर तुम क्यो वचन रूप तरङ्गो से उसे विमुखी कर रहे हो-अर्थात् उसे क्यो ठुकरा रहे हो ? ॥३०॥

मधुमङ्गल—अरी शुद्ध बुद्धे ! अभी तक तुम यही पूछ रही हो ? देख कूहू-कुहु शब्द करने वाली अभागिनी कोकिलाओ को डराने के लिए

---

* धव एक प्रकार का वृक्ष है, जहा वह रहता है, नदी उसके निकट कभी नही जाती, बल्कि उससे बहुत हटकर बहा करती है।

[अयि, शुद्धबुद्धचाद्यापीदमेव पृच्छसि । पश्य कूजतां हतकोकिलानां वित्रासनार्थं मयेदं पुष्पकोदण्डं निर्मितम् ।] ॥३१॥

पौर्णमासी—चन्द्रानन, सापि वत्सा—

आलीनां प्रतिहाररोधनविधौ वीक्ष्य प्रयत्नावलीं
बाला तर्कितमाधवीपदिमलस्फूर्तिर्भयाद्वेपते ।
किंचालोक्य सुधांशुकान्तसलिलस्पन्दामलिन्दे क्षणा-
देणाङ्कोदयशङ्किनी विकलतामातन्वती मूर्च्छति ॥३२॥१०॥

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्) हन्त, कठोरोऽयं दशाविवर्तः ॥३३॥

पौर्णमासी—सुन्दर,

प्रणयिषु मिलितेषु प्रेमभाजामुपेक्षा
घटयति कटुपाकान्युच्चकैर्दूषणानि ।
दिनमणिरनुरागी प्रोज्झ्य संध्यां हि रक्तां
तमसि निखिलमुग्रे मज्जयत्येष लोकम् ॥३४॥११॥

(कृष्णः सलज्जं सानन्दं नम्रीभवति)

पौर्णमासी—(पुनर्निभाल्य सानन्दं स्वगतम्) दिष्टचायं स्मितालि-

मैं ने यह पुष्प धनुष बनाया है ॥३१॥

पौर्णमासी—चन्द्रवदन ! वह वत्सा है, सखियों के रास्ता रोकने में अतिशय यत्न को देखकर वह कलिका माधवी के प्रसरणशील सौरभ के मारे कम्पित होती है और चान्दनी को देखकर चन्द्रकान्त मणि से जल झरते हुए देखकर चन्द्रोदय की आशङ्का में व्याकुल होकर मूर्छित हो जाती है ॥३२॥१०॥

श्रीकृष्ण—(मन मे) हाय ! यह कठोरता की पराकाष्ठा है ॥३३॥

पौर्णमासी—हे सुन्दर ! प्रेमियों के मिलने पर प्रेमी व्यक्ति की जो उपेक्षा है वह कठोरता की परम काष्ठा है, जो भारी दोषों को पैदा कर सकती है । देखो, सूर्य रक्त अनुरागिणी सन्ध्या को त्यागता है तो समस्त लोकों को घोर अन्धकार मे डाल देता है ॥३४॥११॥

(श्रीकृष्ण शर्माकर नीचा मुहँ कर लेते हैं)

पौर्णमासी—(फिर देखकर आनन्द सहित अपने मन ही मन में)

स्मितमङ्गीकुर्वन्दक्षिणं नयनमीलयवीक्षणम् । (प्रकाशम्) गोकुलानन्द, पुरस्तादिय। माकन्दवेदी स्वयमलङ्कर्तव्या निमीलति हेलिबिम्बे सख्योरेकतरा त्वामभीष्ट, देशं प्रापयति ।।३५।।

श्रीकृष्ण —(सापत्रपम्) यथाह भगवती । (इति सवयस्यो निष्क्रान्त)

पौर्णमासी—पुत्रि ललिते, काम निर्वृतास्मि । तदेहि । राधामनुसराव ।।३७।

(इत्युभे परिक्रामत)

(तत प्रविशति विशाखया सह सकथयन्ती राधा)

राधिका—(सस्कृतेन)

सखि जल्पितनारिकेलनीरं स्मितकर्पूरवृत हरेर्निपीय ।
तनुसङ्गसुधा विना न तस्य ज्वलिताह गरलेन जीवितास्मि ।।३८।।१२

विशाखा—अइ अविण्णादणिअमाहाद्म्ये, तादिसो तुह राअस्स गरिमा

बडा सौभाग्य है कि इसने मुसकान भरे इशारे से दाय नयन को झपकाया है। (स्पष्ट कहती है) हे गोकुलानन्द ! सामने वाली आम्रवेदिका को तुम अलकृत करो—अर्थात् उस पर बैठो। सूर्य प्रकाश अस्त होने पर ललिता-विशाखा मे से कोई एक आकर तुम्हे अभीष्ट स्थान पर ले जाएगा ।।३५

श्रीकृष्ण—(लज्जा सहित) भगवति ! जो-आज्ञा । (इतना, कहकर आम्र वेदिका की ओर मधुमङ्गल के साथ चल देते है) ।।३६

पौर्णमासी—पुत्रि ललिते ! यथेष्ठ रूप से निश्चिन्त हो गई हू। आओ राधा के पास चल ।।३७

(इस प्रकार कह दोनो चली जाती है) ।

[तत्पश्चात् विशाखा के साथ बात चीत करते करते श्रीराधा प्रवेश करती है]

श्रीराधिका—विशाखा ! श्रीकृष्ण वचन नारियल के जल के समान है और उसकी मुसकान कपूर सदृश । इन दोनो को एक साथ पानकर मैं अब विपकी ज्वाला म जली जा रही हू, अब उनके श्रीअङ्गसङ्ग-अमृत के बिना यह जीवन नही बच सकता ।।३८।।१२।।

विशाखा—राधे ! तू अपनी महिमा को नही जानती है-तुम्हारे

जेण सो वघु सामसुन्दरो वि बाढ रत्तीकिदो तथा वि अप्पणो मालिण्ण सङ्कसि। [अय्यविज्ञातनिजमाहात्म्ये, तादृशस्तव गारस्य गरिमा येन स खलु श्यामसुन्दरोऽपि बाढ रक्तीकृतस्तथाप्यात्मनो मालिन्य शङ्कसे।] ।३६॥

राधिका—(पुन सस्कृतेन)

नालीकिनीं निशि घनोत्कलिकामशङ्क-
क्षिप्त्वा वृतीरतनुवन्यगज क्षुणत्ति।
अत्रानुरागिणि चिरादुदितेऽपि भानौ
हा हन्त किं सखि सुख नविता वरावया ॥४०॥१३॥

पौणमासी—(पुरो राधा दृष्ट्वा) पुत्रि ललिते, सख्यास्तव प्रेमोक्तिमुद्रामुद्घाटयितुमुत्कण्ठितास्मि। तद्भवत्या तूष्णीमेव भवितव्यम् ॥४१॥

ललिता—ज आणवेदि तत्थहोदु। [यद्विज्ञापयति तद्भवतु।] ॥४२

पौणमासी—(राधामुपेत्य। सकैतवविषादम्)

भवदङ्गसङ्गविषये प्रियाक्तिभि
र्मुहुरर्थितोऽपि मदिराक्षि माधव ।

अनुराग की ऐसी गरिमा है कि वह श्यामसुन्दर भी अतिशय अनुरक्त हो रहे हैं परन्तु फिर भी तुम अपने मे दोषो की आशका कर रही हो ॥३९॥

श्रीराधिका—सखि! अध प्रफुल्लित कमलिनी को रात्रि मे यदि उखाड कर बलवान हाथी निभय होकर चूण चूणकर डालता है तो कमलिनी का अनुरागी सूय प्रभात मे उदित होकर उस अभागिनी कमलिनी को क्या सुख देगा? ॥४०॥१३॥

पौर्णमासी—(सामने श्रीराधा को देखकर) पुत्रि ललिते! तुम्हारी सखी श्रीराधा के द्वारा प्रेमोक्ति मुद्रा को स्पष्ट कराने के लिए मैं उत्कण्ठित हो रही हू। अत तुम जरा चुप रहना। ४१

ललिता—जैसी आज्ञा वैसे ही करूगी ॥४२

पौर्णमासी—(श्रीराधा के निकट आकर छल पूवक दुख के साथ) हे खञ्जनाक्षि। तुम्हारे अङ्गसङ्ग के लिए मधुर मधुरवाणी से मैं ने श्रीमाधव को बहुत प्राथना की है, परन्तु वह ता जरा भी सहमत नही हुआ। इसलिए

मनुते मनागपि न होति हृद्व्यथा-
प्रतिकारयुक्तिरपरा विधीयताम् ॥४३॥१४॥

राधिका—(सव्यामोहम्) अलं एत्थ लज्जिदेण। [अलमत्र लज्जितेन।] (इत्यञ्जलिं बध्वा)।

अब्भंलिहम्हि डहणे णडहं रङ्गणलदं लिहन्तम्हि।
का पडिआरे जुत्ति मुविकअ सामलघणुल्लासम् ॥
[अभ्रलिहे दहने कोमला रङ्गणलता लिहति।
का प्रतिकारे युक्तिस्त्यक्त्वा श्यामलघनोल्लासम्] ॥४४॥

पौर्णमासी—

जरत्यास्त्वं नप्त्री स तु कमलया लालितपदः
कथकार तस्मै मुहुरसुलभाय स्पृहयसि।
प्रसीद व्याहारे मम रचय चेतो दिविचर
गृहीतुं पाणिभ्यां विधुमहह मा भूःकुतुकिनी ॥४५॥१५॥

राधिका—(सगद्गदम् सस्कृतेन)

मया ते निर्बन्धान्मुरजयिनि रागः परिहृतो
मयि स्निग्धे किंतु प्रयय परमाशीस्ततिमिमाम्।

अपनी हृदय व्यथा का कोई दूसरा इलाज सोचो ॥४३॥१४॥

श्रीराधिका—(दुख पूर्वक) इस विषय मे लज्जित होने का कोई प्रयोजन नही है, (इतना कहते हुए हाथ जोड़कर) कोमल रंगणलता को जलाने के लिए यदि आकाश व्यापी अग्नि जल उठे तो घडे के पानी से क्या उसे बुझाया जा सकता है? श्याम-मेघ द्वारा भारी वर्षा के बिना उसे बुझाने का और कोई उपाय नही ॥४४

पौर्णमासी—राधे! तू मुख बुढ़िया की दोहत्री है और लक्ष्मी उसके चरणो की सेवा करती है। फिर तुम कैसे उस दुर्लभ वस्तु (श्रीकृष्ण) को पाने की इच्छा करती हो? इसलिए तुम मेरे वचनो को चित्त मे प्रसन्नता पूर्वक धारण करो। आकाश मे चन्द्र को हाथो से पकड़ने का कौतुक करने वाली मत बनो ॥४५॥१५॥

श्रीराधिका—(गदगद वाणी से)—भगवति! मैं ने तुम्हारे आग्रह से कृष्ण के प्रति अनुराग को छोड़ दिया। परन्तु तुम मेरे लिए यह

मुखामोदोद्गारग्रहिलमतिरद्य व　हि　यत
प्रदोषारम्भे　स्या　विमलवनमालामधुकरी ॥४६॥१६॥

(इति वैवश्य नाटयति)

विशाखा—भअवदि　परित्ताहि परित्ताहि। इअ उ णिदणेत्ता कपि दारुणं दसाविसेस　लहेदि राही। [भगवति, परित्राहि परित्राहि। इयमुत्तानितनेत्रा कमपि दारुण दशाविशेष लभते राधा।] ॥४७॥

पौर्णमासी—(सावेगम्) हा धिक्। केयं बलादाकृष्टा महाविपत्काल-सर्पी। (इति सदय राधामालिङ्गच) वत्से, समाश्वसिहि समाश्वसिहि। भावाभिव्यक्तये प्रोत्यापितासि। तदिद यथार्थमाकर्ण्यताम् ॥४८॥

अमितविभवा यस्य प्रेक्षालवाय भवादयो
भुवनगुरवोऽप्युत्कण्ठाभिस्तपासि,वितन्वते।
अहह गहनादृष्टाना ते फल किमभिष्टुवे
सुतनु स　तनुर्जज्ञे कृष्णस्तवेक्षणतृष्णया ॥४८॥१७॥

आशीर्वाद करो कि　मैं आज सन्ध्या होते ही उनके　वचनो मे मन लगाकर उन की निर्मल　बनमाला की मधुकरी बन जाऊ—(अर्थात् इस शरीर को त्यागकर उनकी वनमाला की मधुकरी बन जाऊ) ॥४६॥१६॥

(इतना कहकर बेसुध हो जाती है)

विशाखा—भगवति! रक्षा करो, रक्षा करो देखो राधा के नेत्र ठहर गए है, कैसी इसकी दारुण दशा हो रही है? ॥४७

पौर्णमासी—(उद्वेग पूर्वक)—हाय! धिक्कार! मैं ने हठात् महा विपद रूप काल सर्पिणी को क्यो बुला लिया? (इतना कहकर दया पूर्वक श्रीराधा को आलिगन करके) पुत्रि! धीरज धरो, धीरज धरो, मैं ने तुम्हारे भावो को जानने के लिए परिहास किया था, अब यथार्थ बात सुनो ॥४८

हे सुन्दरि! जिनके लेशमात्र दर्शन प्राप्त करने के लिए त्रिभुवन पति शकरादि भी उत्कण्ठा सहित तपस्या किया करते हैं वह श्रीकृष्ण तुम्हारे दर्शनो की लालसा से अति क्षीण हो रहे है! तुम्हारे महान भाग्यो की मैं और क्या सराहना करू? ॥४६॥१७॥

ललिता—(संस्कृतेन)

त्वद्वार्तोत्तरगीतगुम्फितमुखो वेणुः समन्तादमु-
त्वद्वेशोचितशिल्पकल्पनमयी सर्वा बभूव क्रिया।
त्वन्नामानि बभूवुरस्य सुरभीवृन्दानि वृन्दाटवी
राधे त्वन्मयवल्लिमण्डलघना जाताद्य कंसद्विषः ॥५०॥१८॥

राधिका—(समाश्वस्य स्वगतम्) चञ्चल हे चित्त, अज्जवि ण पत्तिआएसि। [चञ्चल हे चित्त, अद्यापि न प्रत्याययसि।] ॥५१॥

पौर्णमासी—पुत्रि ललिते, बाढं प्रगल्भासि। तद्विशाखा याव-न्माकन्दमूलान्मुकुन्देन सह प्रत्यावर्तते तावदत्र संकेतिते कर्णिकारकुञ्जे गोपय त्व गोपालिकाभ्यो राधिकाम्। मया तु स्वकृत्याय गन्तव्यम् ॥५२॥

(इति तिस्रोऽपि निष्क्रान्ताः)

विशाखा—(दूरं परिक्रम्य) सो माकन्दो एसो पुरो दीसइ जत्थ कण्हो। [स माकन्द एष पुरो दृश्यते यत्र कृष्णः।] ॥५३॥

ललिता—हे राधे! श्रीकृष्ण की वंशी सदा तुम्हारे ही चरित्र का गान करती रहती है, वे तुम्हारी वेश-रचना के योग्य ही समस्त शिल्प क्रिया करते रहते है, समस्त गौएं तुम्हारे नाम की हो रही हैं अर्थात् गौओं को बुलाते समय वे राधे राधे ही उच्चारण करते है। हे सुन्दरि! श्रीकृष्ण के लिए लतासमूह मण्डल यह श्रीवृन्दावन इस समय राधामय ही हो रहा है—सर्वत्र उन्हें तुम्हारा ही स्वरूप स्फुरित होता है ॥५०॥१८॥

श्रीराधिका—(धैर्य पूर्वक मन-मन मे) अरे चञ्चल चित्त! अब भी तू विश्वास नही करता है ॥५१

पौर्णमासी—पुत्रि ललिते! तू अति चतुर है, इसलिए जब तक विशाखा आम वृक्ष के नीचे बैठे श्रीकृष्ण को लेकर लौट नही आती, तब तक तू इस निश्चित कर्णिका-कुञ्ज में राधा को गोपवधूओं से छिपा के रख। मैं अपने काम के लिए जा रही हूं ॥५२

(इतना कहकर तीनों चली जाती हैं)

विशाखा—(कुछ दूर जाकर) सामने यह वही आम वृक्ष दीखता है, जहा श्रीकृष्ण बैठे है ॥५३

(तत प्रविशति कृष्णः)

श्रीकृष्णः—(सोत्कण्ठ प्रतीचीमवलोक्य)

सद्यस्तप्तहिरण्यपिण्डमधुरं चण्डत्विषो मण्डलं
सङ्ग हन्त तरङ्गिणीरतिगुरोरङ्गीचकाराम्भसि ।
द्रागेतान्यपि घूकनेत्रपटलीसिद्धाञ्जनक्षोदतां
बिभ्रन्ति द्विपविभ्रमाणि रुरुधुर्ध्वान्तानि वृन्दावनम् ॥५४॥१९॥

(सोत्सुक्य पन्थानमुद्वीक्ष्य) कथमद्यापि सखी काचिन्नेत्राध्वनि मे नावततार ।
(इति परावृत्य प्राची पश्यन्) ।

सान्द्रा सुप्तकुमुद्वतीकुलवधूनिद्राभिदाकोविदाः
कुर्वाणा कलुषश्रियं परिभवातङ्केन पङ्केजिनीम् ।
सरम्भादभिसारिकाभिरसकृत्याकृष्यमाणादृगमा-
भास शीतकरस्य हन्त हरितं पूर्वां परिष्कुर्वते ॥५५॥२०॥

(इति वैयग्रच नाटयति)

ध्यात्वा धर्मं धृतिमुदयिनी किं बबन्धाद्य राधा
तीव्राक्षेपैः किमुत गुरुभिर्लम्भिता वा निवृत्तिम् ।

(तब श्रीकृष्ण प्रवेश करते है)

श्रीकृष्ण—(उत्कण्ठा सहित पश्चिम की ओर देखते हुए) हाय ! अब तो तप्त स्वर्णपिण्ड की तरह उज्ज्वल प्रचण्ड सूर्य मण्डल समुद्र जल से मिलने लगा है, इसलिए पेचक नेत्रो के सिद्ध अजन-चूर्ण को प्राप्तकर अन्धकार ने हाथियो के समूह का भ्रम पैदा करते हुए वृन्दावन को घेर लिया है ॥५४॥१९॥

(उत्कण्ठासहित रास्ते को देखते हुए) कोई भी सखी अभी तक आती दिखाई नही दे रही है। जाने क्यो ? (इतना कहकर पीछे घूमकर पूर्व दिशा की ओर देखते हुए) आहा ! सोती हुई कुमुदिनी रूप कुलाङ्गनाओ की निद्रा भङ्ग करने मे चतुर यह चान्दनी, सूर्य अस्त होने के कारण सकुचित कमलिनियो की शोभा को मलिन करते हुए तथा क्रोधित अभिसारिकाओ से तिरस्कृत हो पूर्व दिशा को अलकृत कर रही है ॥५५॥२०॥

(यह कहकर व्याकुलता दिखाते है)

क्या राधा धर्म का विचार कर धीरज से बैठ गई है ? अथवा गुरु-

किं वा कष्टामभजत दशां तामविस्पन्दमन्दा-
मिन्दो विन्दत्युदयमपि यन्नाजगामाद्य दूती ॥५६॥२१॥

विशाखा—(लतान्तरे सोद्ग्रीविकम्) एसो णूणं उक्कण्ठाए मह्ज्जेव पअवीं विलोएदि कण्हो। ता खणं परिहसिस्सम्। [एष नूनमुत्कण्ठया ममैव पदवीं विलोकयति कृष्णः। तस्मात्क्षणं परिहासं करिष्ये।] ॥५७॥

श्रीकृष्णः—(सानन्दम्) इयं विशाखापि चञ्चलपञ्चशाखासखी मिलिता। (इत्युपसृत्य) सखि, तवोपलम्भात्तामेव रम्भोरं लब्धामवैमि यद्विशाखाराधयोरद्वैतम् ॥५८॥

(विशाखा मुखमानमय्य मौनमालम्बते)

श्रीकृष्णः—सखि, किमत्र तूष्णीमसि ॥५९॥

विशाखा—चन्दमुह, मन्दभाइणी म्हि। ता किं विण्णविस्सम्। [चन्द्रमुख, मन्दभागिन्यस्मि। तस्मात्किं विज्ञापयिष्ये।] ॥६०॥

श्रीकृष्णः—(सशङ्कम्) किमर्थमिदम् ॥६१॥

जनों द्वारा कठोर आक्षेपों के भय से रुक गई हैं ? या वह अचेतन होकर किसी कष्ट अवस्था में पड़ी हुई है. कुछ भी हो, चन्द्र तो उदित हो आया है किन्तु अभी तक कोई दूती भी नहीं आई ॥५६॥२१॥

विशाखा—(लता के पीछे से गर्दन ऊंची करके उत्कण्ठा पूर्वक सोचती है) निश्चय ही यह श्रीकृष्ण मेरी राह देख रहे हैं, इसलिए एक क्षण काल के लिए इनसे परिहास करूं ॥५७

श्रीकृष्ण—(आनन्द पूर्वक) राधा की सखी ही विशाखा हाथ हिलाती हुई आ रही है। (निकट जाकर) सखि ! मैं तुम्हारे आने को रम्भोरु राधा के आगमन समान समझता हूं, क्योंकि तुम में और राधा में कोई भेद नहीं है ॥५८॥

(विशाखा मुख को नीचे झुका कर चुप खड़ी रहती है)

श्रीकृष्ण—विशाखे ! तुम कैसे चुप खड़ी हो ? ॥५९॥

विशाखा—हे चन्द्रवदन ! मैं मन्दभागिनी हूं, इसलिए और क्या बताऊं ? ॥६०॥

श्रीकृष्ण—(शंका सहित) इसका अभिप्राय ? ॥६१॥

विशाखा—सुन्दर, ण मे सरस्सइ निस्सरदि। होदु। तधा वि संवरिदुं ण जुत्तमिदम्। (इति मुखवैकृत्यमभिनीय) भो भट्टिदारअ, सा पिअसही अहिमण्णुणा हदासेण महुरापत्तणम्मि—[सुन्दर, न मे सरस्वती नि.सरति। भवतु तथापि गोपायितुं न युक्तमिदम्। भो भर्तृदारक सा प्रियसखी अभिमन्युना हताशेन मथुरापत्तने—।] (इत्यर्धोक्ते शुष्क रोदिति) ॥६२॥

श्रीकृष्ण —(सव्यथम्) कदा नाम नीता ॥६३॥

विशाखा—जदा भअवदी तुम्ह सआसं लद्धा। [यदा भगवती तव सकाश लब्धा।] ॥६४॥

श्रीकृष्णः—(सखेदम्) विशाखे, कथकारं नीता ॥६५॥

विशाखा—तुअम्मि भाअं तक्किअ। [त्वयि भावं तर्कयित्वा।] ॥६६

श्रीकृष्ण.—कथं स तर्कितः ॥६७॥

विशाखा—लोओत्तरीहोन्तो अत्थो ण कस्स तक्कणिज्जो होइ। [लोकोत्तरोभवन्नर्थो न कस्य तर्कणीयो भवति।] ॥६८॥

श्रीकृष्ण —ग्लपयति वपुर्दुर्लीलो मे बलान्मलयानिलो
विकिरति करैरिन्दु क्षोद तुषाग्निभवं रुषा।

विशाखा—हे सुन्दर! मेरे मुहँ से बात नही निकल पा रही, है फिर भी चुप रहना उचित नही है (इतना कहकर मुहँ बनाते हुए) हे राजकुमार! अभिमन्यु हताश होकर राधा को मथुरा नगरी मे—(इतना आधा वाक्य कहकर विशाखा सूखा रोना रोती है) ॥६२॥

श्रीकृष्ण—(दुख सहित) कब ले गया ? ॥६३॥

विशाखा—जब पौर्णमासी तुम्हारे पास आई थी ॥६४॥

श्रीकृष्ण—(खेद सहित) क्यो ले गया है ? ॥६५॥

विशाखा—तुम्हारे मे भाव की आशका करके ॥६६॥

श्रीकृष्ण—(दुख पूर्वक) उसे कैसे शका पैदा हुई ॥६७॥

विशाखा—तुम्हारे लोकोत्तर भावो को देखकर किसको शका नही होती है ? ॥६८॥

श्रीकृष्ण—एक तो दु शील मलयाचल की पवन बल पूर्वक मेरे शरीर

मदनहतकस्तर्जत्येष स्फुटैरलिहुंकृतै-
स्त्रुटिरपि विना राधां नेतुं मया न हि शक्यते ॥६६॥२२॥

(इति व्यामोहं नाटयति ।)

विशाखा—(सखेद ससम्भ्रमम्) गोउलानन्द, समासस समासस। मए क्खु परिहसिदम्। सा तवस्सिणी ताए रङ्गणमालिआए रक्खिदपाणत्थि। [गोकुलानन्द, समाश्वसिहि समाश्वसिहि। मया खलु परिहसितम्। सा तपस्विनी तया रङ्गणमालिकया रक्षितप्राणास्ति।] ॥७०॥

श्रीकृष्ण —(समाश्वस्य) धूर्ते, भद्रेण कर्दयितोऽस्मि ॥७१॥

विशाखा—अप्पणो गुणं ण सुमरसि। [आत्मनो गुणं न स्मरसि]७२

श्रीकृष्ण —सखि, वर्ण्यतां प्रेम्णामङ्कः प्रियायाः ।७३॥

विशाखा—(संस्कृतेन) ।

दूरादप्यनुषङ्गतः श्रुतिमिते त्वन्नामधेयाक्षरे
सोन्मादं मदिरेक्षणा विदधती धरां मुहुर्वेपथुम्।

को मुरझाय दे रही है, दूसरे चन्द्र क्रोधित होकर अग्नि चूर्ण की तरह तुषार बरसा रहा है, और फिर नीच कामदेव भवरों के द्वारा स्पष्ट रूप से भर्त्सना कर रहा है हाय! मैं श्रीराधा के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता हू ॥६६॥२२॥

(इतना कहकर अचेतन हो गिर पडते हैं)

विशाखा—(खेद पूर्वक घबरा कर) हे गोकुलानन्द! धीरज धरो, धीरज धरो, मैंने परिहास किया है, वह तपस्विनी श्रीराधा तुम्हारी रगणमाला से अपनी प्राण रक्षा कर रही है ॥७०॥

श्रीकृष्ण—(धैर्य धारण कर) अरी धूर्त! तुमने अच्छी पीडा दी।७१

विशाखा—अपने गुणों को याद नहीं करते हो? ॥७२॥

श्रीकृष्ण—सखि! प्रिया के प्रेम-चिह्नों का तो वर्णन कर ॥७३॥

विशाखा—हे कृष्ण! प्रसङ्गवश दूर से ही तुम्हारे नामाक्षर के कानों में पड़ते ही यह खञ्जन नयनी राधा उन्मत्त होकर चीत्कार करते

आः किं वा कथनीयमन्यदपि ते दैवाद्वराम्भोधरे
दृष्टे तं परिरब्धुमुत्सुकमतिः पक्षद्वयीमिच्छति ॥७४॥२३॥

श्रीकृष्णः—तदेहि । सत्वरमेव प्रेयसीं प्रेक्षावहि ॥७५॥

(इति परिक्रामतः)

(ततः प्रविशति ललितयाराध्यमाना राधा)

राधा—(सखेदम् संस्कृतेन)

प्रत्यूहेन पराहता नु किमभूद्गन्तुं सखी न क्षमा
तस्याः किं नु निवेदितेन हि हरिर्विश्रम्भमस्यायवौ ।
हा हन्त प्रतिकूलतां मयि गतः किंवा विधिर्दारुणो
यद्दूराद्वनमालिकापरिमलोऽप्यद्यापि नासाद्यते ॥७६॥२४॥

विशाखा—(पुरोऽनुसृत्य संस्कृतेन)

नम्रीकृत्य शिरो मुहुस्तरुवृतामालोकते वर्तनी-
मुत्थाय क्षणमासनात्पुनरहो भ्रान्ता निषीदत्यसौ ।

करते कापने लगती है । हाय ! और अधिक क्या बताऊँ दैवयोग से यदि वह कृष्ण वर्ण नवीन मेघ को देख ले तो उत्कण्ठित चित्त से उसे आलिगन करने के लिए पंख लगाकर उड़ना चाहती है ॥७४॥२३॥

श्रीकृष्ण—तब आओ शीघ्र चलकर श्रीराधा को देखे ॥७५॥

(इतना कहकर दोनों लौट जाते है । तब ललिता द्वारा आराधित श्रीराधा प्रवेश करती है)

श्रीराधा—(खेद पूर्वक) ऐसा लगता है कोई विघ्न पड जाने से विशाखा श्रीकृष्ण तक नही जा सकी है, अथवा उन्हे निवेदन करने पर उन्होने उस पर विश्वास नही किया है। हाय । या तो कठोर विधाता ही मेरे प्रतिकूल हो गया है, नही तो दूर से अभी तक वनमाला की सौरभ क्यों नही आ रही ? ॥७६॥२४॥

विशाखा—(आगे बढ़कर) हे कृष्ण ! देखो, सामने श्रीराधा मस्तक झुकाकर बारम्बार वृक्षो से घिरे मार्ग को देख रही है, भ्रान्त होकर एक क्षण मे आसन से उठ खडी होती है, दूसरे क्षण मे फिर बैठ जाती है एवं दो

द्वित्राण्येत्य पदानि वीक्ष्य ललितां भूयः परावर्तते
पश्याग्रे तव संगमोत्सुकतया राधा परिक्लाम्यति ॥७७॥२५॥

श्रीकृष्णः—

वदनदीप्तिविधूतविधूदया कुमुदधामधुरामधुरस्मिता ।
नखजितोडुरियं हरिणेक्षणा तृणयति क्षणदामुखमाधुरीम् ॥७८॥२६

राधिका—(सकातर्यम् सस्कृतेन)

दृग्भङ्गीनां किमु परिमलैः प्रेयसीभिर्निरुद्धः
किं वा स्वैरी मयि विहितवानुद्धतायामुपेक्षाम्
हा चान्द्रीभिर्द्युतिभिरभितो प्रस्यमानेऽपि लोके
प्राप्तो नाद्य यदि हलतिकामन्दिरे नन्दसूनुः ॥७९॥२७॥

श्रीकृष्ण.—(पुरोऽनुसृत्य) अहो, साधीयान्प्रसादः पौर्णमास्या., यदियमामोदयति कौमुदी ॥८०॥

तीन कदम चलकर फिर ललिता को देखकर वापस लौट जाती है। हाय ! आपके मिलने के लिए उत्कण्ठित होकर वह अतिशय कष्ट पा रही है ॥७७॥

श्रीकृष्ण-आहा ! श्रीराधा के मुख की कान्ति देखकर चन्द्रोदय से भी घृणा होती है। इसकी मधुर मुसकान कुमोदनियों की शोभा का घर है एवं यह अपने नखों की कान्ति द्वारा तारागणों को पराजित कर रही है, मृग-नयनी इस श्रीराधा के आश्चर्यमय माधुर्य ने प्रदोष कालीन मधुरिमा को तिनके के समान कर डाला है ॥७८॥२६॥

श्रीराधिका—(व्याकुलता सहित) हाय ! प्रेमसीगण ने क्या नेत्र भङ्गी से श्रीकृष्ण को रोक लिया है, किंवा वे स्वेच्छाचारी हैं, क्या उन्होंने मेरी उद्धता को देखकर मेरी उपेक्षा कर दी है ? हाय ! अब चन्द्र की किरणों से समस्त जगत् परिपूर्ण हो रहा है, परन्तु लता मन्दिर से अभी तक तो श्रीनन्दनन्दन नहीं आए ॥७९॥२७॥

श्रीकृष्ण—(आगे बढ़कर) आहा ! पौर्णमासी की कैसी अति उत्कृष्ट प्रसन्नता है कि जिससे कौमुदी अति सुख दे रही है।

(पक्षान्तर में—पौर्णमासी देवी की कैसी महान् कृपा है कि जिससे यह चन्द्र कान्ति श्रीराधा अति आनन्द प्रदान करने लगी है) ॥८०॥

राधिका—(चमत्कृतिमभिनीय स्वगतम्) हं, एत्तिअ भाअधेआणं वि भाअणं संवुत्तो एस जणो। [अहो, एतावद्भागधेयानां अपि भाजन संवृत्त एष जनः।] (इति वैवश्यमालम्बते)। ८१॥

विशाखा—(संस्कृतेन)

अहो धन्या गोप्यः कलितनवनर्मोक्तिभिरलं
विलासैरानन्दं दधति मधुरैर्या मधुभिदः।
धिगस्तु स्वं भाग्यं मम यदिह राधा प्रियसखी
पुरस्तस्मिन्प्राप्ते निविडजडिमाङ्गी विलुठति ॥८२॥२८।

ललिता—अइ लज्जालुए राहिए, अग्गदो एसो दे माणसहंसहरो णाअरो। ता मा क्खु सज्झसेण विब्भला होहि, जं पगब्भदा जेव्व अज्ज कज्जसाहिणी। [अयि लज्जालुके राधिके। अग्रत एव ते मानसहंसहरो नागरः। तन्मा खलु साध्वसेन विह्वला भव। यस्मात्प्रगल्भतैवाद्य कार्य—साधिनी।] (इति राधिकां बलादिवाकृष्य कृष्णान्तिकमानाय च संस्कृतेन)।

विदूरादालोक्य प्रबलतरतृष्णातरलितः
सखीचेतोहंसस्तव वदनपद्मे निपतित।

श्रीराधिका—(विस्मित होकर मन ही मन मे) आहा ! मुझ जैसो नारी का क्या ऐसा भाग्य उदय हुआ है ? (इतना कहकर वेसुध हो जाती हैं)॥८१

विशाखा—आहा ! ये सब गोपीगण मधुर विलास युक्त नवीन नर्मोक्तियों द्वारा श्रीकृष्ण का अतिशय आनन्द- विधान कर रही है, ये धन्य हैं। किन्तु मेरे भाग्यों को धिक्कार है कि श्रीकृष्ण के सामने आते ही मेरी *प्रिय सखी श्रीराधा बिल्कुल वेसुध होकर पृथ्वी पर गिर गई है ॥८२॥२८॥*

ललिता—अरी ओ लज्जाशील राधे ! देख, तेरे मानस हस को चुराने वाला नागर तेरे सामने उपस्थित है। इसलिए इसे देखकर अब तू भय से व्याकुल मत हो, चतुरता ही आज कार्य साधित करेगी ॥८३॥

(इतना कहकर बल पूर्वक श्रीराधा को खीचकर श्रीकृष्ण के निकट लाकर कहती है)।

हे कृष्ण ! दूर से ही तुम्हें देखकर हमारी प्रिय सखी राधा का चित्त रूपी हंस प्रबलतर तृष्णा से व्याकुल होकर तुम्हारे मुख कमल पर जा गिरा

भ्रमद्भ्रू पाशाभ्यां कितव तमबध्नादिह भवान्
किमस्मासु न्याय्या व्यवसितिरियन्ते विसदृशी ? ॥८४॥२६॥

श्रीकृष्णः-(स्मित्वा) ललिते, मद्विधा खल्वबलार्थहारिणो न भवन्ति ॥८५

विशाखा—धम्मिअ, सच्चं सच्चम् । भद्दआलितीत्थकलम्बो ज्जेव अत्थ पमाणम् । [धार्मिक, सत्य सत्यम् । भद्रकालीतीर्थकदम्ब एवात्र प्रमाणम् ।] ॥८६॥

श्रीकृष्णः—सखि ललिते, मद्विशुद्धौ कथं वः प्रतीतिः ? ॥८७॥

ललिता—छइल्ल परिक्खाविहाणेण । [विदग्ध परीक्षाविधानेन ।]८८

श्रीकृष्णः—वामे, कामं कथ्यतां परीक्षा । मम भ्राजिष्णुरयं कीर्ति-शुभ्रांशुर्न मृषा कलङ्कीकर्तुं शक्यते ॥८९॥

ललिता—(संस्कृतेन)

त्वमुग्रद्वे राधास्तनकनककुम्भान्तरमिलं-
सनूजालीकालोरगयुवतिमूर्धप्रणयिनि ।

है । तुमने उसे अपनी भ्रकुटि-पाशों से नहीं बान्ध लिया ? हे कितव ! हमारे प्रति यह तुम्हारा उलटा भाव क्या न्याय संगत है ? ॥८४॥२६॥

श्रीकृष्ण—(मुसकरा कर) ललिते ! मुझ जैसे व्यक्ति कभी भी अबला सम्पत्ति का हरण नहीं करते हैं ।८५॥

विशाखा—हे धार्मिक ! सत्य है सत्य, 'भद्रकाली तीर्थस्थ कदम्ब वृक्ष इस विषय मे साक्षी है (अर्थात् कात्यायनी पूजा स्थल पर जो कदम्ब का वृक्ष है वह आपकी इस बात का साक्षी है । हम अवलाओ के चीर चुरा-कर आप ही तो उस कदम्ब पर चढ गए थे ।) ॥८६॥

श्रीकृष्ण—सखि ललिते ! मेरी निर्दोषता मे आप को कैसे विश्वास हो ? ॥८७॥

ललिता—हे विदग्ध ! परीक्षा करने पर ॥८८॥

श्रीकृष्ण—हे वक्रचित्ते ! जो इच्छा हो वह परीक्षा कह दे । निर्मल यश रूपी चन्द्र को झूँठा कलंकित नहीं कर पाओगी ॥८९॥

ललिता—हे कृष्ण ! श्रीराधा-वक्षोज रूप कनक-कुम्भो के मध्य स्थित उस की नाभि से उत्पन्न होने वाली लोमावली रूप जो काली नागिन

यदि क्षोभोन्मुक्तः कलयसि करं नायकमणौ
ततस्ते ध्वस्ताङ्कः प्रचरति यशोमण्डलशशी ॥९०॥३०॥

श्रीकृष्णः—(कृत्रिमत्रासमभिनीय) हन्त निष्ठुरे, नाम्नैव ललितासि, दवल्पीयसि तावदर्थे गरीयसीं सर्पघटाख्यां परीक्षामुपक्षिपसि ॥९१॥

राधिका—(सप्रणयेर्ष्यम्) ललिदे, चिट्ठ चिट्ठ। [ललिते, तिष्ठ तिष्ठ।] (इति सभ्रूभङ्गमवलोकते) ॥९२॥

ललिता—विसाहे, णट्ठघणुद्देसआरिणीं मं कीस तज्जदि राहिआ ? [विशाखे, नष्टघनोद्देशकारिणी मां कस्मात्तर्जयति राधिका ?] ॥९३॥

विशाखा—ललिदे, इमाए ह्रिअअट्ठिदं आऊदं मए जाणीअदि। [ललिते, अस्या हृत्स्थितमाकूतं मया ज्ञायते।] ॥९४॥

विशाखा—तं कधेहि। सुणिस्सम्। [तत्कथय, श्रोष्यामि।] ॥९५

विशाखा—(संस्कृतमाश्रित्य)

स्पृशन्तं यो मेघानघमनघकर्मा समवधी—
द्विषज्वालाजालोन्मदमदमयत्कालियमहिम्।

है उसके मस्तक मे जो नायक मणि विराजमान है, यदि तुम अक्षोभचित्त से उसमें हाथ लगा सको, तभी तुम्हारा यश चन्द्र अकलंकित विख्यात हो सकता है। ९० ३०॥

श्रीकृष्ण—(बनावटी भय प्रकाश करते हुए) हाय ! तू बड़ी निठुर है। नाम से तू ललिता है। किन्तु अति छोटे से काम के लिए तू इतनी बड़ी सर्पघट नामक परीक्षा करना चाहती है ?॥९१॥

श्रीराधा—(प्रणय ईर्ष्या पूर्वक) ललिते ! चुप रहो ॥९२॥

(इतना कहकर नेत्र कटाक्ष करते हुए देखने लगती है),

ललिता—विशाखे ! खोये हुए धनको प्राप्त करने का मैं यत्न कर रही हू फिर श्रीराधा मुझे क्यो फटकार रही है ?।९३॥

विशाखा—ललिते ! मैं श्रीराधा के मन की बात को जान गई हू ॥९४

ललिता—बता वह क्या है ? मैं तो सुनूं ॥९५॥

विशाखा—सखि ! जिसने गगन स्पर्शी अघासुर का संहार कर दिया एव विषज्वाला उगलते हुए कालियनाग का दमन कर दिया था, जिसके

अकार्षीद्गोपेन्द्रद्रुहमजगरं दिव्यपुरुषं
भुजङ्गाचार्येऽस्मिन्किमिव घटते पन्नगघटः ? । ९६॥३१॥

ललिता—(विहस्य) हला राहि, अप्पणो परिअररूवाए ण जाणासि माहप्पं इमाए रोमाअलीभुअगोए ? पेक्ख । तह हि । [सखि राधे, आत्मन. परिकररूपाया न जानासि माहात्म्यस्याः रोमावलीभुजग्याः ? पश्य, तथा हि] ॥

अवि गरुडस्स सिहामणिमुरगवहूगब्भहारिविरुदस्स ।
पहवइ सहि मोहेदुं तुह णअरोमाअलीभुअगी ॥
[अपि गरुडस्य शिखामणिमुरगवधूगर्भहारिविरुतस्य ।
प्रभवति सखि मोहयितुं तव नवरोमावलीभुजगी] ॥९७॥३२॥

राधिका—(सप्रणयरोषम्) अइ धिट्ठे ललिदे ! एत्थ आणाविअ मं विडम्बेसि । ता गदुअ बुड्ढिआणं गोईणं विण्णविस्सम् । [अयि धृष्टे ललिते ! अत्रानीय मां विडम्बयसि । तद्गत्वा वृद्धानां गोपीनां विज्ञापयिष्यामि ।] (इति गन्तुमिच्छति) ॥९८॥

ललिता—अइ मुद्धे एणं साहुं चोरं वा जाणिअ जाहि । [अयि मुग्धे, एनं साधुं चोरं वा ज्ञात्वा याहि ।] (इति पटाञ्चलमादधाति) ॥९९॥

स्पर्श से नन्दराज को ग्रास करने वाला अजगर सुदर्शन नामक दिव्य पुरुष मे बदल गया था, उस भुजङ्गाचार्य के लिए यह सर्पघट परीक्षा क्या करेगी ॥

ललिता—(हंसकर) राधे ! तू अपनी परिवार-स्वरूपा रोमावली नागिन की महिमा क्या नहीं जानती है ? देख, मैं तुम्हें बताऊं:—

जिसकी आवाज से सर्प वधूओं के गर्भ पात हो जाते हैं, उस गरुड के शीश पर भी विराजमान होने वाले इन श्रीकृष्ण को तुम्हारी नवीन रोमावली रूप नागिन मोहित कर देने वाली है ॥९७॥३२॥

श्रीराधिका—(प्रणय रोष सहित) अरी ढीठ ललिते ! तू मुझे यहां लाकर मेरा मजाक उड़ाना चाहती है । मैं घर चल कर बड़ी-बूढ़ी गोपियों को सब बताद्ंगी ।।९८॥

(इतना कहकर जाना चाहती हैं)

ललिता—अरी मुग्धे ! यह साधु है या चोर, यह तो पता लगा कर जाना उचित है ॥९९॥

श्रीकृष्णः—चण्डि ललिते, यद्यतो दुराग्रहान्न विश्रान्तासि, ततः करयाणि परीक्षाम् । (इति राधामनुसर्पति) ॥१००॥

ललिता—(विलोक्य) छइल्ल, चिट्ठ चिट्ठ । विण्णादं विण्णादम् । [विदग्ध, तिष्ठ तिष्ठ । विज्ञातं विज्ञातम् ।] (इति संस्कृतेन) ।

प्रारब्धे पुरतः परीक्षणविधौ त्रासानुविद्धस्य ते
खिन्नोऽयं करपल्लवस्तरलतां कम्पोद्गमैः पुष्यति ।
रोमाञ्चं शिखिपिच्छचूडनिविडं मूर्तिश्च धत्ते ततो
ज्ञातस्त्वं ननु पश्यतोहरपुरीसाम्राज्यधौरेयकः ॥१०१॥३३॥

श्रीकृष्णः—(सकुचन्नम्रीभूय) हन्त, धीगौरवं गौरीणां यदहमेव चौरीकृतोऽस्मि ॥१०२॥

ललिता—छइल्ल, दिट्ठिआ अप्पणो मुहेण अङ्गीकिदम् । [विदग्ध ! दिष्ट्या आत्मनो मुखेनाङ्गीकृतम्] ॥१०३॥

(यह कहकर श्रीराधा का वस्त्राचल पकड़ लेती है)

श्रीकृष्ण—अरी प्रचण्डस्वभावा ललिते ! यदि अब भी तू अपने दुराग्रह को बन्द नहीं करती है तो परीक्षा कर ले ॥१००॥

(इतना कहकर श्रीराधा के निकट जाते हैं)

ललिता—(यह देखकर) हुँ ओ नागर ! ठहर जा । ठहर जा । जान गई मैं जान गई—

ओ मोर पुच्छधारि ! परीक्षा आरम्भ करने से पहले ही डरके मारे तुम्हारे करपल्लव पसीना पसीना हो गए हैं और काम्पने लगे हैं । तुम्हारे सारे शरीर पर ही अतिशय रोमांच हो उठा है । इसलिये यह सब देखकर मैं जान गई हूं कि तुम चोरों की नगरी के सम्राट-अधीश्वर हो ॥१०१॥३३॥

श्रीकृष्ण—(संकोच वश झुककर) अहो ! इन गौराङ्गियों के गौरव हो तो देखो, इन्होंने मुझे चोर ही ठहरा लिया है ॥१०२॥

ललिता—अरे विदग्ध ! बड़े सौभाग्य है, तुमने अपने मुख से यह स्वीकार किया है ॥१०३।

श्रीकृष्ण —सखि, सौहृदेनोपदिश्यतां मे श्रेयस पन्था, येनाहमपराधीभवन्न व्रजामि ॥१०४॥

ललिता—(संस्कृतमाश्रित्य)

गताना राधाया स्तनगिरितटे योगमभितो
विविक्ते मुक्तानां त्वमिह तरलीभूय तरसा।
विशुद्धानां मध्ये प्रविश शरणार्थी सहृदया
भजन्ते सादगुण्यादपि पृथुलदोष हि पुरुषम् ॥१०५॥३४॥

श्रीकृष्ण —सखि ! साधूपदिष्टं त्वया। (इति सानन्दमुपसृत्य पाणौ राधा दधाति) ॥१०६।

राधिका—(सगद्गदम्) सुन्दर ! अजुत्त तुज्झ एदम् । [सुन्दर ! अयुक्त तवे म् ।] (इति पाणिमाच्छिद्य शाखिना तिरोदधाति) । १०७॥

श्रीकृष्ण -(राधामप्रेक्ष्य सशङ्कम् हन्त । सख्यौ ! क्व वा प्रियसखी !

उभे—मोहण ! णिरूविअ भणिस्सम्ह । (इति शाखिपृष्ठमासाद्य) हला राहि ! णम्मसील कण्ह परिहसिदु-लद्धो ओसरो । ता बखण सावहित्था

श्रीकृष्ण—सखि ! सुहृद-भाव से मुझे मङ्गल-पथ की राय दो जिससे मैं निरपराधी होकर चला जाऊ ॥१०४॥

ललिता—कृष्ण ! जो समस्त विशुद्ध स्वभाव वाले मुक्तपुरुष श्रीराधा-स्तनगिरि में निर्जन प्रदेश मे सर्वभाव से योग मे लीन होकर अवस्थान करते हैं, तुम शरणार्थी होकर शीघ्र उन्ही मे जाकर प्रवेश करो, तभी निर्दोषी होवोगे, क्योकि सहृदय व्यक्ति सद्‌गुणो को देखकर अत्यन्त दोष युक्त पुरुष को भी अङ्गीकार कर लेते हैं ॥१०५॥३४।

श्रीकृष्ण—ललिते ! तुमने ठीक कहा है ॥१०६॥

(इतना कहकर आनन्द पूर्वक जाकर श्रीराधा का हाथ पकडते हैं)

श्रीराधा-(गद्‌गद स्वर मे) हे सुन्दर। यह तुम्हारो अयुक्त बात है। (ऐसे कहकर हाथ छुडाकर श्रीराधा एक वृक्ष के पीछे छुप जाती हैं)

श्रीकृष्ण—(श्रीराधा को न देखकर शका सहित) सखियो ! तुम्हारी प्रिय सखि कहा गई ? । १०८॥

ललिता—विशाखा—मोहन ! देखकर बताती हैं। (इतना कहकर

होहि। [मोहन ! निरूप्य भणिष्याव । सखि राधे ! नर्मशील कृष्ण परिहसितु लब्धोऽवसर, तत्क्षण सावहित्था भव।] ॥१०६।

राधिका—(सव्याज भ्रुवौ विभुज्य) ललिदे, परिहसिदु ति किं भणासि। ज ईरिस ण साहस क्खु मारिसोए जुत्तम्। ता पत्थिदह्मि।
[ललिते ! परिहसितुमिति किं भणसि ? यदीदृश साहस न खलु मादृश्या युक्तम्। तत्प्रस्थितास्मि।] ॥११०।

ललिता—(कृष्णमभ्युपेत्य) चन्दाणण ! अम्हहिअसही किंपि विण्णविदुकामावि भाएदि। [चन्द्रानन ! अस्मत्प्रियसखी किमपि विज्ञापयितुकामापि बिभेति।] ॥१११॥

श्रीकृष्ण—सखि, न खल्वत्र वशवर्तिनि जने भीतिरवकाश लभते। तन्निकाममाज्ञापयतु। ॥११२॥

ललिता—(सस्कृतमाश्रित्य)

चेतस्ताम्यति मे भयोर्मिभिरल पाणिद्वय कम्पते
कण्ठ सज्जति हन्त घूर्णति शिर स्विद्यन्ति गात्राण्यपि।

वृक्ष के पीछे जाती हैं) हे राधे ! नर्म-शील श्रीकृष्ण के साथ परिहास करने का यही अवसर है, इसलिए कुछ देर छिपी रही आवो ॥१०६॥

श्रीराधिका—(छल पूर्वक भ्रुकुटि टेढीकर) ललिते ! परिहास करने की बात क्यों कहती हो ? इस प्रकार का साहस मुझ जैसी के लिए उपयुक्त नही है, इसलिए मैं तो जा रही हू ॥११०॥

ललिता—(श्रीकृष्ण के निकट आकर) हे चन्द्रानन ! हमारी प्रिय सखी कुछ वात बतलाने में डर रही है ॥१११॥

श्रीकृष्ण—सखि ! वशवर्ती व्यक्ति से डरने का कोई अवकाश नही, होता, अत इच्छानुरूप आज्ञा करें ॥११२॥

ललिता—हे कृष्ण ! अतिशय भय से मेरा चित्त स्तब्ध हो रहा है, दोनो हाथ काम्प रहे है, गला रुधा जाता है, सिर घूम रहा है सारा शरीर पसीना से तरवतर हो रहा है अत हे गोष्ठेन्द्र ! मैं इस भारी साहस को करने मे समर्थ नही हू, मैं ने रात्रि काल मे आप को जो इतनी दूर से

गोष्ठाखण्डल, चण्डसाहसविधौ तेनास्मि नाहं क्षमा
यद्दूरादभिसारितो निशि, भवानेतन्मम क्षाम्यतु ॥११३॥३५॥

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्) न जाने नर्मतो धर्मतो वायं गिरां गरिमा ११४

राधिका—(किंचिदाविर्भूय) सहि! तूण्णं पत्थावेहि णम्। जाव कोवि ण पेक्खदि। [सखि! तूर्णं प्रस्थापयैनम्। यावत्कोऽपि न पश्यति ।११५

श्रीकृष्णः—(सखेदमात्मगतम्) चपलप्रेमाणो हि बाला रमण्यः। तत्किमिवासंभाव्यं नाम? (प्रकाशम्) ॥११६॥

त्वयाहूतः पार्श्वे प्रणयनिकुरम्बेण रभसा-
दसिद्धार्थो राधे भवितुमिह युक्तः कथमहम्?
धियाकृष्टः कृष्णायसमणिरयस्कान्तशिलया
स्फुटं तामस्पृष्ट्वा भजति किमदूरे स्थगितताम् ॥११७॥३६॥

ललिता—गोउलाणन्द! राहिअं कीस उवालहेसि? एं धम्महदअं ज्जेव उवालहेहि, जो क्खु हदासो दोण्णं णिब्भराणुरत्ताण-अन्तरे पडिबन्धीहोदि। [गोकुलानन्द! राधिका कस्मादुपालम्भसे? एनं धर्महतकमेवोपालभस्व, यः खलु हताशो द्वयोर्निर्भरानुरक्तयोरन्तरे प्रतिबन्धीभवति।] ॥११८॥

अभिसार कराया है, मेरे इस अपराध को आप क्षमा कीजिये ॥११३॥३५॥

श्रीकृष्ण—(मन मे) मैं नही जान सका हूं, परिहासमयी इस वाणी की गम्भीरता को ॥११४॥

श्रीराधिका—(कुछ सामने आकर)! शीघ्र ही यहा से चलो, कोई हमे देख न ले ॥११५॥

श्रीकृष्ण—(खेद पूर्वक मन मे) युवति रमणियों का प्रेम बड़ा चपल होता है। उनके लिए कुछ असम्भव नही है ॥११६॥

(स्पष्ट कहते हैं) हे राधे! तुमने अतिशय अनुराग से मुझे अपने पास बुलाया है, फिर मेरी अर्थ सिद्धि न होना कैसे उचित है? देखो, चुम्बकमणि अपने शोभन गुण से जब लोहमणि को आकृष्ट करती है, तब वह क्या उसे स्पर्श न करके दूर रह सकती है? ॥११७॥३६॥

ललिता—गोकुलानन्द! तुम राधिका का क्यों तिरस्कार कर रहे हो? उस अभागे धर्म का ही तिरस्कार करो, जो आशा-विरहित धर्म निश्चय ही परस्पर गाढ़ प्रेम करने वाले दो व्यक्तियों के बीच प्रतिबन्ध बनता है ॥११८॥

श्रीकृष्णः—पश्य पश्य,

सखि ! निर्भरमनुरक्ताः प्रणयिनमनुयान्ति धर्ममपि हित्वा ।
इयमतिरागा प्राची चुम्बति विधुमिन्द्रनाथापि ॥११९॥३७॥

ललिता—तुम्हाणं उत्तरपउत्तरे को णाम पहवदि । ता इदो विजयेन्तु सामिपादाओ । [युष्माकमुत्तरप्रत्युत्तरे को नाम प्रभवति । तस्मादितो विजयन्ता स्वामिपादाः ।] ॥१२०॥

राधिका—(साकूतमनुसृत्य) ललिदे, अप्पणो मुहेण किंपि विण्णविअ एणं णिवट्टावइस्सम् । [ललिते, आत्मनो मुखेन किमपि विज्ञाप्यैनं निवर्तयिष्ये ।] (इति ललितामवेक्ष्य संस्कृतेन) ॥१२१॥

समन्तान्मे कीर्तिर्मुखरितसतीमण्डलमुखा
कलङ्केनोन्मुक्तं कुलमविकलश्रीरपि पतिः ।
चलच्चिल्लीलीलाजितमदनधन्वोद्धतिरयं
तदस्मिन्नारम्भे हृदयमफलं विक्लवयति ॥१२२॥३८॥

श्रीकृष्ण—(राधा निरूप्य सोच्छ्वासमात्मगतम्)

श्रीकृष्ण—देखो, देखो—सखि ! अनन्त प्रेमी जन धर्म को भी त्याग कर प्रेमास्पद के पीछे चले जाते हैं, जैसे पूर्वदिशा अपने पति इन्द्र के रहते हुए भी चन्द्र का चुम्बन किया करती है ॥११९॥३७॥

ललिता—तुम्हारी बातों का प्रत्युत्तर देने मे कौन समर्थ हो सकता है ? इसलिए अब आप दोनो पधारो ॥१२०॥

श्रीराधिका—(अभिप्राय सहित निकट जाकर) ललिते ! तुम अपने वचनों से कुछ निवेदन कर इन्हे रवाना करो ॥१२१॥

(इस प्रकार कह ललिता को देखते हुए) देखो सखि ! समस्त सती-स्त्रीगण मेरी कीर्ति गान करती रहती हैं, मेरे पितृकुल तथा पतिकुल दोनो निष्कलङ्क है, और पति भी मेरा सुन्दर है, फिर यह (श्रीकृष्ण) मेरे प्रति काम धनुष की चचलता को जय करने वाले अपने चचल कटाक्षों को, निक्षेप कर अपने को वृथा क्यो दुखी कर रहे है ? ॥१२२॥३८॥

श्रीकृष्ण—(श्रीराधा को देखकर निश्वास छोड़ते हुए मन ही मन मे)

धावन्त्याः श्रुतिशष्कुलीपरिसरं सङ्गादपाङ्गश्रियो
धत्ते हीरककुण्डलं मरकतोत्तंसद्युति सुभ्रुवः।
वागन्तः स्मितभाग्विभाति तदिदं शङ्के सखीशिक्षया
वैमुख्यं किल कृत्रिमं विलसति क्लाम्यन्ति मनो मा स्म गाः ॥१२३॥३६

ललिता—(कृष्णमुखमालोक्य जनान्तिकम्) विसाहे! इङ्गिदेण लक्खेमि उण्णीद इमिणा अम्हाणं रहस्सम्। [विशाखे! इङ्गितेन लक्ष्यामि उन्नीतमनेनास्माक रहस्यम्।] ॥१२४॥

विशाखा—अध इम्। [अथ किम्।] २२५॥

श्रीकृष्ण.—(सस्मितम्) ललिते, कृतमत्र वञ्चनचातुरीप्रपञ्चेन। नहि लूतया प्रसारितास्तन्तवो गन्धसिन्धुरस्य बन्धनाय प्रभवन्ति ॥१२६॥

विशाखा—सहि राहि! णिप्फलं विलम्बसि। झत्ति किदत्थीकुण अप्पणो पिअजणम्। [सखि राधे, निष्फल विलम्बसे। झटिति कृतार्थीकुर्वात्मन. प्रियजनम्।] ॥१२७॥

श्रीकृष्ण —(सानुरागम्)

ओहो! श्रीराधा के कान पर्यन्त नेत्र कटाक्षो की शोभा पाकर हीरे के (स्फेद) कुण्डल मरकत मणि रचित (काले) कर्ण भूषणो की कान्ति धारण कर रहे हैं, इसके वचनों में भी मुसकरान भरी है, इसलिये जान पडता है कि सखियो की सिखाई हुई यह प्रतिकूलता दिखा रही है। कुछ भी हो, अरे मन! तू अब वृथा दुख मत पा ॥१२३॥३६॥

ललिता—(श्रीकृष्ण मुख को देखकर हाथ की ओट करके) विशाखे! इनके इशारो से लगता है कि ये हमारे रहस्य को समझ गए हैं ॥१२४॥

विशाखा—वह क्या? ॥१२५॥

श्रीकृष्ण—(मुसकरा कर) ललिते! यहा वचन-चातुरी का फैलाना वृथा है। मछुवा (माहीगीर) का सूत जाल कभी उन्मत्त हाथी को नही बाध सकता है ॥१२६॥

विशाखा—सखि राधे! व्यर्थ समय गँवा रही हो। शीघ्र ही अपने प्रेमीजन को कृतार्थ कर ॥१२७॥

कर्णद्वन्द्वमिद रुतैरिह कुहूकण्ठस्य कुण्ठीकृत
सद्य कोमलभारतीपरिमलेनोल्लाघय श्लाघया।
नि शङ्कं किल शीतलीकुरु परीरम्भेण रम्भोरु मे
गम्भीरस्मरवह्नितापलहरीपात्राणि गात्राण्यपि ॥१२८॥४०॥

विशाखा—सुन्दर ! एसा भअवदी, लज्जा ज्जेव्व राहिआरूवेण उदिण्णा। ता जाव ण चाडुबन्धेण समुहीकदुअ समप्पेम्ह दाव भवन्तेण सोम्मसीअलवुत्तिणा होदव्वम्। [सुन्दर, एषा भगवती लज्जैव राधिका-रूपेणावतीर्णा। तस्माद्यावदेना चाटुबन्धेन समुखीकृत्वा समर्पयामि, ताव-द्भवता सौम्यशीतलवृत्तिना भवितव्यम्।] ॥१२९॥

श्रीकृष्ण —(सादरम्)

अयमत्र निसर्गशीतल सखि ! राधाकुचयोरवस्थितिम्।
नवकाञ्चनकुम्भयोरह स्फुरदिन्दीवरदामवद्भजे ॥१३०॥४१

(इति मन्द मन्द राधामुपसर्पति)

राधिका—(किंचिदपसृत्य) सहि विसाहे ! सुट्ठु भीदम्हि, ता किंति म उवेक्खसि ? [सखि विशाखे ! सुष्ठु भीतास्मि, तत्किमिति मामुपेक्षसे ?]

श्रीकृष्ण—(अनुराग सहित) हे राधे ! कोकिलो के कुहू-कुहू शब्द से मेरे दोनो कान कुण्ठित हो गए है, अब तुम अपने कोमल वचनो के सौरभ से मेरे कानो की पीडा को दूर करो। मेरे समस्त अङ्ग गम्भीर कन्दर्पानल ताप की लपटो से जले जा रहे हैं। इसलिए हे रम्भोरु। तुम निशक होकर अपने आलिगन द्वारा इन्हे शीतल करो ॥१०८॥४०॥

विशाखा—हे सुन्दर ! भगवती की लज्जा ही राधिका रूप से अवतीर्ण हुई है। अत जब तक मैं वचन रूपी बन्धन से इसको सम्मत कर तुम को समर्पण नही करती हू, तब तक तुम सौम्य-शीतल भाव धारण करो ॥१२९॥

श्रीकृष्ण—(आदर सहित) सखि ! मैं तो स्वभाव से ही शीतल हू। इसलिए राधा के नवकाञ्चन सदृश कुच युगल मे कमल की नाल के समान मैं अवस्थित रहूगा ॥१३०॥४१॥

(इतना कहकर धीरे-धीरे श्रीराधा के निकट आते है)

श्रीराधिका—(थोडी दूर होकर) सखि विशाखे ! मैं अतिशय डर रही हू, तुम मेरी क्यो उपेक्षा कर रही हो ? ॥१३१॥

ललिता—राहे ! एसा विसाहेति विक्खोदा, कधं तुमं पच्छादिअ रक्खिदुं पहवदु ? ता रक्खणक्खमंणं ज्जेव भजेहि जं एसा आअड्ढिदशिलीमुहा दीसइ। [राधे, एषा विशाखेति विख्याता कथं त्वां प्रच्छाद्य रक्षितुं प्रभवतु ? तद्रक्षणक्षमामेनां वनमालामेव भज, यदेपाकृष्टशिलीमुखा दृश्यते।]१३२

राधिका—(सप्रणयरोषम्) अइ दुम्मुहि ललिदे ! सिद्धा च्चेअ तुम्ह मणोरहा, तधावि ण णिवुत्तासि। [अयि दुर्मुखि ललिते, सिद्धा एव तव मनोरथा.। तथापि न निवृत्तासि।] ॥१३३॥

विशाखा—हला राहि ! सव्वाणं गोउलजणाणं अभअदाणसत्ते दीक्खिदो कण्हो। ता इदो किंति भाएसि। [हला राधे ! सर्वेषां गोकुलजनानामभयदानसत्रे दीक्षितः कृष्णः, तस्मादितः किमिति भीतासि ?] ॥१३४॥

श्रीकृष्णः—सुन्दरि राधे ! त्वमेव सुष्ठु बलिष्ठासि, ततः कथं मत्तस्तव भीतिः ? तथा हि साम्प्रतम्—

> अहीनो भ्रूगुच्छ. कुटिलवलनैर्वेष्टयति मां
> खरस्ते नेत्रान्तो मयि वितनुते ताडनविधिम्।

ललिता—राधे ! यह विशाखा नाम से प्रसिद्ध है (अर्थात् यह शाखा रहित है) तब यह किस प्रकार तुम्हें आच्छादित कर तुम्हारी रक्षा कर सकेगी ? इसलिए रक्षा करने में समर्थ इस वनमाली की ही शरण लो। यह भ्रमरगण को आकर्षण करते हुए दीख रहे हैं (पक्षान्तर में—हे राधे ! तुम वनमाली अर्थात् वनसमूह का आश्रय करो। जिसमे भ्रमर गण आकृष्ट हो रहे हैं—वहा तुम्हें कोई देख नही पायेगा) ॥१३२॥

श्रीराधिका—(प्रणयरोष सहित) अरी दुर्मुखि ललिते ! तुम्हारे सब मनोरथ पूर्ण हो गए हैं फिर भी तू निवृत्त क्यो नही हो रही है ? ॥१३३॥

विशाखा—हे राधे ! सब गोकुल वासियों को अभयदान देने के लिए यज्ञ में श्रीकृष्ण दीक्षित हुए हैं, फिर तू इनसे डर क्यों रही है ? ॥१३४

श्रीकृष्ण—सुन्दरि राधे ! तुम तो मुझ से भी अधिक बलवती हो। फिर तुम्हें मुझ से क्या डर है ? देखो न, जिन शत्रुओं को मैं ने पहले पराजित कर दिया था, वही अब तुम्हारे आश्रित होकर अपना बदला ले रहे हैं। भ्रमितनाग तुम्हारी भ्रुकुटि गुच्छ क्रूर कटाक्षों द्वारा मुझे लपेट

प्रलम्बः केशान्तो हरति हठवृत्त्या मम बलं ।
भजद्भिस्त्वामेतैरहमिह जितैरस्मि विजितः ॥१३५॥४२॥

ललिता—कण्ह, कुदो इमाए बलिट्ठत्तणं जं अप्पणो घणं तुमत्तो मोआविदुं ण समत्था ? [कृष्ण ! कुत एतस्या बलिष्ठत्वं, यदात्मनो धनं त्वत्तो मोचयितुं न समर्था ?] ॥१३६॥

विशाखा—(संस्कृतेन)

विधत्ते कंसारिः सखि ! परमहंसालिषु रतिं
मनोहंसेन्द्रं ते कथमपि न निर्मोक्ष्यति तत ।
बधानामुं सद्यस्त्वमपि भुजवल्लीविलसितैः
शठे कः क्षेमार्थी सुमुखि नहि शाठ्यं घटयति ? ॥१३७॥४३

राधिका—(साभ्यसूयम्) पावे विसाहिए ! तुम वि ललिदाए विसलदाए मारुदेण दूसिदासि। [पापे विशाखे ! त्वमपि ललिताया मारुतेन दूषितासि ।] ॥१३८॥

श्रीकृष्णः—सखि ललिते, स्वप्रसादामृते काममद्यावगाहनया कथमद्यापि तटस्थीकृतोऽस्मि राधया ? ॥१३९॥

रहा है, धेनुकासुर तुम्हारे नेत्रो के कोने मे रहकर मेरी ताडना कर रहा है एव प्रलम्बासुर तुम्हारे केशो मे स्थित होकर मेरे बल को हरण कर रहा है। अतएव हे राधे ! तुम मुझ से अधिक बलवान हो ॥१३५।४२॥

ललिता—कृष्ण ! यह तुम से अधिक बलवान कैसे है ? क्योकि यह तुम से अपना मन रूपी धन छुडा लेने मे समर्थ नहीं हो रही है ॥१३६॥

विशाखा—ललिते ! श्रीकृष्ण परम हस कुलो को भी रति देने वाले हैं, तब तुम्हारे मानस हस को कैसे न छोड़ेंगे ? तुम इन्हें अब अपनी भुज-वल्लियो के विलास द्वारा बाध लो। देखो, हे सखि ! अपना हित चाहने वाला कौन व्यक्ति है जो शठ के प्रति शठता का व्यवहार नही करता ?॥१३७

श्रीराधिका—(असूया सहित) हे पापिनि विशाखे ! तू भी ललिता रूपी विषलता की वायु पाकर दूषित हो रही है ॥१३८॥

श्रीकृष्ण—सखि ललिते ! अपनी प्रसन्नता रूप अमृत मे यथेष्ट रूप से अवगाहन कराने से अभी तक राधा ने मुझे क्यो वञ्चित कर रखा है ?॥१३९

ललिता—कण्ह, मुञ्च वअणे चातुरीवित्थारं । ण खु चन्दाअली विअ झत्ति वाअमेत्तएणे सुलहप्पसादा अम्हपिअसही । [कृष्ण ! मुञ्च वचन चातुरीविस्तार, न खलु चन्द्रावलीव झटिति वाङ् मात्रकेण सुलभप्रसादा-स्मत्प्रियसखी ।] ॥१४०॥

श्रीकृष्ण—कथ सुलभस्ते सखीप्रसाद ? ॥१४१॥

ललिता—सेआसतारोण । [सेवासतानेन] ॥१४२॥

श्रीकृष्ण—(सानन्द राधा पश्यन्) ।

किं चन्दनेन कुचयो रचयामि चित्र-
मुत्तसयामि कबरीं तव किं प्रसूनै ।
अङ्गानि लङ्घिमतराङ्गि करेण किं वा
सवाहयाम्यतनुखेदकरम्बितानि ॥१४३॥४४॥

राधिका—(सलीलमपक्रम्य साङ्गुलितर्जनम्) पामिरि, सुमरिस्ससि ओसरे । ता एसा घर गच्छन्ती जिम्हाण तुम्हाण हत्थादो अप्पाण मोआव इस्सम् । पामरि ! स्मरिष्यस्यवसरे । तदेपागृह गच्छन्ती जिह्माणा युष्माक हस्तादात्मान मोचयिष्यामि ।] ॥१४४॥

ललिता—कृष्ण ! वचन-चातुरी के विस्तार को छोडो, हमारी प्रिय सखि श्रीराधा की प्रसन्नता चन्द्रावली की तरह केवल वचन मात्र से सुलभ नही है।॥१४०॥

श्रीकृष्ण—तुम्हारी सखी की प्रसन्नता कैसे सुलभ है ? ॥१४१॥

ललिता—निरन्तर सेवा करने से ॥॥१४२॥

श्रीकृष्ण—(आनन्द पूर्वक श्रीराधा को देखते हुए) हे अनुराग-तरङ्गिणि राधे ! मैं चन्दन से क्या तुम्हारे कुचयुगल पर चित्रकारी कर दू ? या फूलो से तुम्हारी वेणी गू थ दू अथवा कन्दर्प पीडित तुम्हारे समस्त अङ्गों को अपने हाथो से सम्वाहन कर दू ? ॥१४३॥४४॥

(इतना कहकर श्रीकृष्ण आगे बढते हैं)

श्रीराधिका— लीला प्रकाश पूर्वक अगुंली से तर्जन करती हुई) अरी दुष्ट ललिते ! यह अवसर याद रखना । अब घर जाकर ही तुम जैसे कुटिल व्यक्तियो के हाथो से मैं छुटकारा पाऊ गी । १४४॥

ललिता—(पटाञ्चलमाकृष्य)

सहि राहि, याहि न घरं, परहत्थे पत्थिदम्हि णिअहसे।
अइ बहिरे, हिरण्णं देसि कुदो अञ्चले गण्ठिम् ?॥

[सखि राधे, याहि न गृह परहस्ते प्रस्थितास्मि निजहसे।
अयि वधिरे, हिरण्यं ददासि कथमञ्चले ग्रन्थिम्] ॥१४५॥४५॥

राधिका—मुञ्च मुञ्चाञ्चलम्, इदो गदुअ अज्जिअ विण्णविस्सम्।
[मुञ्च मुञ्चाञ्चलम्, इतो गत्वार्यां विज्ञापयिष्यामि।] ॥१४६॥

(नेपथ्ये)

हन्त णत्तिणि ललिदे, कहिं दे पिअसही राहिआ ? [हन्त नप्त्रि ललिते ! कुत्र ते प्रियसखी राधिका ?] ॥१४७॥

ललिता—हन्त, एसा अज्जिआ मुहरा इधं जेव्व आअच्छदि। [हन्त, एषा आर्या मुखरा इत एव आगच्छति।] ॥१४८॥

श्रीकृष्ण—(सशङ्कम्) ततो दवीयान् भवितास्मि (इति तथा स्थित)।

(प्रविश्य)

मुखरा—(पुरो दृष्टिं निक्षिप्य साशङ्कमात्मगतम्) जो क्खु दूरदो कोवि णीलिमपुञ्जो मरगअत्थम्भं विरम्बन्तो दिट्ठि मे आअड्ढइ, णूणं सो

ललिता—(वस्त्राचल पकड कर) सखि राधे ! दूसरे के हाथ मे अपना मानस-हस सौपकर घर मत जाओ। क्या आश्चर्य है ! सोने को बाहिर फेंक कर कपडे मे गाठ लगा रही हो ? ॥१४५॥४५॥

श्रीराधिका—छोड दो मेरे आचल को छोड दो, यहा से जाकर सब बात मैं आर्या (मुखरा) को बताऊ गी ॥१४६॥

(पर्दे के पीछे से) हाय ! अरी नातिनि ललिते ! तुम्हारी प्रिय सखि राधिका कहा गई है ? ॥१४७।

ललिता—हाय ! यह तो आर्या मुखरा ही यहा आ रही है ॥१४८॥

श्रीकृष्ण—(शङ्का सहित) तब मैं तो दूर हो जाता हू ।१४६॥
(इस प्रकार कहकर श्रीकृष्ण दूर खड़े हो जाते हैं)

मुखरा—(प्रवेश करते हुए—सामने देखकर शङ्का पूर्वक अपने मन ही मन मे) यह दूर से नीलिमा पुञ्ज मरकत मणि स्तम्भ की विडं-

एसो कण्हो भवे, जं अगरुव्वं किंपि सोरब्भं पसप्पइ। [यः खलु दूरतः कोऽपि नीलिमपुञ्जो मरकतस्तम्भं विडम्बयन् दृष्टिं मे आकर्षति, नूनं एष कृष्णो भवेत्, यदपूर्वं किमपि सौरभ्यं प्रसर्पति ।] (इति कृष्णान्तिकमनुसर्पति)॥१५०

श्रीकृष्णः—आर्ये ! (इत्यर्धोक्ते) ॥१५१॥

मुखरा—(सकपटाक्रोशम्) को क्खु अज्जे अज्जेति खुलखुलाएदि ? [कः खल्वार्ये आर्येत खुलखुलायते ?] ॥१५२॥

श्रीकृष्ण.—आर्ये मुखरे ! सुखं वर्धसे ? ॥१५३॥

मुखरा—मोहण जाव तुह वंसिआए मुअराखं ण सुवुत्तं, ताव कुदो अम्हाणं सुहम् ? [मोहन ! यावत्तव वंशिकाया मूकत्वं न सवृत्त तावत्कुतोऽस्माकं सुखम् ?] ॥१५४॥

श्रीकृष्णः—(सस्मितम) आर्ये ! किं तेऽपराध्यति वंशी ? ॥१५५॥

मुखरा—पुच्छ इमाओ सव्वगोउलवालिआओ जाओ कण्णसीमं पविसत्तम्मि वंसिआफुक्कारारम्भे बारंवारं णिवारिज्जन्तीओ वि वणे धावन्ति। [पृच्छ इमाः सर्वगोकुलबालिका, याः कर्णसीमा प्रविशति वंशिका-फूत्कारारम्भे वारवारं निवार्यमाणा अपि वने धावन्ति ।] ॥१५६॥

म्बना करते हुए कौन मेरी दृष्टि को आकर्षण कर रहा है ? निश्चय यह श्रीकृष्ण ही होगा, क्योंकि यहां अपूर्व सौरभ फैल रही है। (इतना-कहकर श्रीकृष्ण के निकट आती है) ॥१५०॥

श्रीकृष्ण—हे आर्ये ! (इतना आधा वाक्य बोलने पर) ॥१५१॥

मुखरा—(कपट-क्रोध सहित) कौन है आर्य, आर्ये' कहकर खुट-खुट कर रहा है ? ॥१५२॥

श्रीकृष्ण—आर्ये मुखरे ! सुख पूर्वक हो न ? ॥१५३॥

मुखरा—मोहन ! जब तक तुम्हारी बंशी मौन नहीं लेती है तब तक हमारा सुख कहा ? ॥१५४॥

श्रीकृष्ण—(मुसकरा कर) आर्ये ! वंशी ने तुम्हारा क्या अपराध किया है ? ॥१५५॥

मुखरा—-यह बात तू इन समस्त गोकुल बालिकाओ से पूछ, कर्ण-छिद्रों मे वंशी की आवाज पहुचते ही बारंबार निवारण करने पर भी ये वन की ओर भाग खड़ी होती हैं ॥१५६॥

श्रीकृष्णः—(विहस्य) मुखरे ! सत्यं यथार्थनामासि ॥१५७॥

मुखरा—मोहण ! पदोसे तुज्झ एत्थ पवेसो मं सङ्काउलं करेदि। [मोहन ! प्रदोषे तवात्र प्रवेशो मां शङ्काकुलां करोति ।] ॥१५८॥

श्रीकृष्णः—मुखरे ! कृतमत्र शङ्कया, यदद्य पौर्णमास्या मे वर्णितं 'तवात्र चत्वराङ्के चङ्क्रमीति काप्यद्भुता हरिणीति' ॥१५९॥

मुखरा—णाअर ! पहादे पेच्छिस्ससि णं, दाणिं साहेहि । [नागर ! प्रभाते प्रेक्षिष्यसे एनामिदानीं साधय ।] ॥१६०॥

श्रीकृष्णः—हन्त, वृद्धे गड्डरविषाणकठोरे ! विश्रब्धमास्यताम् । एषोऽहं व्रजामि । (इति शाखिनामन्तर्दधाति) ॥१६१॥

मुखरा—ललिदे ! सच्चं गदो कण्हो ? [ललिते, सत्यं गतः कृष्णः ?]।

ललिता—अध इम् । [अथ किम् ।] ॥

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्) घूर्णाकुलेयं जरती, तदत्र तूष्णीमेत्य राधा-पटाञ्चलमाकर्षयामि । (इति तथा करोति) ॥१६४॥

श्रीकृष्ण—(हस कर) मुखरे ! सच मुच तुम्हारा मुखरा नाम यथार्थ है ॥१५७॥

मुखरा—मोहन ! संध्या के समय तुम्हारा यहां आना मुझे शङ्का पैदा कर रहा है ॥१५८॥

श्रीकृष्ण—मुखरे ! तुम्हारी शङ्का वृथा है, मुझे आज पौर्णमासी ने बताया कि तुम्हारे आङ्गन मे एक अनिर्वचनीय हरिणी भ्रमण कर रही है ॥१५९॥

मुखरा—नागर ! प्रभात मे आकर उसे देखना, अब जाओ ॥१६०॥

श्रीकृष्ण—हाय ! ओ मेषश्रृग से भी कठोर मुखरे ! तुम विश्वास करो । लो मैं जा रहा हू, ।(इतना कहकर वृक्ष की ओट मे हो जाते है)१६१

मुखरा—ललिते ! क्या कृष्ण सचमुच चला गया है ? ॥१६२॥

ललिता—और क्या ॥१६३॥

श्रीकृष्ण—(अपने मन मे) यह वृद्धा चक्कर रही है । मैं चुपचाप जाकर राधा के वस्त्राचल को खैंचू गा । (यह कह वैसा ही करते हैं) ॥१६४॥

मुखरा—(चक्षुषी विकास्य साक्रोशम्) धिद्वि ललिदे ! अग्गदो एसो दे पीदम्बरो कण्हो राहीसाडिअञ्चलं आअड्ढन्तो विअ दीसइ, ता कीस तुमं रेपदासि म ? [धृष्टे ललिते ! अग्रत एष ते पीताम्बरः कृष्णः राधाशाटिकाञ्चलमाकर्षन्निव दृश्यते, तत्कस्मात् त्वं प्रतारयसि माम् ?] ।।१६५।।

(कृष्णः सशङ्कं किंचिदपसर्पति)

ललिता—(स्वगतम्) रत्तिअन्धिअं णं वुड्ढिअं वञ्चेमि। [रात्र्यन्धामेनां वृद्धां वञ्चयामि।] (प्रकाशम् संरम्भमभिनीय सस्कृतेन)। १६६

मुधा शङ्काऽन्धे जरति कुरुषे यामुनतटे
तमालोऽयं चामीकरकलितमूलो निवसति।
समीरप्रेङ्खोलावतिचटुलशाखाभुजतया
वयस्याया येन स्तनवसनमास्फालितमभूत् ।।१६७।।४६।।

मुखरा—(स्वगतम्) असच्चं ण कहेईद, ललिदा। (प्रकाशम्) वत्से, घुम्माउलम्हि, ता घरं गदुअ सुविस्सम्। [असत्यं न, कथयति ललिता। वत्से ! घूर्णाकुलास्मि, तस्माद्गृहं गत्वा स्वप्स्यामि।](इति निष्क्रान्ता) ।।१६८

विशाखा—हंला राहि ! कण्हस्स मुहमण्डलुम्मीलिदं घम्मजल-

मुखरा—(आख फारते हुए क्रोध सहित) अरी धृष्ट ललिते ! देख सामने मुझे तो पीताम्बर धारी कृष्ण राधा का वस्त्राचल खीचता हुआ सा दीख रहा है, तू मुझे कैसे बहका रही है ? (कि कृष्ण चला गया है)।।१६५

(श्रीकृष्ण कुछ शकित होकर दूर चले जाते हैं)

ललिता—(मन में) रात मे न देख सकने वाली इस वूढी को वञ्चना करूंगी। (क्रोध मे भर कर कहती है)—।।१६६।।

हे अन्धी वृद्धे ! व्यर्थ शका कर रही है। यमुना तट पर यह तमाल वृक्ष खडा है, उसके मूल मे स्वर्ण वेदिका सुशोभित हो रही है। वायु के वेग से उसकी शाखाए हिली हैं, जिससे श्रीराधा का वस्त्राचल खिचा है।१६७

मुखरा—(अपने मन मे) ललिता झूठ नही बोलती है। (स्पष्ट कहती है) बेटी ! मुझे नींद आ रही है। मैं तो घर जाकर सोती हू। (इतना कहकर चली जाती है।।१६८।।

विशाखा—हे राधे ! श्रीकृष्ण का मुख मण्डल पसीना से तर-बतर

बिन्दुजाल णिअसाडिअञ्चलेण अवणेहि । [हला राधे ! कृष्णस्य मुख-मण्डलोन्मीलित घर्मजलबिन्दुजाल निजशाटिकाञ्चलेनापनय ।] ॥१६९॥

राधिका—(सभ्रूभङ्गम्) विसाहे ! तुम जेव्व अवणेहि, जा क्खु आकोमार इमस्सि व्वदे गहीददिक्खासि । [विशाखे, त्वमेवापनय, या खल्वाकौमारमस्मिन्व्रते गृहीतदीक्षासि ।] ॥१७०॥

विशाखा—राधे ! कण्ठत्थिदा दे रङ्गणमालिआ भणादि । मा कुप्प, तुम वि तत्थ दिक्खाविहाणे कारिज्जन्तसकप्पासि । [राधे, कण्ठस्थिता ते रङ्गणमाला भणति । मा कुप्य, त्वमपि तत्र दीक्षाविधाने कार्यमाण-सङ्कल्पासि ।] ॥१७१॥

श्रीकृष्ण—(रङ्गणमाला दृष्ट्वा सश्लाघम्)

शङ्के चिरात्किमपि रङ्गणपुष्पसङ्घ
पुण्यं पुरा परमतीर्थवरे व्यधत्त ।
यस्मान्ममाप्यसुलभे मदिराक्षि साक्षा-
दङ्गीचकार तव वक्षसि सङ्गसौख्यम् ॥१७२। ४७॥

राधिका—हला विसाहे ! जा क्खु मह कण्ठादो बलेण आअड्ढिअ णीदा तुए अणग्घा गुञ्जाअली सा दाणीं समप्पीअदु । एसा सुक्खा अप्पणो रङ्गणमालिआ गेण्हीअदु । [हला विशाखे ! या खलु मम कण्ठतो बलना-

---

हो रहा है तुम अपनी साडी के आचल से पोछ दो न ॥१६९॥

श्रीराधिका—(भ्रू-भङ्गी सहित) विशाखे ! तुम ही पोछ दो न । बचपन से तुम ने इस व्रत की दीक्षा ले रखी है ॥१७०॥

विशाखा—राधे ! तुम्हारे गले मे पडी हुई रगणमाला बता रही है, गुस्सा मत करो । तुम ने भी इस व्रत मे दीक्षा लेने का सङ्कल्प ले रखा है ॥१७१॥

श्रीकृष्ण—(रगण माला को देखकर प्रशसा करत हुए) हे खञ्जनाक्षि ! मालूम होता है इन सब रगण पुष्पो ने पहले जन्म मे किसी प्रधान तीर्थ मे पुण्य उपाजन किया है तभी तो ये आपके वक्षस्थल के सङ्गसुख को प्राप्त कर रहे हैं, परन्तु मैं उसे प्राप्त नही कर सका ॥१७२। ४७॥

श्रीराधिका—हे विशाखे ! तू बलपूर्वक मेरे गले से जो अमूल्य गुञ्जामाला उत्तार कर ले गई थी, उसे अब लौटा दे और इस अपनी सूखी

कृष्य नीता स्वयानर्घा गुञ्जावली, सेदानी समर्प्यताम्। एषा शुल्का आत्मनो रङ्गणमालिका गृह्यताम्।] ॥१७३॥

विशाखा—गोउलाणन्द ! गुञ्जाहारकिदे मह कुप्पदि अप्पणो पिअसही। [गोकुलानन्द ! गुञ्जाहारकृते मह्य कुप्यति आत्मन प्रियसखी।]

श्रीकृष्ण —राधे ! सन्निधेहि। तव कण्ठे गुञ्जावलीमादधामि (इत्युपसर्पति) ॥१७५॥

ललिता—(सस्मितमात्मगतम्) गुञ्जाहारसमप्पणमिसेण राहिककञ्चुअञ्चल पप्फसदि कण्हो। [गुञ्जाहारसमर्पणमिषेण राधाकञ्चुकाञ्चल स्पृशति कृष्ण ।] ॥१७६॥

(राधिका सभ्रूविक्षेप परावर्त्तते)

विशाखा—हला राहि ! ज लद्धु उक्कण्ठेसि, त किं क्खु लद्धासि ? [हला राधे ! य लब्धुमुत्कण्ठितासि, त किं खलु लब्धासि ?] ॥१७७॥

राधिका—(बिम्बाधर सदश्य) धिट्ठे विसाहे ! चिट्ठ चिट्ठ। [धृष्टे विशाखे ! तिष्ठ तिष्ठ।] (इति लीलारविन्देन ताडयति) ॥१७८॥

विशाखा—(विहस्य) समअसङ्किणि ! मा कुप्प। गुञ्जाहार पुच्छेमि।

रगणमाला को ले ले ॥१७३॥

— विशाखा—गोकुलानन्द ! गुञ्जाहार के लिए मेरी प्रिय सखी मुझ पर कोप कर रही है ॥१७४॥

श्रीकृष्ण-राधे ! मेरे पास आओ, तुम्हारे गले मे गुंञ्जाहार पहिनाऊ। (इतना कहकर निकट जाते हैं) ॥१७५॥

ललिता—(मुसकरा कर मन मे ही) गुञ्जाहार पहराने के बहाने राधा की अ गिया का स्पर्श करना चाहते हैं श्रीकृष्ण ॥१७६॥

(श्रीराधा भ्रु विक्षेप करते हुए पीछे हट जाती हैं)

विशाखा—हे राधे ! जिसे तू पाने के लिए उत्कण्ठित हो रही थी, पा लिया उसे क्या ? ॥१७७॥

श्रीराधिका—(अधरा को चबाती हुई) धृष्ट विशाखे ! ठहर जा ठहर जा ! (इतना कहकर लीला-कमल मारती हैं) ॥१७८॥

विशाखा—(हसकर) अपने आप शका करनेवाली ! कुपित मत हो, मैं

[त्त्रयमाशङ्किनि ! मा क्रुप्य, गुञ्जाहार पृच्छामि ।] ॥१७६॥

श्रीकृष्ण — क्व तपस्तथा ममास्ते लीलाम्बुजहतिमवाप्नुया येन ।
मां चञ्चलेन ताडय लोचनकमलाञ्चलेनापि ॥१८०॥१८॥

ललिता-हरिणो समप्पिअ तणु' किविणासि कहं दरावलोअम्मि ?
दिण्णे चिन्तारअणे ण सवुडम्मि आगहो जुत्तो ॥

[हरये समर्प्य तनु, कृपणासि कथ दरावलोक ?
दत्ते चिन्तारत्ने न सपुटे आग्रहो युक्त ॥] ॥१८१॥४६॥

राधिका—ललिदे ! एव्व जप्पन्ती गुरुलोएसु मा क्खु इम जण अवरद्ध करेहि । [ललिते ! एव जल्पन्ती गुरुलोकेषु मा खल्विम जनमपराद्ध कुरु ।] ॥१८२॥

विशाखा—सहि ! कीस सङ्कसि ? ण भअवदी जेव्व एत्थ समाहाणे दक्खा । [सखि ! कस्मात् शङ्कसे ? नून भगवत्येवात्र समाधाने दक्षा ।] ।१८३

ललिता—(सहर्षमात्मगतम्) दिट्ठिआ पिअसही हसिदापाङ्गतरङ्गेण कण्हं आलिङ्गदि । [दिष्ट्या प्रियसखी हसितापाङ्गतरङ्गेण कृष्णमालिङ्गति ।] ॥१८४॥

गुञ्जाहार का पूछ रही हू ॥१७६॥

श्रीकृष्ण—मेरी ऐसी तपस्या कहा जो लीला-कमल की ताडना प्राप्त करू ? हे राधे ! मुझे ही लीला कमल मार दो, नही तो नेत्र-कमल के कटाक्ष से ही ॥१८०॥१८॥

ललिता—सखि ! श्रीकृष्ण को शरीर अर्पण कर दे । थोडा देखने में क्यो कृपण हो रही है ? चिन्तारत्न का दान करके सम्पुट मे आग्रह करना उचित नही है ॥१८१॥

श्रीराधिका—ललिते ! ऐसा कहकर गुरुजनो मे मुझ को तू अपराधी मत ठहराना ॥१८२॥

विशाखा—राधे ! तुम शङ्का क्यो करती हो ? इस विषय मे समाधान करने को भगवती पौर्णमासी बडी चतुर है ।१८३॥

ललिता—(हर्ष पूर्वक अपने मन मे) बडा सौभाग्य है कि प्रियसखी राधा मुसकान युक्त कुटिल कटाक्ष करते हुए श्रीकृष्ण को आलिगन कर

विशाखा—(सस्कृतेन) ललिते ! पश्य पश्य,

शशी व्योमोत्सङ्गं शशिनमभितः कान्तिलहरी
पुरो वृन्दारण्यं सुमुखि सहसा कान्तिलहरीम् ।
हरिर्वृन्दारण्यं हरिमपि किलेयं तव सखी
सख्यं प्रेम्णः पूरो निजसुषमयामण्डयदयम् ॥१८५॥५०॥

ललिता—हद्धी हद्धी । विसाहे ! पेक्ख ससिकन्तमणिप्पसूदेहिं जलपूरेहिं सूरपूअणवेईपुरदो किदाइं विलुप्पीअन्ति आलेवणमण्डलाइं । ता एहि, एणं पुप्फकेआरिअं णेम्ह । [हा धिक्, हा विशाखे ! पश्य शशिकान्तमणिप्रसूतैर्जलपूरैः सूर्यपूजनवेदीपुरत. कृतानि विलुप्यन्ते आलेपनमण्डलानि । तदेहि, एन पुष्पकेदारिका नयामः ।] ॥१८६॥

[इत्युभे निष्क्रान्ते)

श्रीकृष्ण.—प्रिये ! नेदानीमपि वाम्याद्विरामरते ? (इत्यञ्चल गृह्णाति)

रही है ॥१८४॥

विशाखा—ललिते ! देख,-देख—

आकाश से चन्द्र ने और चन्द्र को चन्द्रिका ने भूषित किया हुआ है। चन्द्रिका को फिर श्रीवृन्दावन ने, हे सुमुखि ! शोभित कर रखा है। श्रीवृन्दावन श्रीकृष्ण से शोभित है और श्रीकृष्ण तुम्हारी प्रियसखी श्रीराधा से शोभित हो रहे हैं। श्रीराधा को प्रेमराशि ने अपनी शोभा से सुमण्डित कर दिया है ॥१८५॥५०॥

ललिता—हाय धिक्कार है, धिक्कार है, विशाखे ! देख तो सही चन्द्रकान्तमणि से जल प्रवाहित होने से हमने सूर्य पूजा के लिए जो समस्त आलेपन व भूषण प्रस्तुत किए थे, विलुप्त हुए जा रहे हैं, इसलिए आओ इन्हे लेकर पुष्पवाटिका मे चलें ॥१८६॥

(इतना कहकर दोनों चली जाती हैं)

श्रीकृष्ण—हे प्रिये ! अब तक भी तुम्हारा वाम्य समाप्त नही हुआ है ? (इतना कहकर श्रीकृष्ण श्रीराधा का आचल पकड़ते हैं) ॥१८७॥

राधिका—मुञ्चेहि मुञ्चेहि, सहीओ मं आआरेन्ति। [मुञ्च मुञ्च, सख्यो मामाकारयन्ति।] ॥१८८॥

श्रीकृष्ण:—हन्त, कठोरे ! मय्यत्र नाङ्गीकुरु भङ्गुरताम् ॥१८९॥

राधिका—(सस्मितम्) देइ सरस्सइ ! वन्दिज्जसि जं सच्चं ज्जेव पअडासि। [देवि सरस्वति ! वन्द्यसे, यत्सत्यमेव प्रकटयसि।] ॥१९०॥

श्रीकृष्ण:—(किंचिद्विहस्य)

पद्मिन्यास्ते सुमुखि ! परमप्रेमसौरभ्यपूरो
दूरोत्सर्पी मदवधि मुदा कृष्णभृङ्गेण भेजे।
आक्रान्तोऽय तव नवमुखाम्भोजमाध्वीकपान-
प्रत्याशाभिस्तदवधि रुवन्संभ्रमी बम्भ्रमीति ॥१९१॥५१॥

किंच-मुक्तानामुपलम्यमेव कुचयोः सालोक्यमालोक्य ते
हत्वा संगमहं समस्तसुहृदां कैवल्यमासेदिवान्।

श्रीराधिका—छोड़ो, छोड़ो, मुझे सखीगण बुला रही है ॥१८८॥

श्रीकृष्ण—अरी कठोर मेरे साथ तुम कुटिलता मत करो ॥१८९॥

श्रीराधिका—(मुसकरा कर) देवि सरस्वति ! तुझे नमस्कार है, जो तुम ने सत्य को प्रकट किया है ॥१९०॥ (ऊपर श्रीकृष्ण ने कहा था "अरी कठोर मेरे साथ"—कठोर शब्द को मेरे शब्द के साथ जोड़ने से अर्थ होता है, "अरी! मुझ कठोर के साथ"—इसी अर्थ को लक्ष्य कर श्रीराधा जी ने कहा—सरस्वती देवी ने 'तुम कठोर हो'-इस सत्य को प्रकाशित कर दिया है।)

श्रीकृष्ण—(कुछ मुसकरा कर) हे सुमुखि ! तुम पद्मिनी हो, तुम्हारी दूर देश पर्यन्त फैलने वाली अतिशय सौरभ को जब से कृष्ण-भ्रमर ने पाया है, तब से तुम्हारे मुख कमल की नवीन मकरन्द को पान करने की आशा से व्याकुल होकर गुञ्जार करते हुए इधर-उधर भ्रमण कर रहा है ॥१९१॥

हे राधे ! मुक्ताओं को आपके वक्षस्थल के समीपवर्ती देखकर मैं ने भी उस की प्राप्ति की इच्छा से समस्त सुहृद गणों का त्याग कर एकान्त स्थान को प्राप्त किया है। आपके वक्षस्थल (उरोजद्वय) मे तिल मात्र भी विषमता नही है। अतः हे कृशाङ्गि ! तुम उसके निबिड़ अमृत स्राव रूप

वैषम्यं तिलमप्यनाश्रितवतोः सान्द्रामृतस्यन्दिभि-
र्मां पूर्णं कुरु तन्वि ! तूर्णमनयोः सायुज्यदानोत्सवैः ॥१६२॥५२॥

(राधिका लज्जते)

श्रीकृष्णः—प्रिये ! पश्य पश्य,

अपां पत्युः पुष्टीकरणरसपाकः कुमुदिनी-
कदम्बानामङ्गज्वरहरणशीतौषधिघटः।
मृगाङ्कोऽयं कोकीपरिषदभिचाराध्वरधुरा-
पुरोधाः कालिन्दीपरिसरपरिष्कारमकरोत् ॥१६३॥५३॥

तदेतां वासन्तिककान्तिमण्डलमण्डितमण्डलस्य चन्द्रमसश्चन्द्रिका-चक्रचुम्बितां विचरावो निकुञ्जचन्द्रशालिकाम् । (इति निष्क्रान्तौ) ॥१६४॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति श्रीविदग्धमाधवनाटके श्रीराधासङ्गमो नाम

तृतीयोऽङ्कः ॥३॥

सायुज्य (सङ्गम) दानोत्सव द्वारा मुझे पूर्ण करो ॥१६२॥

(श्रीराधिका लज्जा प्रकाश करती हैं)

श्रीकृष्ण—हे प्रिये ! देखो, देखो,

समुद्र के पुष्टिकरण का रस परिपाक विशेष, कुमोदिनियों के अङ्गज्वर को हरण करने वाली शीतल औषधि के कलश सदृश तथा चकोरों की सभा के अभिचार यज्ञ का पुरोहित यह जो चन्द्र है, इसने कालिन्दी तट प्रदेश को उज्ज्वल कर दिया है ॥१६३॥

—इसलिए हम वसन्त की कान्ति राशि से मण्डित एवं चन्द्र मण्डल की चन्द्रिका राशि से सुशोभित निकुञ्ज के निभृत स्थान में विचरण करेंगे ॥१६४॥ (इतना कहकर दोनों चले जाते हैं)

इस प्रकार सब प्रस्थान करते हैं।

इस प्रकार श्रीश्यामदासानुवाद सहित श्रीविदग्धमाधव नाटक का

राधासङ्गम नामक

तीसरा अङ्क समाप्त हुआ ॥३॥

चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति नान्दीमुखी)

नान्दीमुखी—भणिदम्हि ललिदाए—'हला णान्दीमुहि ! गोमण्डले गोट्ठं पइट्ठे एण्हि कण्हो तुवरन्तो गोअड्ढणाहिमुहं हत्थिदो । ता तुमं तत्थ गदुअ सुअलं विण्णवेहि, जधा एसो ओसरे णिअवअस्सस्स राहिअं सुमरावेदि' त्ति । (परिक्रम्य) कधं एत्थ पउमा आअच्छदि ? [भणितास्मि ललितया—'सखि नान्दीमुखि ! गोमण्डले गोष्ठं प्रविष्टे इदानीं कृष्णस्त्वरमाणो *गोवर्धनाभिमुखं प्रस्थितः । तत्त्वं तत्र गत्वा सुबलं विज्ञापय, यथैषोऽवसरे* निजवयस्यस्य राधिकां स्मारयति' इति । कथमत्र पद्मा आगच्छति ?] ॥१॥

(प्रविश्य)

पद्मा—हला णान्दीमुहि ! कामं कुसलासि ? ता कंपि उवाअं कतेहि

॥ श्रीगौराङ्गविधुर्जयति ॥

चतुर्थ-अंक

[तत्पश्चात नान्दीमुखी प्रवेश करती है]

नान्दीमुखी—मुझ से ललिता ने कहा है कि हे सखि नान्दीमुखि ! सब गौओं के गोष्ठ मे चले जाने पर अब श्रीकृष्ण शीघ्रता से गोवर्धन की ओर चले गए है । अतः तू अब वहा जाकर सुबल को बता कि वह इस समय अपने मित्र श्रीकृष्ण को श्रीराधिका की याद दिलाए । (घूमकर) पद्मा यहा किस लिए आ रही है ? ॥१॥

(प्रवेश कर)

पद्मा—सखि नान्दीमुखि ! कुशल पूर्वक हो न ? कोई एक ऐसा उपाय

जेण उव्विग्गां चन्दाअलीं आसासेमि । [सखि नान्दीमुखि ! कामं कुशलासि ? तत्कमप्युपायं कथय, येनोद्विग्नां चन्द्रावलीमाश्वासयामि ।] ॥२॥

नान्दीमुखी–किं से उव्वेअकालणम् ? [किमस्या उद्वेग कारणम् ?]।

पद्मा–हला, जाणासि जेव्वं तुमं, जधा पदोसे सव्वं खु गोउलं विब्भमेण कण्हो पच्चहं रञ्जेदि । [हला, जानास्येव त्वं, यथा प्रदोषे सर्वं खलु गोकुलं विभ्रमेण कृष्णः प्रत्यहं रञ्जयति ।] ॥४॥

नान्दीमुखी–अध इम् । [अथ किम्] ॥५॥

पद्मा–संपदं दाव एत्थ दक्खिणे गोट्ठद्धे इमस्स गन्धो वि दुल्लहो । [सांप्रतं तावदत्र दक्षिणे गोष्ठार्धेऽस्य गन्धोऽपि दुर्लभः ।] ॥६॥

नान्दीमुखी–हला, मा दूणेहि । [हला, मा दूयस्व ।] (संस्कृतेन) ।

दृष्टं विम्मितधातुचित्ररचनं शैव्या ललाटं मया
श्यामाकुन्तलचामरं च विलुठद्वन्यस्रजोड्डामरम् ।
गुञ्जाहारलतार्धमञ्जुरधुना भद्राभुजान्तस्तथा
तथ्यं विद्धि स नागरीगुरुरभूद्गोवर्धनस्यातिथिः ॥७॥१॥

(नेपथ्ये)

बताओ, जिससे मैं उद्विग्ना चन्द्रावली को सान्त्वना दे सकूं ॥२॥

नान्दीमुखी–उसके उद्वेग का क्या कारण है ? ॥३॥

पद्मा–तू जानती तो है कि प्रतिदिन सन्ध्या समय श्रीकृष्ण सारे गोकुल को विलासमय हाव-भावों से अनुरक्त करता है ॥४॥

नान्दीमुखी–वह कैसे ? ॥५॥

पद्मा–अब तो गोकुल की दक्षिण पल्ली में उसकी गन्ध भी दुर्लभ है।

नान्दीमुखी–दुःख मत मानो–मैं ने शैव्या के माथे पर (कृष्ण-सम्बन्धिनी) धातु-चित्र रचना देखी है, श्यामा के चामर सदृश केशों में (श्रीकृष्ण की) सुन्दर वनमाला और भद्रा के गले में उनकी आधी गुञ्जामाल के चिह्न दीख रहे हैं। इसलिए तुम मेरी बात को यथार्थ जानना कि अब वे नागरी-गुरु श्रीकृष्ण गोवर्धन के अतिथि हो रहे हैं ॥७॥

[नेपथ्यगृह से वृन्दा की आवाज आती है]

कृत्वा वंशीमखिलजगतीगीतसंगीतभङ्गी-
साङ्गीभावप्रथमवसतिं सङ्गिनीं वामपाणौ।
एष प्रेम्णा व्रजति नयनानन्दनो नन्दसूनु-
र्मन्दं गोवर्धनशिखरिणः कन्दरामन्दिराय ॥८॥२॥

नान्दीमुखी—पउमे ! तुमं इमिणा वुत्तन्तेण चन्दाअलिअं सुहावेहि। अहं सुअलं अणुसरिस्सम्। [पद्मे ! त्वमनेन वृत्तान्तेन चन्द्रावली सुखय। अह सुबलमनुसरिष्यामि।] (इति निष्क्रान्ता) ॥९॥

पद्मा—(पुनः पश्यन्ती) एसा करालाए अज्जिआए चित्तं अनुवट्टन्ती वणदेअदा वुन्दा चन्दाअलिअं सच्छलं णिवारेदि। [एषा करालाया आर्यायाश्चित्तमनुवर्तमाना वनदेवता वृन्दा चन्द्रावली सच्छलं निवारयति।]

(नेपथ्ये)

किं राधेव दुरन्तमिच्छसि बलादुन्मादमालम्बितुं
मुग्धे मा नय माननीयजरतीवाक्यं बहिर्मा व्रज।
एष स्मेरविलोचनाञ्चलरुचा चापल्यमुल्लासय-
न्नायाति व्रजसुन्दरीगणमनोमाणिक्यहारी हरिः ॥११॥३॥

जो वंशी समस्त जगत् की संगीत तरङ्गों का सर्व प्रथम आधार है, उसे बाये हाथ पर धारण कर वह नयनानन्द-दायी श्रीनन्दनन्दन प्रेम से मन्द मन्द चाल से गोवर्धनगिरि के कन्दरा-मन्दिर मे जा रहे हैं ॥८॥

नान्दीमुखी—पद्मे ! तू यह समाचार चन्द्रावली को देकर सुखी कर। मैं सुबल के पास जाती हूं। (यह कहकर चली जाती है) ॥९॥

पद्मा—(सामने देखती है) यह वन देवी वृन्दा कठोर आर्या (पौर्णमासी) के अभिप्राय अनुसार छल पूर्वक चन्द्रावली को रोक रही है ॥१०॥

[वेशगृह से आवाज आती है]

हे मुग्धे ! क्या तुम भी राधा की तरह जबरदस्ती दुरन्त उन्माद को ग्रहण करना चाहती हो ? 'ऐसा मत करना'। पूजनीया वृद्धा के वचन सुन। देख, व्रजसुन्दरियों के मन-माणिक्य को हरन करने वाला श्रीकृष्ण मुसकराते हुए, नेत्र कटाक्षों से चञ्चलता का विस्तार करते हुए आ रहा है, इसलिए तू बाहर मत जा ॥११॥

(प्रविश्य)

चन्द्रावली—(सौत्सुक्यं समन्तादवलोक्य) कधं वुन्दाए अलीअं विअ वाहरीअदि. कुदो एत्थ कण्हो ? [कथं वृन्दयालीकमिव व्याहृयते । कुतोऽत्र कृष्णः ?] (इति खेदं नाटयति) ॥१२॥

पद्मा—(उपसृत्य संस्कृतेन)

न संतापं स्वान्तद्द्वयसि कथं दावविषमं
घनश्वासैः किंवा मलिनयसि विम्बाधरमपि ?
वनान्तान्केकाभिः सखि ! शिखरिकक्षे मुखरयन्
सखीस्थल्याः कल्याण्यमजदुपशल्यं यदुपतिः ॥१३॥४॥

चन्द्रावली—(विलोक्य) कधं पिअसही पउमा ? (इति गाढमालिङ्ग्य) हला ! अवि णाम अक्खलिदं भणिदासि ? [कथं प्रियसखी पद्मा ! हला, अपि नामास्खलितं भणितासि ?] ॥१४॥

पद्मा—अध इम् । [अथ किम् ।] ॥१५॥

(ततः प्रविशति सुबलेनानुगम्यमानः कृष्णः)

श्रीकृष्णः—सखे सुबल ! पश्य पश्य,

(प्रवेश कर)

चन्द्रावली—(उत्कण्ठा पूर्वक चारों ओर देखकर) वृन्दा क्या झूंठ बोलती है ? कहां है यहां कृष्ण ? (दुखी होती है) ॥१२॥

पद्मा—(निकट जाकर) सखि ! दावानल सम विषम सन्ताप को तुम हृदय से क्यों नही दूर करती हो ? लम्बे सास ले लेकर क्यों अपने बिम्बाधरों को मलिन कर रही हो ? श्रीकृष्ण मोरों के केकारव से गोवर्धन वन-प्रदेश को मुखरित करते करते सखीस्थल (तुम्हारे निवास स्थान) के समीप आ गए हैं ॥१३॥

चन्द्रावली—(देखकर) कौन ? प्रिय सखी पद्मा ! (गाढ़ आलिंगन करके) क्या तू सच कह रही है ? ॥१४॥

पद्मा—और क्या ? ॥१५॥

(तब सुबल के साथ श्रीकृष्ण प्रवेश करते है)

श्रीकृष्ण—मित्र सुबल ! देखो, देखो—

अकलिततारस्तरणेरस्तशिरोवीथिभिस्तिरोधनात् ।
अस्फुटतिमिरविजृम्भ. प्रथयति तोषं निशारम्भ ॥१६॥५॥

सुबल:—वअस्स ! अज्ज गोदोहणं वि अणवेक्खिअ सलालसो विअ किति एत्थ लद्धोसि ? [वयस्य ! अद्य गोदोहनमप्यनपेक्ष्य सलालस इव किमित्यत्र लब्धोऽसि ?] ॥१७॥

श्रीकृष्ण:—सखे, मयूरं वर्णयता केनचित्प्रियां चन्द्रावलीं स्मारितोऽस्मि ततस्तद्विलोकनाय लालसेयम् ॥१८॥

सुबल.—केरिसं मोरवण्णणम् ? [कीदृशं मयूरवर्णनम् ?] ॥१९॥

श्रीकृष्ण:—उन्मदेन पुरतः शिखण्डिना ताण्डवे पृथुनि मण्डलीकृताम् ।

पश्य निन्दितमहेन्द्रकार्मुकां कृष्णचन्द्रचलचन्द्रकावलीम् ॥२०॥६

सुबल:—तदो आअड्ढणं वंशीकलं उल्लासेहि । [तदाकर्षण वंशीकलमुल्लासय ।] ॥२१॥

(कृष्ण: वक्त्रे वेणुं विन्यस्यति)

अस्ताचल के शिखिरो मे क्रमशः छिपते जाने के कारण सूर्य का हलका ताप सन्ध्या के थोड़े थोड़े अन्धेरे को विस्तार करता हुआ सन्तोप प्रदान कर रहा है ॥१६॥

सुबल—कृष्ण ! आज गो-दोहन की उपेक्षा कर लालायित हो यहा कैसे आये हो ? ॥१७॥

श्रीकृष्ण—सुबल ! किसी व्यक्ति ने मयूर का वर्णन कर मुझे मेरी प्रिया चन्द्रावली की याद दिलाई है, इसलिए उसे देखने की इच्छा है ॥१८॥

सुबल—मयूर वर्णन कैसा ? ॥१९॥

श्रीकृष्ण—उसने कहा है—'हे कृष्ण चन्द्र ! मयूर उन्मत्त होकर सामने अतिशय नृत्य कर रहे हैं, उनकी इन्द्र धनुष-शोभा को निन्दित करने वाली चञ्चल चन्द्रावली का अवलोकन कर ॥२०॥

सुबल—तब तो आकर्षणकारी वशी-ध्वनि प्रकाश कर ॥२१॥

(श्रीकृष्ण मुख पर वंशी धरते है)

चन्द्रावली—(निशम्य सघूर्णम्) सव्वदा सुव्वन्ती वि अस्सुदअरी विअ विम्हावेदि दुम्मुही मुरली। [सर्वदा श्रूयमाणाप्यश्रुतचरीव विस्मापयति दुर्मुखी मुरली।] ॥२२॥

श्रीकृष्णः—सखे सुबल ! अद्य चन्द्रावलीप्रसादे त्वया ममानुकूलेन भवितव्यम् ॥२३॥

सुबलः—अथ इम्। [अथ किम्।]। २४॥

पद्मा—हला ! पेक्ख, एसो वेणुसण्णाए तुमं तुवरावेदि गोउलेन्दणन्दणो। [हला ! पश्य एष वेणुसंज्ञया त्वां त्वरयति गोकुलेन्द्रनन्दनः।]

चन्द्रावली—(विलोक्य संस्कृतेन)

सखि मुरलि ! विशालच्छिद्रजालेन पूर्णा
लघुरतिकठिना त्वं ग्रन्थिला नीरसासि।
तदपि भजसि शश्वच्चुम्बनानन्दसान्द्रं
हरिकरपरिरम्भं केन पुण्योदयेन ? ॥२६॥७॥

श्रीकृष्णः—(पुरो दृष्ट्वा सानन्दम्) सखे ! सेयं मम लोचनेन्दीवरचन्द्रिका चन्द्रावली। (इति सादरमुपेत्य) प्रिये, ॥२७॥

चन्द्रावली—(सुनकर मोहित होते हुए) इस दुर्मुखी वंशी को मैं हमेशा सुनती हूं, फिर भी यह ऐसे विस्मित कर देती है जैसे कभी न सुनी हो ॥२२॥

श्रीकृष्ण—सखे सुबल ! आज चन्द्रावली को प्रसन्न करने में तुम्हें मेरी सहायता करनी होगी ॥२३॥

सुबल—क्यों नहीं ॥२४॥

पद्मा—ये देख, चन्द्रावलि ! गोकुलेन्द्रनन्दन वंशी ध्वनि के संकेत से तुम्हें आतुर कर रहा है ॥२५॥

चन्द्रावली—(देखकर) अरी सखि मुरलि ! छिद्रों से भरी हुई है तो छोटी सी पर अति कठोर, गंठीली तथा निरस है, तो भी न जाने किस पुण्य के प्रभाव से तू निरन्तर श्रीकृष्ण के हाथों का आलिंगन और उनके अधरों का चुम्बन-सुख प्राप्त कर रही हो ? ॥२६॥

श्रीकृष्ण—(सामने देख हर्ष पूर्वक) मित्र ! यह है मेरे नेत्र कमलों की चान्दनी चन्द्रावली ॥२७॥

चन्द्रस्तव मुखबिम्बं चन्द्रा नखराणि कुण्डले चन्द्रौ ।
नवचन्द्रस्तु ललाटं सत्यं चन्द्रावली त्वमसि ॥२८॥८॥

(चन्द्रावली लज्जते)

श्रीकृष्णः—प्रिये ! दुष्टदानवदमनाभिनिवेशात्वन्मुखचन्द्रमप्रेक्षमाणस्य यातयामीभवन्त्योऽपि न यातयामा भवन्ति ममामूर्यामिन्यः ॥२९॥

चन्द्रावली—सुन्दर ! भमरस्स विअ णवणवाणुसारिणी दे पइदी कधं चिरासङ्गणीरसासु पउमिणीसु अहिरमदु ? [सुन्दर ! भ्रमरस्येव नवनवानुसारिणी ते प्रकृतिः कथ चिरासङ्गनीरसासु पद्मिनीष्वभिरमताम् ?],

श्रीकृष्णः—प्रिये चन्द्रावलि ! प्रतिपदालोके त्वं सर्वेषां नवनवासि, तदद्य निर्वापय विरहोत्तापं परिष्वङ्गरसेन ॥३१॥

पद्मा—पिअसहीविरहेण कुदो तुम्ह तावुप्पत्ती ? [प्रियसखीविरहेण कुतस्तव तापोत्पत्तिः ?] ॥३१॥

सुबल.—अइ ! मा बघु एव्वं भण । एसो चन्दाअलविरहेण संतत्तो

(निकट जाकर) हे प्रिये ! तुम्हारा मुख मण्डल चन्द्र है, नखश्रेणी चन्द्र हैं, दोनो कुण्डल चन्द्र है, तुम्हारा ललाट चन्द्र है, सचमुच तुम चन्द्रावली हो ॥२८॥

(चन्द्रावलो शर्माती है)

श्रीकृष्ण—प्रिये ! दुष्ट दानवो को दमन करते करते समस्त रात्रिया बीत गई है, परन्तु तुम्हारे मुख चन्द्र को विना देखे मेरे दुख की रात्रियां नही बीती है, वैसी ही अनबीती (नई) हो रही है । २९॥

चन्द्रावली—सुन्दर ! तुम्हारा स्वभाव भ्रमर की तरह नित्य नये नये रस को लेने का है, किस लिए तुम चिर-सङ्गिनी नीरस पद्मिनियो के साथ रमण करोगे ? ॥३०॥

श्रीकृष्ण—प्रिये चन्द्रावलि ! (प्रतिपदा तिथि आने पर तुम सबके लिए नित नवीन हो) मैं तो प्रति मिलन मे तुम्हे नवीन देखता हूं, आओ ! आज आलिङ्गनरस से विरह ताप को नाश करो ॥३१॥

पद्मा—प्रिय सखी के विरह मे तुम्हे कैसे ताप हुआ ? ॥३२॥

सुबल—अरी पद्मा ! ऐसा मत कह। कृष्ण चन्द्रावली के विरह मे

सीअलाए जलधाराए कच्छे देहं णिक्खिविअ सतिह्ण चऊरो विअ एां जेव्व चन्दाअलिअं सव्वदो पेच्छइ वअस्सो। [अयि ! मा खल्वेवं भण। एष चन्द्रावलीविरहेण संतप्तः शीलाया जलधारायाः कच्छे देहं निक्षिप्य सतृष्ण-श्चकोर इव एनामेव चन्द्रावलीं सर्वतः पश्यति वयस्यः।] ॥३३॥

श्रीकृष्णः--प्रिये ! श्रूयताम्,

विपिनान्तरे मिलन्ती मधुररसा शीतलस्पर्शा।
अमृतमयी त्वद्विरहे समजनि मम तापनुत्तये राधा॥

(इति ससंभ्रमम्) धारा धारा ॥३४॥६॥

चन्द्रावली—(साभ्यसूयम्) गच्छेहि, राहिअं जेव्व सेवेहि। [गच्छ, राधामेव सेवस्व।] ॥३५॥

श्रीकृष्णः—प्रिये ! धारेत्यवदम् ॥३६॥

चन्द्रावली—जादं कधं दोएां वण्णाएं विवरीदत्तणम् ? [जातं कथं द्वयोर्वर्णयोर्विपरीतत्वम् ?] ॥३७॥

श्रीकृष्णः—प्रिये ! द्वयोर्वर्णयोः कर्णयोर्वा विपरीतत्वमित्यहमिन्नास्ति विचारः ॥३८॥

सन्तप्त होकर शीतल जल धारा के निकट स्थित हो तृष्णात्तुर चकोर की भांति सर्वतो भाव से इसे देखता रहता है ॥३३॥

श्रीकृष्ण--प्रिय ! सुनो—

तुम्हारे विरह में व्याकुल हुए मुझ को वन मे मधुर रस शालिनी शीतल स्पर्शी अमृतमयी राधा मिलकर उस विरह को शान्त करती रहती है। (इस प्रकार कहकर भीत होकर) 'धारा' 'धारा' (राधा नही) ॥३४॥

चन्द्रावली—(ईर्ष्या-रोष युक्त) जाओ ! राधा की ही जाकर सेवा करो ॥३५॥

श्रीकृष्ण--प्रिये ! मैं ने 'धारा' कहा है ।.३६॥

चन्द्रावली--दोनों वर्ण उल्टे कैसे हो गए ? ॥३७॥

श्रीकृष्ण--दोनों वर्ण उल्टे हुए या दोनों कानों ने उलटा समझा है, इस में कोई खास बात नही है ॥३८॥

चन्द्रावली—(रोषारुणं मुखमानमय्य) अइ दानसौण्ड ! अलं एदाए ओहित्थाए। अज्ज अप्पणो मणहारिणो सुवण्णजुअलस्स विण्णासादो साहु माहुरीपूरिदकण्णम्हि किदा। [अयि दानशौण्ड ! अलमेतयावहित्थया। अद्यात्मनो मनोहारिणः सुवर्णयुगलस्य विन्यासात्साधुमाधुरीपूरितकर्णास्मि कृता।] ॥३६॥

श्रीकृष्णः—

यथार्थेयं वाणी तव चकितसारङ्गनयने
सुवर्णालंकारो मधुरयति यत्ते श्रुतियुगम्।
मुखेन्दोरन्तरते बहिरपि सुवर्णच्युतिरियं
मम श्रोत्रद्वन्द्वं नयनयुगलं चाकुलयति ॥४०॥१०॥

पद्मा—हला ! अप्पणो अदिट्ठं सुमरन्ती मा खिज्जेहि। जुत्ता राहाणुरत्तस्स इमस्स राहाणाममयी संकधा। [हला ! आत्मनोऽदृष्टं स्मरन्ती मा खिद्यस्व। युक्ता राधानुरक्तस्यास्य राधानाममयी संकथा।] ॥४१॥

चन्द्रावली—(निश्वस्य) सहि पउमे ! एवं णेदम् [सखि पद्मे ! एव न्विदम्।] ॥४२॥

श्रीकृष्णः—प्रिये ! बाढमनाशङ्कनीयमेवेदम् यत.—

चन्द्रावली—(क्रोध में लाल हुए मुँह को नीचे कर) ओ दानवीर ! अब इस कपट को रहने दो। आज अपने मनोहर सुवर्णमय दोनों कुण्डलों की सुन्दर मधुरिमा से मेरे कान परिपूर्ण हुए है। (अर्थात् विरुद्ध-लक्षण से 'राधा' ये दोनों सुन्दर वर्ण मेरे कानो को जला रहे हैं)॥३६॥

श्रीकृष्ण–हे चकित मृगनैनि ! सुवर्ण के अलकार तुम्हारे दोनों कानों को माधुर्यशाली कर रहे है—यह तुम्हारी बात यथार्थ है। तुम्हारे मुखचन्द्र के अन्दर और बाहर से भी सुवर्ण टपक कर (अर्थात् 'राधा' ये दोनो सुन्दर वर्ण स्फुरित होकर) मेरे दोनों नेत्रों एवं कानों को बेचैन कर रहे हैं ॥४०॥

पद्मा—सखि ! अपने दुर्भाग्य को स्मरण कर दुख मत पा। राधा में अनुरक्त इस श्रीकृष्ण की राधा नाम मय कथा-वार्ता उपयुक्त है ॥४१॥

चन्द्रावली—(सांस छोड़कर) सखि पद्मे ! ऐसा ही है ॥४२॥

तस्य पोड़शकलस्य पोड़शी वल्लभा स्फुरित या नभस्तले ।
राधया सुवदने कथं तया संगतिर्भु वि ममाद्य संभवेत् ।।४३।।११।।

पद्मा—चउस्सट्ठिकलासालिणो दे ण क्खु सा वि सोलहकलवल्लहा दुल्लहा ।[चतुःपष्टिकलाशालिनस्ते न खलु सापि पोडशकलवल्लभा दुर्लभा ।]

श्रीकृष्णः—(सप्रश्रयं पद्मामवलोक्य)

चन्द्रावलीवदनपुष्करसङ्गिगण्ड-
चन्द्रावलोकतरतर्ककलङ्कितााङ्गौ ।
शङ्काकुलोऽत्र कलयन्कमलालताक्षि
शं काकुलोलहृदयः प्रविशामि नाहम् ।।४५।।१२।।

चन्द्रावली—(सव्याजप्रसादम्) देअ ! णं क्खु गोउलजणजीअणभूदस्स दे सव्वसुहआरिदागुणं का क्खु हदबुद्धिआ ण सहदि ? ता णिप्फलेण संकोएण मा सादङ्को होहि ।[देव,नूनं खलु गोकुलजनजीवनभूतस्य तव सर्वशुभकारितागुणं का खलु हतबुद्धिका न सहते?तस्मान्निष्फलेन संकोचेन मा सातङ्को भव ।]

श्रीकृष्ण—प्रिये ! ऐसी शंका बिल्कुल करने योग्य नहीं है, क्योंकि सोलह-कला पूर्ण चन्द्र की राधानाम की सोलह प्रेयसियां आकाश में ही प्रकाशित होती हैं । पृथ्वी मण्डल पर उस राधा के साथ, हे सुवदने ! आज मेरा मिलन कैसे सम्भव हो सकता है ? ।।४३।।११।।

पद्मा—तुम तो चौसठ कला पूर्ण हो, तुम्हारे लिए सोलह कला पूर्ण चन्द्र की प्रेयसी प्राप्त करना कोई दुर्लभ नहीं है ।।४४।।

श्रीकृष्ण—(विनय पूर्वक पद्मा को देखकर) हे प्रफुल्लित कमलनेत्रे पद्मे ! चन्द्रावली के मुख रूप आकाश में उदित निराधार तर्क से कलङ्कित कपोल रूप दो चन्द्रमाओं को देखकर मेरा हृदय शङ्का से आतुर व दीन-वाणी से चञ्चल हो रहा है । अतः कैसे भी कल्याण प्राप्त नहीं कर सकता ।

चन्द्रावली—(कपट पूर्ण प्रसन्नता सहित) हे देव ! तुम समस्त गोकुल-वासियों के जीवन स्वरूप हो । तुम्हारे सर्वशुभकारिता गुण को कौन हत-बुद्धि स्त्री सहन नहीं करती है ? इसलिए व्यर्थ संकोच में पड़कर शङ्का मत करो ।।४६।

श्रीकृष्ण.—(स्वगतम्) गरिष्ठामपि मन्युमुद्रा धीरेयं मुखमाधुर्येण निह्नुते !(प्रकाशम्)प्रिये ! कृतमनेन गौरवविषोद्गारेण,रोषोक्तिमाध्वीकमेव वर वरिष्ठम् ॥४७॥

चन्द्रावली—गोउलाणन्द ! तुम्ह पुरदो मुहं दंसेदुं ण पहवामि । जं पगब्भं वाहरन्ती अवरद्धम्हि ता घरं गमिस्सम् । [गोकुलानन्द ! तव पुरतो मुख दर्शयितु न प्रभवामि । यत्प्रगल्भ व्याहरन्त्यपराद्धास्मि, तद्गृह गमिष्यामि ।] ॥४८॥

श्रीकृष्ण —(सानुनयम्) प्रिये ! प्रसीद प्रसीद, बद्धोऽयमञ्जलि ॥४९॥

चन्द्रावली—सुहअ ! उज्जुअ वाहरन्तीं कीस मा अलीअं सकसि ? ता अणुजाणेहि मं भद्दआलीदंसणस्स ।[सुभग ! ऋजुक व्याहरन्ती कस्मान्मामलीक शङ्कसे ? तदनुजानीहि मा भद्रकालीदर्शनाय ।] (इति पद्मया सह निष्क्रान्ता)॥५०॥

श्रीकृष्णः—सखे ! महानुभावामेता मच्चित्तमहाकाशचन्द्रावलीं चन्द्रावलीमपि वलीयस्तमः कन्दलीभिरवस्कन्दितामालोक्य निरलोकोऽस्मि ॥५१॥

श्रीकृष्ण—(मन मे) यह चन्द्रावली धीरा (नायिका) है, अतएव मुख माधुरी से भारी क्रोध-मुद्रा को भी छिपाये हुए है। (स्पष्ट कहते है) प्रिये ! गौरव विष को उगलना व्यर्थ है। इससे क्रोध युक्त वचन ही अच्छे है ॥४७॥

चन्द्रावली—गोकुलानन्द ! बहुत वाचालता कर मैं ने तुम्हारा अपराध किया है, इसलिए तुम्हे मुहँ नही दिखा सकती हू। मैं घर जा रही हू ॥४८॥

श्रीकृष्ण—(विनय पूर्वक) हे प्रिये ! प्रसन्न होवो, प्रसन्न होवो, देखो, हाथ जोड रहा हू ॥४९॥

चन्द्रावली—हे सुन्दर ! मैंने तो सहज बात कही है, फिर तुम मेरे प्रति खाहमखाह क्यो शङ्का कर रहे हो ? अतः मुझे भद्रकाली के दर्शन हित जाने की अनुमति दो। (इतना कहकर पद्मा के साथ चली जाती है)॥५०

श्रीकृष्ण—सखे ! चन्द्र रूपिणी चन्द्रावली को क्रोध रूप राहू ने आच्छादन कर लिया है। इसलिए मेरे चित्त आकाश मे वह नही दीखती है और मुझे अधकार दीख रहा है ॥५१॥

सुबलः—पिअवअस्स ! किति एवं भणासि ? सा क्खु अदक्खिणा ण दिट्ठा । [प्रियवयस्य ! किमित्येवं भणसि ? सा खल्वदक्षिणा न दृष्टा ।]॥५२॥

श्रीकृष्णः—सखे, बाढं दुरूहा महीयसीनां प्रकृतिः । तदिदानीम्—

न्यविशत नयनान्ते कापि सारल्यनिष्ठा
वचसि च विनयेन स्तोत्रभङ्गी न्यवात्सीत् ।
व्रजनि च मयि सुयार्न्तसंभ्रमस्तेन तस्या
स्ववृणुत हृदि मन्युं सुष्ठु दाक्षिण्यमेव ॥५३॥१३॥

तदेहि मनोहारिणि ! तस्मिन्केशरकुञ्जे निविश्य चन्द्रावलीसंगमोपायमङ्गीकरोमि । (इति परिक्रम्य) सखे ! सेयं बकुलावलिमञ्जुला निकुञ्जवीथी । पश्य पश्य, ॥५४॥

स्फुरति सरो दक्षिणतः सव्ये वापी समन्ततः कुल्याः ।
इति केशराटवीयं प्रमदं नीराधिका कुरुते ॥५५॥१४॥

सुबलः—(स्वगतम् ।) लद्धो मए ओसरो । (प्रकाशम् ।) वअस्स !

सुबल—प्रिये मित्र ! ऐसा क्यों कहते हो ? मुझे तो वह अदक्षिणा (वाम भावयुक्त या प्रतिकूल) नहीं दीखती है ॥५२॥

श्रीकृष्ण—मित्र ! महत् पुरुषों का स्वभाव अति दुर्ज्ञेय होता है, वह इस प्रकार कि—

चन्द्रावली के नेत्रों में कोई सरलता-भाव आया था, उसकी विनय द्वारा सब वाक्य स्तोत्र भङ्गी धारण कर रहे थे, मुझ में अतिशय भय-जात त्वरा उत्पन्न होने से उसके हृदय में जो दाक्षिण्य भाव दीखता था, वह अब क्रोध रूप में अनुभव हो रहा है ॥५३॥१३॥

आओ, उस मनोहर केशर कुञ्ज में प्रवेश कर चन्द्रावली के सङ्गम के लिए उपाय करता हूं । (यह कह घूमकर) हे सखे ! देखो, देखो, उस वकुलश्रेणी से सुशोभित निकुञ्ज-वीथी को ॥५४॥

इसकी दक्षिण दिशा में तो सरोवर है, वाम दिशा में वापी (बावली) और सब दिशाओं में जल प्रणाली शोभित हो रही है । इसलिए यह नीराधिका—(अतिशय जलमयी) केशराटवी आनन्द प्रदान कर रही है ॥५५॥

सुबल—(नीराधिका शब्द सुनकर सुबल को श्रीराधिका का

सराहिआ ज्जेव तुह पमद कुरइ, कि त्ति णीराहिआ त्ति भणासि ? [लब्धो मयावसर । वयस्य ! सराधिकैव तव प्रमद करोति, किमिति नीराधिकेति भणसि ?] । ५६॥

श्रीकृष्ण —(सुबलमालिङ्ग्य ।) सखे । सत्य ब्रवीषि । तदद्य राधिका यथेमां केशरनिकुञ्जलक्ष्मीमलङ्करोति, तथा मद्गिरा सदिश्यता ललिता ॥५७

सुबल —ज आणवेदि पिअवअस्सो । [यदाज्ञापयति प्रिय व्यस्य ।] (इति निष्क्रान्त) । ५८॥

(तत प्रविशति पद्मा मधुमङ्गलश्च ।)

मधुमङ्गल —पउमे ! सुद मए अज्ज वअस्सेण चाडुआरिणा अणुणीदा वि चन्दाअली ण पसण्णा । [पद्मे ! श्रुत मयाद्य, वयस्येन चाटुकारिणा अनुनीतापि चन्द्रावली न प्रसन्ना ।] ॥५६॥

पद्मा—अध इ । [अथ किम् ।] ॥६०॥

मधुमङ्गल—णूणं वअस्सो वि विसण्ण वट्टइ ता जुत्ता दोण्ण सगमे अम्हाण सहआरिदा ।[नून वयस्योऽपि विषण्णो वर्तते, तद्युक्ता द्वयो सगमेऽ

स्मरण हो आया— अपने मन मे कहने लगा)—मुझे मौका मिल गया है । (स्पष्ट बोला) मित्र ! राधिका ही तो तुम्हें आनन्दित करती है । तुम कैसे नीराधिका को सुख प्रदान करने वाली कह रहे हो अर्थात् राधिका के बिना कैसे आनन्द अनुभव कर रहे हो ? ॥५६॥

श्रीकृष्ण—(सुबल को आलिङ्गन करते हुए) हे सखे ! तुम सच कहते हो । आज राधिका जैसे आकर इस केसर निकुञ्ज को शोभित करें—ऐसा मेरा सन्देशा ललिता को पहुचा दे ॥५७॥

सुबल—बहुत अच्छा (कहकर चला जाता है) ॥५८॥

[तब पद्मा तथा मधुमङ्गल प्रवेश करते हैं]

मधुमङ्गल—हे पद्म ! मैं ने सुना है, आज कृष्ण के अनेक अनुनय विनय करने पर भी चन्द्रावली प्रसन्न नही हुई ॥५६॥

पद्मा—ऐसा ही है ॥६०॥

मधुमङ्गल—निश्चय ही कृष्ण दुखी हो रहा है । इन दोनो के

स्माकं सहकारिता ।] ॥६१॥

पद्मा—अज्ज ! अदो जेव तुमं मए अणुसरिदोसि :[आर्य ! अत एव त्वं मयानुसृतोऽसि ।] ॥६२॥

मधुमङ्गलः—(पुरो दृष्ट्वा) पउमे ! पेक्ख एसो पिअवअस्सो छप्पदमेत्तसहाओ केसरकुड्गे किंपि मन्तेदि । [पद्मे ! पश्यैष प्रियवयस्यः षट्पदमात्रसहायः केसरकुञ्जे किमपि मन्त्रयते ।] ॥६३॥

पद्मा—अज्ज, लदाजालेहिं अन्तरिदा भविअ सुणम्ह, किं एसो भणादि त्ति । [आर्य ! लताजालैरन्तरितौ भूत्वा शृणुवः किमेष भणतीति ।]

(इति तथा स्थितौ ।)

श्रीकृष्णः—(राधा स्मरन् सोत्कण्ठम्)

प्रसरति यद्भ्रूचापे श्लथज्यमकरोत्स्मरो धनुः पौष्पम् ।
मधुरिममणिमञ्जूषा भूषायै मे प्रिया सास्तु ॥६५॥१५॥

मधुमङ्गलः—पउमे ! एसो उक्कण्ठाए तुज्झ पिअसहीं जेव्व वण्णेदि । ता एहि, तुरिअं गदुअ एं समाणेम्ह । [पद्मे ! एष उत्कण्ठया तव प्रियसखीमेव वर्णयति । तदेहि, त्वरितं गत्वैनां समानयावः ।] ॥६६॥

मिलन में हमें सहायता करनी चाहिये ॥६१॥

पद्मा—आर्य ! इसलिए ही मैं तुम्हारे पास आई थी ॥६२॥

मधुमङ्गल—(सामने देखकर) पद्मे । देख, प्रिय कृष्ण केशर कुञ्ज में भंवरो से ही केवल कुछ मन्त्रणा कर रहा है ॥६३॥

पद्मा—आर्य ! लता-जाल में छिपकर सुनो यह क्या कह रहे हैं ॥६४

(मधुमङ्गल वैसे ही करता है)

श्रीकृष्ण—(श्रीराधा का स्मरण करते हुए उत्कण्ठा सहित) जिसकी भृकुटि कमान को देखकर कामदेव अपने पुष्प धनुष को ढीला छोड़ देता है, वह माधुर्य-रानिनी मणि-पेटिका स्वरूप (राधिका) मुझे विभूषित करें ॥६५

मधुमङ्गल—पद्मे ! यह उत्कण्ठा सहित तुम्हारी प्रिय सखी चन्द्रावली के गुण गारहे हैं, अतः तू जल्दी जाकर चन्द्रावली को ले आ ॥६६॥

पद्मा—अज्ज ! सुट्ठु णिट्टङ्किद सुणम्ह, ज बहुवल्लहो एसो। [आय सुष्ठु निष्टङ्कित शृणुव, यद्बहुवल्लभ एष ।] ॥६७॥

श्रीकृष्ण—(पुन सौत्सुक्यम्)

सा सुपमुपमानिर्जित-राकाचन्द्रा वलीलसन्मध्या ।

(इत्यर्धोक्ते) ॥६८॥

मधुमङ्गल—पउमे ! अल इमादो परेण सुदेण तुण्ण गच्छम्ह। [पद्मे ! अलमित परेण श्रुतेन तूर्ण गच्छाव ।] ॥६९॥

पद्मा—जुत्त क्धेसि। [युक्त कथयसि।] ॥७०॥

(इत्युभौ जवेन दूर परिक्रामत)

श्रीकृष्ण—मुहुरा धास्यति राधा मदुरसि रसिका किमात्मानम् ? ॥७१॥१६

पद्मा—अज्ज ! एव्व भणामि, माणिणीए पिअसहीए सअ समाअमेण लाहव होदि ता परावट्टिअ कण्ह विण्णवेहि। [आर्य ! एव भणामि, मानिन्या प्रियसख्या स्वय समागमेन लाघव भवति, तत्परावृत्त्य कृष्ण विज्ञापय।] ।७२॥

पद्मा—आय ! अच्छी प्रकार सुनकर देख, किसका गुण गारहे हैं, क्योकि यह बहु वल्लभ है ॥६७॥

श्रीकृष्ण—(पुन उत्कण्ठा सहित) आहा ! वह अपनी मुख सुपमा से पूर्णिमा के चन्द्र को भी पराजित करने वाली है एव उसका कटिदेश त्रिवली से सुशोभित है। (अभी अधूरा वाक्य ही बोल पाये थे) ॥६८॥

मधुमङ्गल—पद्म ! इसके वाद और कुछ सुनने का प्रयोजन नही है, आओ, शीघ्र चलते हैं ॥६९॥

पद्मा—ठीक कहते हो ॥७०॥

(इतना कहकर दोनो दूर तक शीघ्रता से चले जाते है)

श्रीकृष्ण—क्या वह रसिका राधा फिर कभी अपने को मेरे वक्षस्थल पर सस्थापन करेगी ? ॥७१॥१६॥

पद्मा—आर्य ! मैं तो कहती हू, माननी चन्द्रावली के अपने आप आने पर उसका निरादर होगा। इसलिए लौटकर जा और श्रीकृष्ण को सूचित कर ॥७२॥

मधुमङ्गल —सोहणं मन्तेसि । (इति कृष्णान्तिमासाद्य) पिअवअस्स, पच्छण्णेण भविअ सव्वं दे आअण्णिदं मए उक्कण्ठावअणं; ता आणवेहि, तं जेव्व तुज्झ वल्लहं तुरिदं समाणेमि । [शोभन मन्त्रयसि । प्रियवयस्य, प्रच्छन्नेन भूत्वा सर्व ते आकर्णित मयोत्कण्ठावचनम्, तदाज्ञापय । तामेव तव वल्लभा त्वरित समानयामि ।] ॥७३।

श्रीकृष्ण —(सश्लाघमालिङ्गच) सखे ! मदनुग्रहेण शीघ्रमानय ॥७४॥

(मधुमङ्गल परिक्रम्य पद्मया सह निष्कान्त)

श्रीकृष्ण – अहो ! परमोत्कण्ठानां प्रेम्णामुत्कण्ठाकारित्वम् ।

भ्रमरेऽपि गुञ्जति निकुञ्जकोटरे
मनुते मनस्तु मणिनूपुरध्वनिम् ।
अनिलेन चञ्चति तृणाञ्चलेऽपि तां
पुरत [प्रियामुपगता विशङ्कते ॥७५॥१७॥

(तत प्रविशति पद्मामधुमङ्गलाभ्या सगता चन्द्रावली)

चन्द्रावली—हला पउमे ! किं एसो बउलकुडुङ्गो दीसइ ? । [हला पद्मे ! किमेष बकुलकुञ्जो दृश्यते ? ।] ॥७६॥

मधुमङ्गल—सुन्दर सलाह दी है । (यह कहकर वह श्रीकृष्ण के पास आता है) प्रिये सखे ! मैंने छिपकर तुम्हारे सब उत्कण्ठायुक्त वचन सुने है, इसलिए आज्ञा दो, उस तुम्हारी प्रिय वल्लभा (राधा) को शीघ्र ले आता हूँ ॥७३॥

श्रीकृष्ण—(प्रशसा करते हुए आलिङ्गन करके) मित्र ! मेरे ऊपर अनुग्रह कर उसे शीघ्र ले आओ ॥७४॥

(मधुमङ्गल लौटकर पद्मा के पास चला जाता है)

श्रीकृष्ण—अहो ! परम उत्कट प्रेमियो की कैसी प्रेम उत्कण्ठाकारिता है ? कैसा आश्चय हैं ! निकुञ्ज-कुटीर मे भ्रमर गुञ्जार करे तो लगता है प्रिया के नूपुरो की ध्वनि आरही है । वायु से तृण आदि हिलते हैं तो हृदय मे आशका होती है कि प्रिया सामने आगई है ॥७५॥१७॥

[तब पद्मा और मधुमङ्गल के साथ चन्द्रावली प्रवेश करती है]

चन्द्रावली-सखि पद्मे ! यही बकुल कुञ्ज है क्या जो सामने दीखरही है?

पद्मा—अध इम् । ता तूण्णं एहि । [अथ किम् । तत्तूर्णमेहि ।] (इति परिक्रामति) ॥७७॥

श्रीकृष्णः—(नूपुरध्वनिमकर्ण्य) हन्त, भूरिशो भ्रामितोऽस्मि भ्रमरी-झङ्कारैः, तदलं वृथा प्रत्युद्गमसंभ्रमेण । (इत्युद्वेगं नाटयन्) ।

पुरः फलाप्रामाशार्ता जनः कामं विडम्ब्यते ।
आसन्ने हि घनारम्भे द्विगुणं रौति चातकः ॥७८॥१८॥

(पुनरुत्कर्णो भवन्) कथमभ्यर्णे भूषणशिञ्जितं श्रूयते ? (इत्युद्ग्रीविकां दत्वा ससंभ्रमम्) सत्यमसौ मिलिता मे प्रेयसी । (इति तरसा चन्द्रावली-पार्श्वमागत्य) ।

हृद्भृङ्गजङ्गमलता, मङ्गलभा राधिका मयोन्मुदिता ॥७९॥
इत्यर्धोक्ते)

(चन्द्रावली सेर्ष्यं मधुमङ्गलमालोकते)

मधुमङ्गलः—सहि चन्दावलि ! मङ्गलभारेण अधिआसि ति पिअ

पद्मा—हाँ, यह है, जल्दी चली आओ । (चली आती है) ॥७७॥

श्रीकृष्ण—(नूपुरों की आवाज सुनकर) हाय ! भ्रमरों की झंकारो से बहुत बार मैं भ्रम में पड़ा हूँ । अब उठकर सत्कार करने मे जल्दबाजी करने का कोई प्रयोजन नहीं है । (यह कहकर उद्वेग प्रकाश करते हैं)—

बादल को आया देखकर जैसे चातक दुगना शब्द करने लगता है,उसी प्रकार आशा का फल उपस्थित होने पर लोग अत्यन्त आग्रह प्रकाश करने लगते हैं ॥७८॥१८॥

(फिर कानों को खड़ाकर) यह क्या सामने ही भूषणों की ध्वनि सुनाई दे रही है ! (यह कहकर गर्दन उठाकर उत्साह पूर्वक) सचमुच मेरी प्रिया ही आरही है । (यह कहकर शीघ्रता से चन्द्रावली के पास आकर) अरे हृद-मधुकर ! गति शालिनी मङ्गलभा (मङ्गलाभा) राधिका लता मुझ पर प्रसन्न होगई है । । ७९॥ (यह आधा वाक्य कहने पर)

[चन्द्रावली ईर्ष्या सहित मधुमङ्गल की तरफ देखती है]

मधुमङ्गल—सखि चन्द्रावलि ! मङ्गलभाराधिका (तुम मङ्गलभार

वअस्सो तुमं जेव वण्णेदि। [सखि चन्द्रावलि ! मङ्गलभारेणाधिकासीति प्रियवयस्यस्त्वामेव वर्णयति ।] ॥८०॥

श्रीकृष्णः—(सर्वैलक्ष्यमात्मगतम्) हन्त, कथमनेन चन्द्रावलिरेवाभिसारिता। भवतु, बटुनोक्तमेव निर्वाहयामि। (प्रकाशम्)।

सुहृदनुरागवितन्द्रा चन्द्रावलिरञ्जसालम्भि ॥८१॥१९॥

(चन्द्रावली सलज्जं कृष्णकण्ठे वैजयन्ती विन्यस्यति)

श्रीकृष्णः—(सानन्दम्)

एकं प्रयाति परिचर्य चकोरराजी
चन्द्रं प्रिये निजमनोरथपूरपूर्तिम्।
चन्द्रावली किमु ममाक्षिचकोरयोस्त्वं
प्रीतिं द्वयोरपि न धास्यसि सेव्यमाना ॥८२॥२०॥

मधुमङ्गल—(सगर्वम्) भो वअस्स ! दिट्ठा तुए मज्झ विलक्खणा विअक्खणदा ? जो क्खु अणन्तगुणसालिणा वि तुए मोआइदुं ण पारिदो सो पिअसहीए माणगण्ठी णअगुणधारिणा मए मोआविदो। [भो वयस्य ! दृष्टा त्वया मम विलक्षणा विचक्षणता ? यः खल्वनन्तगुण-

---

से श्रेष्ठा होरही हो) श्रीकृष्ण तुम्हारी ऐसी स्तुति कर रहे हैं ॥८०॥

श्रीकृष्ण—(विस्मित होकर मन ही मन मे) ओहो ! मधुमङ्गल क्या चन्द्रावली को यहा ले आया है ? ठीक है जो हुआ। मधुमङ्गल की ही बात को निभाता हू। (स्पष्ट कहते हैं)बन्धुजन-अनुरागिनी चन्द्रावली को अनायास ही आज प्राप्त किया है ॥८१॥१९॥

(चन्द्रावली लज्जा पूर्वक श्रीकृष्ण के गले मे वैजयन्ती माला डालती हैं)

श्रीकृष्ण—(आनन्द पूर्वक)हे प्रिये ! चकोर एक ही चन्द्र की आराधना कर अपनी अपनी अभिलाषा पूर्ण किया करते हैं, किन्तु मेरे यह दोनो नेत्र रूपी चकोर चन्द्रावली (अनेक चन्द्रमयी तुम) को सेवन कर भी प्रेम को प्राप्त नही कर पा रहे है ॥८२॥२०॥

मधुमङ्गल—(गर्वपूर्वक) अहो मित्र ! देखो तुमने मेरी विलक्षण चतुरता ? अनन्त गुणशाली होकर भी तुम प्रिये सखी-चन्द्रावली की मान

शालिनापि त्वया मोचयितुं न पारितः, स प्रियसख्या मानग्रन्थिर्नवगुणधारिणा मया मोचितः ।] ॥८३॥

श्रीकृष्णः—वयस्य ! त्वमुद्दण्डकुसुमकोदण्डविलासषाड्गुण्ये महासांधिविग्रहिकोऽसि ॥८४॥

पद्मा—अज्ज ! पुरो पफुल्लाइं मल्लीपुप्फाइं पप्फुरन्ति, ता एहि इमाइं गेण्हम्ह । [आर्य ! पुरः प्रफुल्लानि मल्लीपुष्पाणि प्रस्फुरन्ति, तदेहि इमानि गृह्णीव ।] ॥८५॥

(इत्युभौ निष्क्रान्तौ)

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्) कुञ्जेऽस्मिन्नागतमात्रां राधां तर्कयामि, तदन्यतः प्रस्थास्ये । (प्रकाशम्) प्रिये ! पुरस्तान्नातिदूरे नागररङ्गोचिता नागकेसराटवी, तदत्रैवानुसराव ॥८६॥

(इति निष्क्रान्तौ)

(ततः प्रविशति ललितया सह संकथयन्ती राधा)

गाठ को नहीं खोल पाये और यज्ञोपवीत धारी (ब्रह्मचारी) मैंने उसे खोल डाला है ॥८३॥

श्रीकृष्ण—मित्र ! तुम उद्दण्ड कन्दर्प-विलास के छः गुणों[1] मे सन्धि और विग्रह मे निपुण हो ॥८४॥

पद्मा—आर्य ! तुम्हारे आगे मल्लिका पुष्प प्रफुल्लित हो शोभा दे रहे है, आओ, इनको बीने ॥८५॥

(यह कहकर दोनों चले जाते है)

श्रीकृष्ण—(मनमे) मुझे ऐसा लगता है, इस कुञ्ज मे श्रीराधा आने वाली हैं, इसलिए अन्यत्र चलना चाहिये ।(स्पष्ट बोले)प्रिये ! सामने नजदीक ही नागर-विलासोचित नाग केसर-वन है । आओ वहा चलते हैं । ८६॥

(यह कहकर दोनो चले जाते हैं)

(तत्पश्चात् ललिता के साथ बाते करती श्रीराधा प्रवेश करती है)

---

१ कन्दर्पविलास के छ गुण हैं—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध एवं आश्रय ।

राधा—हला ! पेक्ख पेक्ख, अन्धआरेहिं घोलिदं सव्वं दिसामुहम् । [हला ! पश्य पश्य, अन्धकारैर्घोरित सर्वं दिङ्मुखम् ।] ॥८७॥

ललिता—पिअसहि ! तिमिराहिसारोचिदेहिं सालमप्पसाहणेहिं मण्डिदो तुए किं क्खु अप्पा ? [प्रियसखि ! तिमिराभिसारोचितैः श्यामल-प्रसाधनैर्मण्डितस्त्वया किं खल्वात्मा ? ।] ॥८८॥

राधिका—अध इम् । [अथ किम् ।] ॥८९॥

ललिता—(विलोक्य सस्मितम् सस्कृतेन)

धम्मिल्लोपरि नीलरत्नरचितो हारस्त्वया रोपितो
विन्यस्तः कुचकुम्भयोः कुवलयश्रेणीकृतो गर्भगः ।
अङ्गे कल्पितमञ्जनं विनिहिता कस्तूरिका नेत्रयोः
कंसारेरभिसारसंभ्रमभरान्मन्ये जगद्विस्मृतम् ॥९०॥२१॥

राधिका—हला ! मुञ्चेहि परिहासं, तुरिदं उद्दिसेहि केसरकुडङ्गमग्गम् । [हला ! मुञ्च परिहासम्, त्वरितमुद्दिश केशरकुञ्जमार्गम् ।] ॥९१

ललिता—इदो इदो, पिअसही ! [इत इतः प्रियसखि !] (इति

श्रीराधिका—ललिते ! देख तो, सब तरफ घोर अन्धकार छा गया है ॥८७॥

ललिता—प्रिय सखि ! अन्धकार में अभिसार करने के उपयुक्त श्याम वर्ण के वसन-भूपणों से तो तुम्हारे अङ्ग भूपित है न ? ॥८८॥

श्रीराधिका—हां ऐसे ही है ॥८९॥

ललिता—(देखकर मुस्कराती हुई) राधे ! नीलमणि विरचित हार जो वक्षस्थल मे धारण करने योग्य है, तुमने जूड़े में बाध रक्खा है और पुप्प-गुच्छ को वक्षस्थल पर धारण कर रही हो, नेत्रो का अंजन जगह जगह शरीर पर और नेत्रों मे कस्तूरी लगा रखी है; मैं समझती हू कि श्रीकृष्ण-अभिसार की हडबड़ी मे तुम जगत्-व्यवहार को भूल रही हो ॥९०

श्रीराधिका—सखि ! छोड़ो परिहास को, जल्दी केशर कुञ्ज की राह बताओ ॥९१॥

ललिता—प्रिय सखि ! यह इधर रही इधर (यह कहकर घूमती हुई

परिक्रामन्ती सशङ्कम् संस्कृतेन) ।

तिमिरमसिभि संवीताङ्ग्य कदम्बवनान्तरे
सखि मधुरिपुं पुण्यात्मान सरन्त्यभिसारिका ।
तव तु परितो विद्युद्वर्णास्तनुद्युतिसूचयो
हरि हरि घनध्वान्तान्येता स्ववैरिणि भिन्दते ।।९२।२२।।

राधिका—अल इमिणा उवालम्भेण, पेक्ख पच्चासण्णो वउलकुडङ्गो। [अलमनेनोपालम्भेन, पश्य प्रत्यासन्नो बकुलकुञ्ज ।] (इति सम्भ्रमादुपसृत्य सपरामर्षम् संस्कृतेन) ।

विदूरान्न घ्राणं मदयति मुरारे परिमलो
न कुञ्जोऽयं तस्य स्फुरति नखरद्योतनिकरैः ।
ततः शङ्के कस्मिन्नपि रहसि वल्लीवलयिते
परीहासाकाङ्क्षी प्रियसखि निलीनस्तव सखा ।।९३। २३।।

ललिता—हला ! एहि वामदो कदम्बकुडङ्ग विइणुम्ह । [हला ! एहि वामत कदम्बकुञ्जं विचिनुम ।]।।९४।

राधिका—(तथा कुर्वती) अइ छइल्ल ! दिट्ठोसि दिट्ठोसि। चीस

भय सहित) राधे ! अन्धेरे की नीलमा मे छिपकर जो अभिसारि का रमणिया कदम्ब कानन मे श्रीकृष्ण के पास जाती हैं, वे बडी पुण्यात्मा हैं। तुम तो अपनी वैरिणी आप होरही हो। हरि ! हरि !! देखो तो तुम्हारी विद्युत वर्णा स्तनद्युति रूपी शलाका समस्त गाढ अन्धकार को छेदे दे रही है।।९२।।

श्रीराधिका—अब इन तिरस्कार युक्त वचनो का कोई प्रयोजन नही है देखो,बकुल कुन्ज निकट आगई है। (यह कहकर उत्कण्ठित होकर जाते हुए वितर्क सहित)—

ललिते ! मुझे तो यहा श्रीकृष्ण की अङ्ग-सौरभ नही आरही है वह तो दूर से उन्मत्त कर देती है, और न ही इस कुन्ज को मैं उनकी नख-चन्द्र द्युति से प्रकाशित ही देख रही हू। मैं समझती हू, तुम्हारा प्रिय सखा परिहास करने के लिए किसी घने लता-जाल मे छिपकर बैठ गया है।९३

ललिता – राधे ! आओ, बाईं ओर की कदम्ब कुञ्ज मे उसे देखती है।

श्रीराधिका—(उसी ओर जाकर एव अनुराग-वश सब बन को

अङ्गेहिं अङ्गाइं संगोवेसि ? [अयि विदग्ध ! दृष्टोऽसि, दृष्टोऽसि, कस्मादङ्गै रङ्गानि संगोपयसि] (इति समन्तान्मृगयति) ॥६५॥

ललिता–सहि ! मुञ्च मग्गणग्गहं । एहि, केलिकुड़ुङ्गकप्पणं कुणम्ह । [सखि ! मुञ्च मार्गणाग्रहम् । एहि केलिकुञ्जकल्पनं कुर्मः ।] ॥६६॥

राधिका—(संस्कृतेन)

रचय वकुलपुष्पैस्तोरणं केलिकुञ्जे
कुरु वरमरविन्दैस्तल्पमिन्दीवराक्षि ।
उपनय शयनान्ते साधु माध्वीकपात्रीं
सहचरि हरिरद्य श्लाघतां कौशलं ते ॥६७॥२४॥

ललिता—(तथा कृत्वा। हला ! पेक्ख, कण्हो विलम्बेदि । ता कुञ्जं पविसिअ णं पडिवालेम्ह । [हला ! पश्य, कृष्णो विलम्बते । तत्कुञ्जं प्रविश्यैनं प्रतिपालयावः ।] ॥६८॥

राधिका—(परिक्रम्योद्वेगं नाटयन्ती, संस्कृतेन)

रुद्धः क्वापि सखीहितार्थपरया शङ्के हरिः पद्मया
प्राप्तः कुञ्जगृहं यदेष न समीपामेऽप्यतिक्रामति ।

कृष्णमय देखकर) अरे नागर ! देख लिये, मैं ने तुम्हें देख लिया; अब किस लिए अङ्गो से अङ्ग छिपा रहे हो ? (ऐसा कहकर सब वन को खोजती हैं) ॥६५॥

ललिता–सखि ! छोड़ो उसे ढूंढना, आओ हम क्रीड़ा-कुञ्ज की रचना करें ॥६६।

श्रीराधिका—हे नील कमलनयने ! तुम बकुल-पुष्पों द्वारा क्रीड़ा-कुञ्ज का बहिर्द्वार रचना करो और कमलों की श्रेष्ठ शय्या के पास सब सुन्दर मधुपात्र लाकर रखो। हे सहचरि ! यह सब देखकर श्रीकृष्ण तुम्हारे शिल्प-कौशल की प्रशंसा करेंगे ॥६७॥२४॥

ललिता—(वैसे हो करके) राधे ! देखो, श्रीकृष्ण देर कर रहे हैं। आओ कुञ्ज में बैठकर उनकी प्रतीक्षा करें ॥६८॥

श्रीराधिका—(घूमकर उद्वेग प्रकाश करती हुई) मुझे तो ऐसा लगता है अपनी सखी चन्द्रावली का हित साधन में जुटी हुई पद्मा ने

पौलोमीरतिबन्धुदिङ्मुखमसौ हा हन्त संतर्पय-
न्नुन्मीलत्यभिसारलुब्धरमणीगोत्रस्य शत्रुः शशी ॥९९। २५॥

(इत्युभे निष्क्रान्ते)

(ततः प्रविशति कृष्णः)

श्रीकृष्णः—(समन्तादवलोक्य)

आसङ्गः कुमुदाकरेषु शिथिलो भृङ्गावलीनाममू-
द्वीक्षन्ते निजकोटराङ्कितममी क्षोणीरुहं कौशिकाः।
संकोचोन्मुखतां प्रयाति शनकैरौत्तानपादेर्द्युतिः
किं भानुर्ननु पूर्वपर्वततटीमारोढुमुत्कण्ठते ? ॥१००॥२६॥

(इति परिक्रम्य) न जाने नवीनविप्रलम्भेन सम्भृतनिर्भरसंरम्भा किं नाम प्रतिपत्स्यतेऽद्य राधा। (विमृश्य) भवतु, केशरेण नागकेसरं प्रतिपादयिष्ये, तदमूनि नागकेसराणि विचिनोमि। (इति तथा कृत्वा पुरोऽनुसर्पन्) ॥१०१॥

श्रीकृष्ण को कहीं रोक रखा है। तभी तो (वैशाख-पौर्णमासी के बाद की) चतुर्थी-तिथि निकली जा रही है अर्थात् अन्धाकार-मय रात की पहली घड़ी बीती जा रही है। और वह अभी तक कुञ्ज में नहीं आए हैं। हाय ! देखो तो अभिसार करने वाली रमणियों का परम शत्रु चन्द्रमा पौलोमीरति बन्धु अर्थात् इन्द्र की दिशा अर्थात् पूर्व दिशा के मुख को उज्ज्वल करते हुए उदित होने लगा है ॥९९।२५॥

(यह कहकर दोनों चली जाती हैं और तत्पश्चात् श्रीकृष्ण प्रवेश करते हैं)

श्रीकृष्ण—(चारों ओर देखकर) भ्रमर समूह की कुमुद के प्रति आसक्ति शिथिल हो गई दीखती है, पेचक अपने अपने घौंसलों के वृक्षों को देखने लगे हैं और ध्रुव-नक्षत्र की ज्योति भी धीरे धीरे प्रकाश हीन होती जा रही है, तो क्या सूर्य ही उदयाचल पर उदित होना चाहता है ?

(घूमकर देखते हुए) हाय ! न जाने नवीन विच्छेद में अतिशय क्रोधत होकर राधा आज क्या करेगी ? (वितर्क कर) अच्छा, हुआ जो हुआ, आज केसर के साथ नागकेसर पुष्प उसे प्रदान करूंगा, इसलिए इन नागकेसर के पुष्पों को चुनता हूं। (यह कहकर पुष्पों को चुनते हुए आगे बढ़ते हैं और सोचते हैं—) ॥१०१॥

कपटी स लताकुटीमिमां सखि नागादधुनापि माधवः ।
इति जल्पपरीतया तया कलमदीर्घा गमिता कथं तमी ? ॥१०२॥२७

(परिक्रम्य वकुलकुंजं पश्यन् सविषादम्)

ताम्बूलं घनसारसंस्कृतमदः क्षिप्तं पुरो राधया
हारो हन्त हरिन्मणिस्तबकितो हारोऽयमुत्सारितः ।
पौष्पी चेयमुदारसौरभमयी चूडा नखैः खण्डिता
तस्या शंसति विप्रलम्भजनितं कुञ्जोऽयमन्तः क्लमम् ॥१०३॥२८

(इत्यग्रतो गत्वा) इयमेव राधायाः सूर्याराधनवेदिका, तदस्याः पार्श्वमासादयामि। (इति परिक्रामति) ॥१०४॥

(ततः प्रविशति सखीभ्यामनुगम्यमाना राधा)

राधा—(पुरो विलोक्य) हला ललिदे ! पेक्ख, वेइआणेदिट्ठो सो तुज्झ छइल्लो । [हला ललिते ! पश्य वेदिकानेदिष्ठः स तव विदग्धः] ॥१०५

ललिता—सहि ! कञ्चणपडिमेव्व कठोरा होहि । [सखि ! काञ्चनप्रतिमेव कठोरा भव ।] ॥१०६॥

'सखि ! माधव अत्यन्त कपटी है, वह अभी तक भी इस कुंज में नहीं आये है—"यह कहकर राधा दुखमयी दीर्घतम इस रात को कैसे काटेगी ? ॥१०२॥२७॥

(फिर घूमकर वकुल कुञ्ज को देखते हुए दुख पूर्वक कहते हैं—)

देखो, राधा ने यह कर्पूर मिश्रित ताम्बूल पृथ्वी पर फेंक दिया है, हाय ! यह मनोहर नील कान्ति मणि गुच्छहार भी पड़ा है। ओ ! यह देखो, मनोहर सौरभमय पुष्पों से बना हुआ चूडा नखों से छिन्न-भिन्न हुआ टूटा पड़ा है। यह वकुल कुञ्ज राधा की सब विरह-जनित अन्तर्वेदना को ही प्रकाशित कर रहा है। ॥१०३॥२८॥

(कुछ आगे चलकर) यह तो राधा की सूर्य पूजा वेदी है। अब इसके निकट ही चलकर बैठ जाता हूं (यह कहकर वहां जाते हैं) ॥१०४॥

तदनन्तर ललिता और विशाखा के साथ श्रीराधा प्रवेश करती हैं]

श्रीराधा—(सामने देखकर) ललिते ! देख, वेदिका के पास बैठा है यह तेरा नागर ॥१०५॥

ललिता—सखि ! स्वर्ण प्रतिमा की भांति कठोर हो जा ॥१०६॥

श्रीकृष्ण —पुरस्तादेषा सहपरिवारा प्रिया । तदिदमुट्टङ्कयामि । (इत्युपसृत्य) ललिते ! साधु, साधु दृष्ट तव गरिष्ठमत्र दुर्मन्त्रतन्त्रचर्यायामाचार्यत्वम् यदद्य भवत्या केसरनिकुञ्जवेद्यामहमुज्जागरव्रतदीक्षापरिग्राहितोऽस्मि । १०७ ।

ललिता—(ससरम्भ सस्तुतेन) अहो वैपरीत्यम् ! अहो वैपरीत्यम् !

केसरनिकुञ्जकुहरे कुहक वसन्ती सखी त्वया रहिते ।
श्रितनवपल्लवशयना त्रुटिमपि कल्पाधिका मेने ॥१०८॥२६॥

श्रीकृष्ण —(कपटेनाटोप नाटयन्) अहो दम्भभरारम्भेषु गाम्भीर्य मस्याः । (इति नागकेसराण्युद्धाट्य दर्शयन्) ।

अरतिं मम निशि पश्यन्नक्लाम्यन्नागकेशरोऽप्यसकृत् ।
विगलन्मधुभि कुसुमैरेभिर्नेत्रै रिवोदस्रं ॥१०६॥३०॥

ललिता—अम्महे ! धूत्ततए, जं बउलवाइणा केसरेण दाणि णाअकेसरो विक्खावीअदि । [अहो ! धूर्तत्वम्, यद्बकुलवाचिना केशरेणेदानी नागकेशरो विख्याप्यते ।] ॥११०॥

श्रीकृष्ण—आहा ! सामने सखियो के सहित यह तो राधा आ रही हैं । तव तो इन्हे मैं ऐसा कहू (निकट आते है) ललिते ! बहुत अच्छा, बहुत सुन्दर !! देख लिया तुम्हारा दुष्ट मन्त्रणामय तन्त्राचरण मे भारी आचार्यत्व ! मैं ने आज तुम से केसर कुञ्ज की वेदिकापर जागरण-व्रत की दीक्षा ली है ।

ललिता-(क्रोध पूर्वक) ओहो ! कैसी उल्टी बात ! कैसी उल्टी चाल ! अरे जालसाज ! राधा तो तुम्हारे विना केसर कुञ्ज मे नवीन पल्लव-शय्या पर सोते सोते एक एक क्षण को कल्प समान मानती रही है ॥१०८॥२६॥

श्रीकृष्ण—(कपट सहित अहकार करते हुए) ओहो ! दम्भभरे कार्य मे कैसी गम्भीरता ! (नाग केसर के पुष्पो को दिखलाते हुए) हाय ! कितने दुख की बात ! रात मे जागने से मेरे अतिशय दु ख को देखकर नागकेसर भी निरन्तर मधु-चुचाते अपने पुष्प रूप नेत्रो से आसू बहाते बहाते विगलित हो गया है ॥१०६॥३०॥

ललिता—ओह ! कैसी आश्चर्यमय धूर्त्तता । बकुल-केसर पुष्प को नागकेसर पुष्प बताकर व्याख्या कर रहे हो ॥११०॥

श्रीकृष्णः—(सव्याजनिर्वेदम्) ललिते ! विश्राम्यतु तवेयं शब्दार्थस्यान्यथाकल्पनेन वचनचञ्चुता, अथवा कस्ते दोषः ? दृष्टदोषाभिरपि गौराङ्गीभिः सौहार्दमभिलष्यता मयैवापराद्धम् ॥१११॥

विशाखा—को क्खु गोरङ्गीणं दिट्ठो तुए दोसो ? [कः खलु गौराङ्गीणा दृष्टस्त्वया दोषः ?] ॥११२॥

श्रीकृष्णः—पश्य पश्य ।

> नवरसधारिणि मधुरे धरणीसंतापहारिविस्फुरणे ।
> विदधति न कृष्णमुदिरे गौर्यः क्षणरोचिषः स्थैर्यम् ॥११३॥३१॥

विशाखा—तस्सि कुलिसकूडकठोरचेट्ठिदे ताणं कोमलाणं जुत्ता ज्जेव्व तथा पउत्ती । [तस्मिन्कुलिशकूटकठोरचेष्टिते तासां कोमलानां युक्तैव तथा प्रवृत्तिः ।] ॥११४॥

श्रीकृष्ण—(छल पूर्वक अपने को कोसते हुए) ललिते ! शब्दार्थ में अन्यथा कल्पना द्वारा अपनी वाक्-पटुता को अब रहने दो। तुम्हारा क्या दोष है ? गौराङ्गियों के दोष देखते हुए भी मैं ने उनसे मित्रता की है, यह सब दोष मेरा ही है ॥१११॥

विशाखा—क्या देखे है आपने गौराङ्गियों के दोष ? ॥११२॥

श्रीकृष्ण—देख, देख—

पृथ्वी के संताप को हरने वाले नवीन जलधारी कृष्ण वर्ण मेघ के उदित होने पर गौराङ्गी क्षण प्रभा विद्युत् कभी भी स्थिरता धारण नहीं करती ॥

(पक्षान्तर में—पृथ्वी सन्ताप हारी शृंगारादि नवरस धारी मेघवर्ण कृष्ण के आने पर (तुम जैसी) गौराङ्गी-रमणियां क्षणमात्र के लिए भी स्थिरता धारण नहीं कर सकती हैं। झट मानयुक्त होकर विराग प्रकाश करने लगती हैं) ॥११३।३१॥

विशाखा—वज्र से भी अधिक कठोर चेष्टाशाली उस कृष्ण के प्रति सुकुमारियों का ऐसा बर्ताव उपयुक्त ही है ॥११४॥

ललिता—विसाहे ! सुणाहि कंपि गाहम् । [विशाखे ! शृणु कामपि गाथाम् ।] (इति भृङ्ग दर्शयन्ती) ।

चम्पअलद सिणिद्धं णअक्ख्रणकन्तिकुसुमगोरङ्गीम् ।
मुत्तिकअ धावइ भमरो चवला विअ सामला होन्ति ॥

[चम्पकलता स्निग्धा नवकाञ्चनकान्तिकुसुमगोराङ्गीम् ।
मुक्त्वा धावति भ्रमरश्चपला इव श्यामला भवन्ति ॥] ॥११५॥३२

श्रीकृष्ण.—(स्मित्वा) सत्यं वाग्मिनामसि राज्ञी ॥११६॥

ललिता—(अपवार्य) हला ! सुट्ठु णीसङ्केण वअणाडोवेण अणवरद्धं जेव्व णं तक्केमि । [सुष्टु निःशङ्केन वचनाटोपेनानपराद्धमेवैनं तर्कयामि ।]

श्रीकृष्ण.— वाम्याद्भुवेन्न विरतिर्नवयौवनानां
वामभ्रुवामिति जनश्रुतिरव्यलीका ।
चाटूनि कर्तुमुचितानि विमुच्य खिन्नं
मां प्रत्युताद्य यदमूरपरं जयन्ति ॥११८॥३३॥

ललिता—(अपवार्य) हला ! सच्चं उज्जाअरखिन्नो कण्हो, ता प्रसीद

ललिता—विशाखे ! सुन एक बात सुन । (यह कहकर भ्रमर को दिखाती हुई—

स्निग्ध स्वभावा नवीन कञ्चन की कान्ति धारण करने वाली कुसुम-गौराङ्गी चम्पकलता को परित्याग कर यह भ्रमर भाग रहा है । चपल व्यक्ति सब ही काले होते है ॥११५॥३२ ।

श्रीकृष्ण—(मुस्कराते हुए) सचमुच तू वाचालो की रानी है ॥११६॥

ललिता—(हाथ की ओट करके) सखि ! सुन्दर गर्वयुक्त वचनो से इसे निरपराधी ही समझ लेती हू ॥११७॥

श्रीकृष्ण—"कुटिल भ्रकुटि वाली नवयौवन युक्त रमणिया कभी भी कुटिलता त्याग नही कर सकती"—यह जनश्रुति कभी झूठी नही है, क्योकि उचित मीठे वचनो को त्यागकर मुझे दुखित-चित्त करने के लिए यह उद्यत हो रही हैं ॥११८॥३३॥

ललिता—(हाथ की ओट करके) सचमुच उजागर कृष्ण का चित्त

पसीद। [हला ! सत्यमुज्जागरखिन्नः कृष्णः, सत्प्रसीद प्रसीद।] ॥११६॥

श्रीराधिका-(कृष्णमपाङ्गेनावलोक्य) मुद्धाणं वञ्चणकलाविअद्धोसि। [मुग्धाना वञ्चनकलाविदग्धोऽसि।] ॥१२०॥

श्रीकृष्णः—(सानन्दम्) फुल्लकेशरकलापेनामुना धम्मिल्लश्रीस्त्वयालंक्रियताम्, वन्ध्यतां मा विन्दतु मम प्रयासः। (इति पुटिकामुद्धाट्य) प्रिये ! पश्यामूनि सुगन्धीनामग्रेसराणि नाग केशराणि, यैरहं सद्यः सुवासितोऽस्मि ॥१२१॥

श्रीराधिका—(सनर्मस्मितम्) णूणं चन्दाअलीपरिमलेण वासिदोसि तुमम्। [नूनं चन्द्रावलीपरिमलेन वासितोऽसि त्वम्] ॥१२२॥

श्रीकृष्णः—प्रिये ! पारिहासिकान्यपि ते वचांसि न कदाचिदपि व्यभिचरन्ति, यदद्य मदङ्गतश्चन्द्रावलीसौरभ्यमुदञ्चति ॥१२३॥

श्रीराधिका—(सेर्ष्यं परावृत्य) ललिदे ! किं मुद्दिदकण्णासि ? [ललिते ! किं मुद्रितकर्णासि ? ॥१२४॥

दुखी हो रहा है। इसलिए तुम प्रसन्न हो ओ, प्रसन्न हो ओ ॥११६॥

श्रीराधिका—(नेत्रकोर से श्रीकृष्ण को देखते हुए) ओहो ! आप तो मुग्धा-रमणियों की वञ्चना करने मे बड़े निपुण हैं ॥१२०॥

श्रीकृष्ण—(हर्ष पूर्वक) प्रफुल्लित केशर कुसुम द्वारा अपने जूड़े की शोभा को अलङ्कृत कीजिए न, जिससे मेरा परिश्रम असफल न हो। (यह कहकर पुड़िया खोलते हुए) प्रिये ! समस्त सुगन्धियों में श्रेष्ठ इस केशर कुसुम को तो देखिये, इसी के द्वारा ही आज मैं सौरभशाली हो रहा हूं ॥१२१

श्रीराधिका—(परिहास युक्त मुस्कराते हुए) निश्चय ही तुम चन्द्रावली की सौरभ से सुवासित हो रहे हो ॥१२२॥

श्रीकृष्ण—प्रिये ! तुम्हारे परिहास युक्त वाक्य भी कभी झूठे नहीं होते हैं, तभी तो आज मेरे अङ्गों से तुम्हें चन्द्रावली की सौरभ आ रही है ॥१२३॥

श्रीराधिका—(ईर्ष्या सहित मुँह फेर कर) ललिते ! तेरे कान बन्द हो रहे हैं क्या ? ॥१२४॥

श्रीकृष्णः—(स्मित्वा) प्रिये ! कथमक्षरसाम्यादक्षमासि, यदहं कर्पूरावलीं वर्णयामि ? ॥१२५॥

श्रीराधिका—(सस्मितम्) समप्पेहि पुप्फाइं । [समर्पय पुष्पाणि ।] (इति पटाञ्चलं प्रसारयति) ॥१२६॥

श्रीकृष्णः—(राधामुखं प्रेक्ष्य स्वगतम्) हन्त, विभ्रममण्डितस्य चिल्लीकोदण्डस्य ताण्डवकला ! ॥१२७॥

विशाखा—(जनान्तिकम्) ललिदे ! पेक्ख पेक्ख, संमोहणेण राहीए कडक्खबाणेण लक्खीकिदो पुप्फपुडिआए सद्धं अञ्चले दिण्णंवि वेणुं ण जाणादि कण्हो । [ललिते ! पश्य पश्य, संमोहनेन राधायाः कटाक्षबाणेन लक्षीकृतः पुष्पपुटिकया सार्धमञ्चले दत्तमपि वेणु न जानाति कृष्णः ।]१२८

ललिता—(संस्कृतेन)

निद्रागमेऽपि सखि नन्दसुतस्य हर्तुं
यां शक्नुवन्ति न पराः पशुपालबालाः ।
धन्या कटाक्षकलया किल मोहयन्ती
तां राधिकाद्य पुरतो मुरलीं जहार ॥१२९॥३४॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कराकर) हे प्रिये ! समान अक्षरों के प्रयोग से क्यो असहनशीला हो रही हो ? मैं तो कर्पूरावली का वर्णन कर रहा हू (न कि चन्द्रावली का। ॥१२५॥

श्रीराधिका—(मुस्कराकर) दीजिये पुष्पों को (यह कहकर अपना वस्त्रांचल फैलाती हैं) ॥१२६॥

श्रीकृष्ण—(श्रीराधा के मुख को देखकर अपने मन मे) हाय ! विभ्रम-भूषित भ्रुकुटि-कमान की कैसी अद्भुत नृत्य कला ! ॥१२७॥

विशाखा—(हाथ की ओट कर) ललिते ! देख देख, श्रीराधा के सम्मोहनकारी कटाक्ष वाणों से घायल हो श्रीकृष्ण पुष्प-पुड़िया के साथ अपनी मुरली भी आचल मे डाले दे रहे है, परन्तु उन्हे इस बात की पता नहीं है ॥१२८॥

ललिता—सखि ! अन्यान्य गोपबालिकाएं श्रीकृष्ण की निद्रावस्था में भी जिस मुरली को हरण करने मे समर्थ नही हो पाती, धन्य है आज यह श्रीराधा, जिसने कटाक्ष वाणो से इन्हें विमोहित कर इनके सामने ही उस मुरली को हर लिया है ॥१२९॥३४॥

श्रीराधिका—(अपवार्य संस्कृतेन)

या निर्मांति निकेतकर्मरचनारम्भे करस्तम्भनं
रात्रौ हन्त करोति कर्षणविधिं या पत्युरङ्कावपि।
गौरीणां कुरुते गुरोरपि पुरो या नीविविध्वंसनं
धूर्ता गोकुलमङ्गलस्य मुरली सेयं ममाभूद्वशा ॥१३०॥३५॥

(नेपथ्ये)

अरे कुरङ्गा ! दिट्ठो तुम्हेहिं पिअवअस्सो ? [अरे कुरङ्गाः ! दृष्टो युष्माभिः प्रियवयस्यः ?] ॥१३१॥

श्रीकृष्णः—कथं मिलत्येव मधुमङ्गलः ? ॥१३२॥

(प्रविश्य माल्यहस्तः)

मधुमङ्गल.—सुदं मए सुबलमुहादो जं अज्ज णिउञ्जमज्झे राहिआ उजाअरिदा आसी, ता गदुअ णं पोच्छाहइस्सम् । [श्रुत सुबलमुखाद्य-दद्य निकुञ्जमध्ये राधिका जागरितासीत्, तद्गत्वैनां प्रोत्साययिष्यामि] (इत्युपसृत्य सस्कृतेन) ॥१३३॥

अविरलवनमालालंकृतस्निग्धमूर्तिः
स्फुरितकटककान्तिर्धातुभिर्मण्डिताङ्ग ।

श्रीराधिका—(हाथ की ओट मे) सखि ! गृह-कार्य आरम्भ करते मे जो हाथों को चलने नही देती, जो रात्रि मे पति-क्रोड़ में सोती हुई रमणियों को भी अपनी ओर आकर्षित कर लेती है तथा गुरुजनों के सामने ही जो सुन्दरियो की नीवि-बन्धन विमोचन कर देती है, गोकुलानन्द की वह धूर्त्ता मुरली आज मेरे वशीभूत हुई है ॥१३०॥३५॥

[वेश-भूषा गृह से आवाज आती है]

'अरे' मृगगणो ! तुम ने मेरे प्रिय सखा को देखा है क्या ? ॥१३१॥

श्रीकृष्ण—मधुमङ्गल आ रहा है क्या ? ॥१३२॥

[माला हाथ में लिए मधुमङ्गल प्रवेश करता है]

मधुमङ्गल.—मैंने सुबल के मुख से सुना है, आज निकुञ्ज में श्रीराधा जागती रही है, वहा चलकर उसे उत्साहित करता हूं। (यह कहकर निकट आकर कहता है) ॥१३३॥

सखि राधे ! जो निरन्तर वनमाला से अलङ्कृत होकर स्निग्ध मूर्ति

अखिलभुवनतुङ्गो नेत्रभङ्ग्या विकृष्टः
कथमिव सखि राधे कृष्णशैलस्त्वयाभूत् ॥१३४. ३६॥

(राधिका स्मयते)

श्रीकृष्णः—प्रिये ! वेत्ति मे तमस्तमीसंभवं वयस्योऽयम् ॥१३५॥

श्रीराधिका—अज्ज ! दंसिदं अज्ज सिणेहदक्खिणं, जं कन्तारसिन्धु-संतारकोसलाइं सिक्खाविदम्हि । [आर्य ! दर्शितमद्य स्नेहदाक्षिण्यं, यत्कान्तारसिन्धुसंतारकौशलानि शिक्षितास्मि ।] ॥१३६॥

मधुमङ्गलः—सहि ! साहु अम्हे उवालहिज्म्ह, जेहिं चलन्तीं पि वल्लीं तुमं तक्किअ वणे वसन्तेहिं सादङ्कं जाअरिदम् । तुम्हे क्खु सलाहिज्जइ, जाहिं पिअवअस्ससणाहं पि कुञ्जं अणिब्बन्धेण सुण्णं भणिअ घरे पविसन्तीहिं णिरादङ्कं सुत्तम् । [सखि ! साधु वयमुपालभ्यामहे, यैश्चलन्तीमपि वल्ली त्वां तर्कयित्वा वने वसद्भिः सातङ्कं जागरितम् । यूयं खलु श्लाघ्यध्वे, याभि. प्रियवयस्यसनाथमपि कुञ्जमनिर्बन्धेन शून्य मत्वा गृहे प्रविशतीभिर्निरातङ्कं सुप्तम् ।] । १३७॥

धारण करते हैं, जिनसे कुण्डलो की कान्ति स्फुरित होती है, जो गैरिक धातुओ से विभूषित रहते हैं, निखिल जगत् मे सर्वोपरि विराजमान उन श्रीकृष्ण शैल को तुमने अपने कटाक्षो कैसे से आकर्षित कर लिया है ? ॥१३४

[श्रीराधा हसती है]

श्रीकृष्ण—हे प्रिये ! यही सखा जानता है, मुझे रात्रि को कितना दु ख हुआ है ॥१३५॥

श्रीराधिका—आर्य ! आज स्नेह की कुशलता प्रदर्शित हुई है, क्योंकि वन-भ्रमणादि दुर्गम पथ जनित रूप दु ख-समुद्र को पार करने की कुशलता की, मैंने शिक्षा प्राप्त की है ॥१३६॥

मधुमङ्गल—सखि ! तुम ने अच्छी हमारी वञ्चना की है । हम तो वन मे रह कर वायु से हिलतो हुई लता को देख देख तुम्हारे आने का अनुमान कर आतङ्क पूर्वक जागते रहे है और तुम्हारी यह खूबी है कि प्रिय सखा कृष्ण के कुञ्ज मे रहते हुए भी कुञ्ज को शून्य मान कर तुम घर मे जाकर बे-फिकर सोती रही हो ॥१३७॥

श्रीराधिका:—अज्ज ! किं एव्वं भणासि ? [आर्य ! किमेवं भणसि ?] (इति संस्कृतेन)

> निकुञ्जं कंसारेर्नत नखरचन्द्रावलिरुचि-
> च्छटाप्रस्तं नाग्रे मुहुरपि यदा प्रेक्षितमभूत् ।
> तदा सद्यः प्रोद्यद्विधुहतकविक्रान्तिहतया
> मया लब्धारण्ये वलमनिवहपूर्णा परिणतिः ॥१३८॥३७॥

मधुमङ्गलः—(स्वगतं) अहो, कधं कुड्ङ्गसंगदा चन्द्राअली वि राहिआए दिट्ठत्थि ? ता वच्चणं मुञ्चिअ णं उक्करिसइस्सम् । [अहो, कथं कुञ्जसंगता चन्द्रावल्यपि राधिकया दृष्टास्ति ? तद्वञ्चनं मुक्त्वा एतामुत्कर्षयिष्यामि । १३९॥] (प्रकाशम् संस्कृतेन) ।

बलान्तेन ते वदनचन्द्रमनाकलय्य कल्याणि गोकुलपुरंदरनन्दनेन ।

चन्द्रावली·········(इत्यर्धोक्ते) ॥१४०॥

(कृष्णो भ्रूसंज्ञया निवारयति)

(सर्वाः परस्परं साकूतमवलोकयन्ति) ॥१४१ ।

मधुमङ्गल.—(स्वगतम्) हन्त हन्त, किदं मए बम्हणबडुओचिदं

श्रीराधिका—आर्य ! ऐसा क्यों कहते हो ?

कितने दुख की बात है ? मैं जब बारम्बार ढूंढ चुकी और श्रीकृष्ण को नखचन्द्रावली की कान्ति से इस निकुञ्ज को प्रकाशित नहीं देखा, तभी ही इस नव-उदित अभागे चन्द्र की रश्मियों द्वारा घायल होकर इस वन में वनेश की परम अवस्था को प्राप्त हुई हूं ॥१३८॥३७॥

मधुमङ्गल—(अपने मन में) अहो ! कहीं कृष्ण के साथ कुञ्ज में मिलते हुए चन्द्रावली को श्रीराधा ने भी देख लिया है, इसलिए अब वञ्चना त्यागकर उस की प्रशंसा करता हूं ॥१३९॥

(स्पष्ट कहता है) हे कल्याणि ! गोकुलेन्द्र नन्दन तुम्हारे मुखचन्द्र को न देखकर चन्द्रावली·······(इतना कहने पर श्रीकृष्ण आंख के इशारे से उसे रोकते हैं । सब अगली बात जानने की इच्छा से एक दूसरे को देखने लगते हैं) ॥१४०॥१४१॥

मधुमङ्गल-(मन में) हाय ! मैं ने तो ब्राह्मण बालक की तरह चपलता

चापलम् । [हन्त हन्त, कृत मया ब्राह्मणबटूकोचित चापलम् ।] ॥१४२।

श्रीकृष्ण —(विभाव्य) विभावरीभवं मे वरीय कष्ट बाष्परुद्ध-कण्ठोऽय सवृत्त, तदहमेव वाक्य समापयामि । (इति स्मित्वा) ॥१४३॥

चन्द्रावलीननयनान्ततया किलास्य
साहस्यत कथमपि क्षपिता क्षपेयम् ॥१४४॥३८॥

मधुमङ्गल —पिअवअस्स ! सव्वण्णोसि, किं ति मह हिअअट्ठिद पज्जद्ध ण जाणिस्ससि ? । [प्रियवयस्य ! सर्वज्ञोऽसि, किमिति मम हृदयस्थित पद्यार्ध न ज्ञास्यसि ?] ॥१४५॥

ललिता—राहे अज्ज वि सदिद्धासि ? पेक्ख पेक्ख रत्तिविलासपिसुणाइ णाअरस्स चङ्गाइ अङ्गाइं । [राधे ! अद्यापि सदिग्धासि ? पश्य, पश्य, रात्रिविलासपिशुनानि नागरस्य चङ्गान्यङ्गानि ।] ॥१४६॥ (इति सेर्ष्यम् सस्कृतेन)

बाले गोकुलयौवतस्तनतटीदत्तार्धनेत्रादित
काम श्यामशिलाविलासिहृदयाच्चेत परावर्तय ।

कर डाली ॥१४२॥

श्रीकृष्ण—(सब की इच्छा जानकर) रातभर के मेरे महान दुख को याद कर मधुमङ्गल का गला आसुओ से रुक गया है। मैं ही उसके वाक्य को पूरा किए देता हू । (यह कहकर मुस्कराते हुए बोले)—॥१४३॥

"चन्द्रावलीन नयन अर्थात् तुम्हारे मुख के समान चन्द्र मे ही नेत्रो को लगाए हुए मैं ने बडे कष्ट से ज्यो-त्यो रात काटी है ।१४४॥३८॥

मधुमङ्गल—प्रिय मित्र ! तुम सर्वज्ञ हो, फिर मेरे हृदय के आधे वाक्य को क्यो न जान लोगे ? ॥१४५॥

ललिता—राधे ! अभी भी तुम्हे कुछ शक है ? देख, देख, नागर के मनोहर अङ्गो पर सब रति विलास के चिह्न स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं॥१४६

(फिर ईर्ष्या सहित कहती है—)

हे बाले ! यह गोपयुवतियो के वक्षस्थल पर आधे नेत्रो से देखने वाला है और इसका हृदय श्याम शिला की भाति अत्यन्त कठिन है, इसलिए तू इससे अपना मन हटा ले । हम क्या जानती नहीं हैं कि यह धूर्त्त क्रीड़ा

विद्यः किं न हि यद्विकृष्य कुलजाः केलीभिरेष स्त्रियो
घूर्तः संकुलयन्कलङ्कततिभिर्निःशङ्कमुन्मुञ्चति ॥१४७॥३९॥

श्रीराधिका—हद्धी हद्धी, सुट्ठु विडम्बिदम्हि। [हा धिक् हा धिक्, सुष्ठु विडम्बितास्मि।]॥१४८॥

श्रीकृष्णः—प्रिये, मुधैव मां दूषयसि ॥१४९॥

श्रीराधिका—(सोपालम्भम् संस्कृतेन)

मुक्तान्तर्निमिषं मदीयपदवीमालोकमानस्य ते
जाने केसररेणुभिर्निपतितैः शोणीकृते लोचने।
शीतैः काननवायुभिर्विरचितो बिम्बाधरे च क्षणः
संकोचं त्यज देव दैवहतया न त्वं मया दूष्यसे ॥१५०॥४०॥

श्रीकृष्णः—प्रिये ! तवाधीनस्य मे संकोचोऽप्यलंकारायैव ॥१५१॥

श्रीराधिका-साहीणो सव्वलोअविक्खादोसि। कधं ममाहीणो हुविस्ससि? [स्वाधीनः सर्वलोकविख्यातोऽसि। कथं ममाधीनो भविष्यसि ?] ॥१५२॥

के बहाने पहले तो कुल-कामनियों को अपनी ओर आकर्षित करता है और उन्हे कलङ्कित कर देता है, फिर व्याकुल करते हुए निशङ्क होकर उनका परित्याग कर देता है ॥१४७॥३९॥

श्रीराधिका—हाय धिक्कार ! हाय धिक्कार !! मैं अच्छी तरह ठगी गई ॥१४८॥

श्रीकृष्ण—हे प्रिये ! वृथा दोष मत दो ॥१४९॥

श्रीराधिका—(तिरस्कार सहित) हे देव ! अनिमिष नेत्रों से मेरी बाट देखते ही देखते तुम्हारे नेत्रो मे पुष्प पराग पड़ गई है, जिससे ये लाल हो रहे हैं और वन मे भ्रमण करते करते शीतल वायु लग लगकर आप के अधरो पर व्रण हो गए हैं। आप सब सङ्कोच छोड़ दीजिये, मैं मन्दभागिनी आप को कोई दोष नहीं दे रही हूं ॥१५०॥४०॥

श्रीकृष्ण—हे प्रिये ! मैं तुम्हारे अधीन हूं इसलिए संकोच भी मेरा भूषण है ॥१५१॥

श्रीराधिका—आप तो सब लोको में स्वाधीन प्रसिद्ध हो, मेरे अधीन क्यों होवोगे ? ॥१५२॥

श्रीकृष्ण —राधे ! तवाधीनो नाहमेव केवलोऽस्मि, किंतु ते मम दशावताराश्च। तथा हि—

चञ्चन्मीनविलोचनासि, कमठोत्कृष्टस्तनी सगता,
क्रोडेन स्फुरता तथायमधर, प्रह्लादसवर्धनः।
मध्योऽसौ वलिबन्धनो, मुखरुचा रामास्त्वया निर्जिता,
लेभे श्रीघनताद्य, मानिनि मनस्यङ्गीकृता कल्किता ॥१५३॥४१॥

श्रीराधिका—हला ललिदे ! आअण्णिद तुए ? [हला ललिते, आकर्णित त्वया ?] ॥१५४॥

ललिता—कण्ह ! तुह ओदारा तुअम्मि ज्जेव्व वसन्ति, ज एदाए चिण्हाइं दीसन्ति। [कृष्ण, तवावतारास्त्वय्येव वसन्ति, यदेतेपा चिह्नानि दृश्यन्ते।] (सस्कृतेन)

वन्यान्तर्गु रुचापल, कठिनता, गोसगति, पाणिजे
क्रौर्यं, दम्भरुचि, सुचण्डिमधुरा, लङ्केशविध्वसनम्।

श्रीकृष्ण—हे राधे ! मैं ही केवल तुम्हारे अधीन नही हू। मेरे दशो अवतार ही तुम्हारे अधीन हैं, देखिये —

हे मानिनि ! आप के चचल नेत्र मीन के सदृश हैं—(मीन)। कच्छप पीठ से भी अधिक कठोर है आप का वक्षस्थल—(कच्छप)। आप दीप्तिशालि क्रोड (अर्थात् मध्य देश) से सुशोभित हैं—(क्रोड-वराह)। आप के अधर प्रह्लाद-सवर्धन अर्थात् प्रकृष्टरूप से अह्लाद को बढ़ाने वाले हैं—(नृसिंह)। आप का कटिदेश वलि बन्धनकारी अर्थात् त्रिवली रेखा से आवेष्टित है—(वामन)। आप की मुख शोभा रामा अर्थात् रमणी गण को पराजित करने वाली है—(राम एव परशुराम)। आप श्रीधन अर्थात् शोभा की घनता या निविडता को प्राप्त हो रही हो—(श्रीफल बुद्ध) और इस समय आप मन मे (कल्किता) अर्थात् प्रणय-कलह को धारण कर रही हैं—(कल्कि)॥१५३॥४१॥

श्रीराधिका—सखि ललिते ! सुन लिया तुम ने ॥१५४॥

ललिता - हे कृष्ण ! तुम्हारे सब अवतार तुम मे ही रहते हैं और उन सब के लक्षण तुम मे ही दीखते हैं—

देखो-वन मे तुम्हारी चपलता (मीन), कठोरता (कच्छप), गो-सगति अर्थात् पृथ्वी सगति (वराह), नख-क्रूरता अर्थात् रमणियो के वक्षस्थल

अश्रान्तोन्मदलौल्यमिष्टिकदनं, निस्त्रिंशलीलोद्यति-
र्मीनेन्द्राद्यवतारतः स्फुटममी भ्राजन्ति भागास्त्वयि ॥१५५॥४२॥

श्रीकृष्णः—(सस्मितम्) सखे ! पश्य पश्य ।

ललिताजनि दुर्ललिता बभूव राधा दुराराधा ।
सन्ते मयि न च्छायां शशाक कर्तुं विशाखेयम् ॥१५६॥४३॥

(इति वटोः करान्मल्लीदाम गृहीत्वा । सचाटुप्रणामम्)

स्रगियमुरुगुणा ते चित्तवीथीव राधे
सुचिरतिसुकुमारी काममामोदनी च ।
नखपदशशिरेखा धाम्नि पुष्णातु कान्ति
तव कुचशिवमूर्ध्नि स्वधुनीविभ्रमेण ॥१५७॥४४॥

(इति भ्रूसंज्ञया विशाखामनुकूलयन्माल्यमर्पयति)

पर नखाघात (नृसिंह), कपटता में रुचि (वामन), प्रचण्ड-मधुरिमा (परशुराम), (रमणियों के) केशों का आकर्षण (राम), अविरत उत्कट उन्मादता (बलराम), (तम) सुहृद्धों को दुख देना अथवा यज्ञों का ध्वंस करना (बुद्ध) एवं तलवार जैसी तीक्ष्ण लीलोत्कर्षता अर्थात् खड्ग धारत्व (कल्कि) ये सब दस अवतारों के अंश स्पष्ट रूप से तुम में विद्यमान हैं ॥१५५

श्रीकृष्ण—(मुस्कराकर) मित्र ! देखो, देखो—

इस समय ललिता दुर्ललिता अर्थात् लालित्य रहित हो रही है और राधा दुराराधा अर्थात् क्रोधित, मुझ सन्तप्त को शाखा रहित विशाखा भी छाया प्रदान करने मे समर्थ नही है ॥१५६॥४३॥

(यह कहकर मधुमङ्गल के हाथ से मल्लिका-पुष्पमाला लेकर चापलूसी सहित प्रणाम करते हुए है)—

हे राधे ! अतिशय गुण शालिनी यह माला तुम्हारी चित्त-वृत्ति की भांति निर्मल, सुकोमल एवं यथेष्ट रूप से आमोद प्रदायिनी है । इसलिए आप के वक्षस्थल रूपी शंभु-सिर पर गङ्गा-धारा की तरह सुन्दर नख चिह्न रूप चन्द्र रेखा की लावण्यता के बीचो बीच तुम्हारी कान्ति की वृद्धि करे (यह मेरी प्रार्थना है) ॥१५७॥४४॥

[यह कहकर भ्रू के इशारे से विशाखा को अनुकूल कर माला दे देते हैं]

विशाखा—(माल्यं निवेदयन्ती संस्कृतेन)

यस्मिन्नेत्रसरोरुहाङ्गणभुव प्राप्ते विदूरं मना-
क्सद्यस्ते निमिषोऽपि याति तुलना तन्वङ्गि मन्वन्तरे ।
वृन्दारण्यकदम्बमण्डपतटक्रीडाभराखण्डले
तस्मिन्काकुपरायणे तव कथं काम्यानि वाम्यान्यपि ॥१५८॥४५॥

श्रीराधिका—(साभ्यसूयम्) अवेहि णिव्वुद्धिए ! अवेहि । [अपेहि निर्बुद्धिके ! अपेहि ।] ॥१५९॥

श्रीकृष्ण —धूलिधूसरितचन्द्रकाञ्चलश्चन्द्रकान्तमुखि वल्लभो जनः ।
अर्पयन्मुहुरयं नमस्क्रियां भिक्षते तव कटाक्षमाधुरीम् ॥१६०॥४६॥

ललिता—राहे ! झत्ति कन्धरं परावट्टेहि, पुट्ठदो आआरेदि अज्जिआ। [राधे ! झटिति कन्धरां परावर्तय । पृष्ठत आकारयत्यार्या] ॥१६१॥

(राधिका तथा करोति)

(प्रविश्य)

विशाखा—(माला भेंट करते हुए)—हे कृशाङ्गि ! तुम्हारे नेत्र-कमल रूप प्राङ्गण से जिनके जरा दूर जाने पर तुम निमेष काल को भी मन्वन्तर के समान समझती हो, और जो वृन्दावन के कदम्ब मण्डपों में विहार करने में इन्द्र के समान हैं, आज वही श्रीकृष्ण तुम्हारी विनम्र बचनों से स्तुति कर रहे हैं। अतः हे सखि ! उनके प्रति तुम्हारी स्वेच्छा पूर्वक यह प्रतिकूलता कैसी ? (यह उचित नहीं है) ॥१५८॥४५॥

श्रीराधिका-(असूया सहित) दूर हो, अरी निर्बुद्धि ! दूर हो ॥१५९॥

श्रीकृष्ण—हे चन्द्रकान्त-मुखि ! तुम्हारा यह प्रिय जन सिर में धारण किए हुए मोर-चन्द्रकाञ्चल को धूलि धूसरित करते हुए (पृथ्वी पर रखकर) प्रणाम करता है और तुम्हारी कटाक्ष-माधुरी की भिक्षा चाहता है ॥१६०॥४६॥

ललिता—राधे ! पीछे को शीघ्र मुड़ जाओ, आर्या मुखरा बुला रही है ॥१६१॥

[श्रीराधा पीछे को मुड़ जाती है] (मुखरा प्रवेश करती है)

मुखरा—(कृष्णं विलोक्य संस्कृतेन)

वनासक्तं चेतः प्रणयति गृहाद्यो विरमयं-
स्वरेण्यं बन्धूनां प्रणयमपि विस्मारयति य. ।
महाधूर्तश्रेणीगुणगरिमविस्तारणपटोः
करोत्सङ्गे तस्य त्वमपि सरले पुत्रि पतिता ।।१६२।४७।।

मधुमङ्गलः—(जनान्तिकम्) भो वअस्स, मारुदवाआलीकिदमुही तुज्झ वंशीव्व एत्थ बुड्ढिआ पत्ता, ता एत्थ किं विलम्बेसि ? [भो वयस्य ! मारुतवाचालीकृतमुखी तव वशीवात्र वृद्धा प्राप्ता । तदत्र किं विलम्बसे ?]

श्रीकृष्णः—सखे ! क्व मे वंशी ? ।।१६४।।

मधुमङ्गलः—सअं जेव्व जाणासि कहिं त्ति । [स्वयमेव जानासि कुत्रेति ।] ।।१६५।।

श्रीकृष्णः—स्फुटं राधिकयैव हृतेयम् । तदेनां विना कथं प्रस्थानमुचितम् ? ।।१६६।।

मधुमङ्गलः—(सपरिहासम्) भो, इदं क्खु अम्हाणं गरुअं भाअ-

मुखरा—(श्रीकृष्ण को देखकर) जो घर से चित्त को हटाकर वन मे आसक्त करा देता है और बान्धवों के महान अनुराग को भुलवा देता है एव जो धूर्त्तों की महिमा विस्तार करने मे गुरु है, हे सरल स्वभावा पुत्रि ! तुम भी उसी कृष्ण के हाथों पड़ गई हो ।।१६२।।४७।।

मधुमङ्गल—(कान मे धीरे से) हे मित्र ! वायु की भाति तुम्हारी वंशी की तरह वाचाल मुखी वृद्धा मुखरा आ गई है, अब यहां क्यो देर कर रहा है ? ।।१६३।।

श्रीकृष्ण—सखा ! मेरी वंशी कहां है ? ।।१६४।।

मधुमङ्गल—तुम्हें पता, कहाँ की है ।।१६५।।

श्रीकृष्ण—निश्चय राधा ने ही हर ली है। वंशी के विना यहां से कैसे चलें ? ।।१६६।।

मधुमङ्गल—(परिहास करते हुए) मित्र ! यह हमारा परम भाग्य

घेत्ता जं इमाहि मोहिणीहि तुमं चोरिअ ण संगोविदोसि। ता चिट्ठदु वराणी मुरलिआ। अताणं घेत्तूण पलाअम्ह। [भोः ! इदं खल्वस्माक गुरुकं भागधेय, यदेताभिर्मोहिनीभिस्त्वं चोरयित्वा न संगोपितोऽसि। तत्तिष्ठतु वराकी मुरलिका, आत्मानं गृहीत्वा पलायामहे।] ॥१६७॥

श्रीकृष्णः—(सस्मितम्) रे वाचाट ! तिष्ठ तिष्ठ ॥ (इति परिक्रम्य)

सुन्दरि बिन्दुच्युतके तव नैपुण्यं बभूव पुण्येन।
शशिमुखि वशीकृताभूद्वंशी मम यत्त्वया त्वरया ॥१६८।४८॥

श्रीराधिका—(सभ्रूभङ्गम्) मुञ्चेहि णं भङ्गिए कलङ्कारोवणम्। का जाणादि तुम्ह वंशिअम् ? [मुञ्चैन भङ्ग्या कलङ्कारोपणम्, का जानाति त्वद्वंशिकाम् ?] ॥१६९॥

ललिता—(संस्कृतेन)

न काचिद्गोपीनां भवति परवित्तप्रणयिनी
सतीनामस्माकं न वद परिवादं ननु मुधा ॥१७०॥

(इत्यर्धोक्ते)

है कि इन मोहिनी रमणियों ने तुम्हे ही चुराकर कही नही छिपा दिया है। अब रहने दे अभागी वशी को। हम स्वय ही यहा से भाग चलते हैं ॥१६७॥

श्रीकृष्ण—(मुसकराकर) अरे वाचाल ! ठहर जा ! (यह कहकर पीछे घूमकर) हे सुन्दरि ! पुण्य के प्रभाव से बिन्दुच्युतक[1] मे तुम्हारी विलक्षण निपुणता या अभ्यास है। हे चन्द्रमुखि ! जिससे तुम ने अति शीघ्र मेरी वंशी चुरा ली है ॥१६८॥

श्रीराधिका—(भ्रुकुटि टेढी करते हुए) बहाना बनाकर कलङ्क लगाना छोड दो। किस को पता है तुम्हारी वशी का ? ॥१६९॥

ललिता—कृष्ण ! गोपियों मे कोई भी पराया धन हरने वाली नही है, हम सती नारियों को झूठा अपवाद मत दो ॥१७०॥

(इस अर्धोक्ति पर)

---

१ बिन्दुच्युतक—अलङ्कार विशेष है।

श्रीकृष्णः—सखि ललिते ! प्रसीद प्रसीद । दर्शय सख्यौ दाक्षिण्यम् ।।१७१

ललिता— अलं जल्पैरेभिर्व्रज निजनिकेतं द्रुतमितो

वयं किं संवृत्तास्तव कितव वेणोः प्रतिभुवः ? ।।१७२।।४६।।

श्रीराधिका—(वृद्धामासाद्य) अज्जे ! दिट्ठं तुए अप्पणो णत्तिणी चरित्तम्, जं एसो अम्हाणं चोरिआपरिवादं देदि । [आर्ये ! दृष्टं त्वयात्मनो नप्तुश्चरित्रम्, यदेषोऽस्मभ्यं चोरिकापरिवादं ददाति ।] ।।१७३।।

मुखरा—(ससंरम्भम्। रे कण्हडा ! सच्चं मए विण्णादम्, जं णत्तिअं राहिअं मह तुमं विडम्बेदुं लद्धो सि । [रे कृष्ण ! सत्यं मया विज्ञातम्, यन्नप्त्री राधिकां ममत्वं विडम्बितुं लब्धोऽसि ।] ।।१७४।।

मधुमङ्गलः—अइ णिट्ठुरसंसिणि ! णिव्वंसिए ! वंसिअं हरिअ तुज्झ णत्तिणी तुमं दुग्गं लद्धा । [अयि निष्ठुरशंसिनि ! निर्वंशिके ! वंशिका हृत्वा तव नप्त्री त्वा दुर्गं लब्धा ।] ।।१७५।।

श्रीकृष्णः—आर्ये मुखरे, सत्यमाह वयस्यः ।।१७६।।

श्रीकृष्ण—सखि ललिते ! प्रसन्न होवो, प्रसन्न होवो, बन्धुजनों के प्रति सरलता प्रदर्शन करो ।।१७१।।

ललिता—इस प्रकार की अधिक बात करने का कोई प्रयोजन नहीं है, तुम शीघ्र अपने घर को चले जाओ। हे धूर्त ! हम तुम्हारी वंशी की जामन ठहरी थी क्या ? ।।१७२।।४६।।

श्रीराधिका—(मुखरा के पास जाकर) आर्ये ! देखा है तुम ने अपने नाती का चरित्र, हम को चोरी की बदनामी देता है ।।१७३।।

मुखरा—(क्रोध पूर्वक) क्यों रे कृष्ण ! मैं ने ठीक जान लिया है, मेरी नातिनी राधा को तू कलङ्कित करने आया है ? ।।१७४।।

मधुमङ्गल—अरी निष्ठुर भाषिणि, निर्वंशिके ! तुम्हारी नातिनी ने वंशी हरण कर तुम्हे किले के समान प्राप्त कर लिया है—निडर हो गई है ।।१७५।।

श्रीकृष्ण—आर्ये मुखरे ! मधुमङ्गल सच कह रहा है ।।१७६।।

मुखरा—अइ राहिए, अवि किं सच्च एदम् ? [अयि राधे ! अपि किं सत्यमिदम् ?] ॥१७७॥

श्रीराधिका—अज्जिए ! वुन्दावणे इन्धणाणं किं महग्घदा जादा, जं हत्थमेत्तावत्तकट्ठिआ अम्हेहिं हरिदव्वा ? [आर्ये ! वृन्दावने इन्धनानां किं महर्घता जाता, यद्धस्तमात्रा वशवाष्ठिकास्माभिर्हर्तव्या ।] ॥१७८॥

श्रीकृष्ण—(स्मित्वा) हे पीते प्रचण्डदेवि ! यदि वेणुं न जहर्थास्तस एव तद्वार्तया स्मितकुड्मलोल्लासादुत्फुल्लकपोलान्दोलायितदृगन्तासि ? ॥१७९॥

मुखरा—(साक्रोशम्) चवल ! अहिमण्णणो सधम्मिणी तुज्झ वन्दणिज्जा तहवि परिहसज्जइ ? [चपल ! अभिमन्यो सधर्मिणी तव वन्दनीया तदपि परिहस्यते ?] ॥१८०॥

मधुमङ्गल—मुहरे ! एसो ह जण्णोववीअस्स सवामि। दिट्ठ मए पुहवीविलग्गसेहरेण अज्ज राहिआ वन्दिदा पिअवअस्सेण । [मुखरे ! एषोऽहं यज्ञोपवीतस्य सपामि दृष्ट मया पृथ्वीविलग्नशेखरेणाद्य राधिका वन्दिता प्रियवयस्येन ।] ॥१८१॥

मुखरा—ओ राधे ! यह क्या सच ही है ? ॥१७७॥

श्रीराधिका—आर्ये ! वृन्दावन म ईन्धन क्या वडा महगा हो गया है, जो एक हाथभर की बास की लकडी हम चुरा लेंगी ? ॥१७८॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कराकर) हे गौराङ्गि प्रचण्ड देवि ! यदि तुम ने वशी हरण नही की है, तो वशी की बात करते ही किस लिए तुम मुस्करा रही हो ? तुम्हारे कपोल उत्फुल्ल एव नेत्र कोर क्या चञ्चल हो रह हैं ? ॥१७९॥

मुखरा—(चिल्लाकर) अरे चपल ! अभिमन्यु-पत्नी (यशोदा के मामा की पुत्र वधू) तुम्हारे वन्दन करने योग्य है, फिर क्यों परिहास कर रहा है ? ॥१८०॥

मधुमङ्गल—मुखरे ! देख, मैं इस यज्ञोपवीत की शपथ खाकर कहता हू, मैं ने अपनी आखों से देखा है—कृष्ण ने पृथ्वी पर मस्तक टेककर राधा को प्रणाम किया है ॥१८१॥

मुखरा—(सानन्दम्) तदो इमस्स धम्मो वड्ढिस्सदि । [ततोऽस्य धर्मो वर्धिष्यते ।] ॥१८२॥

(सर्वे स्मितं कुर्वन्ति)

मुखरा—कण्हइ ! इमिणा तुज्झ चावलेण खिज्जिस्सदि वल्लवइन्दो णन्दो । ता गदुअ गोमण्डलं संभालेहि । [कृष्ण ! अनेन तव चापलेन खेत्स्यति वल्लवेन्द्रो नन्दः, तद्गत्वा गोमण्डलं संभालय ।] ॥१८३॥

श्रीकृष्णः—आर्ये ! विना वेणुं विप्रकृष्टाया धवलावलेराकृष्टिर्दुर्घटा।

ललिता—कण्ह ! अवलावलीणो त्ति कीस उज्जुअं ण कधेसि ? [कृष्ण ! अवलावलीति कस्मात् ऋजुकं न कथयसि ?] ॥१८५॥

श्रीकृष्णः—ललिते ! वृद्धयाद्य सबला यूयम्, ततः कथमिदं कथयिष्यामि ? ॥१८६॥

मुखरा—(सरोषम् संस्कृतेन)

नवीनाग्रे नप्त्री चटुल नहि धर्मात्तव भयं
न मे दृष्टिर्मध्येदिनमपि जरत्या पटुरियम् ।

मुखरा—(आनन्द पूर्वक) तब तो इसकी धर्म वृद्धि होगी ॥१८२॥

[सब हंस पड़ते है]

मुखरा—कृष्ण ! तुम्हारी इस 'चपलता से गोपराज नन्द दुखी होते हैं। अत. घर जाकर गौओ को सम्भालो ॥१८३॥

श्रीकृष्ण—आर्ये ! वंशी के विना तो इधर-उधर भागी हुई धवला-गौओं को एकत्रित करना बडा मुशकिल है ॥१८४॥

ललिता—कृष्ण ! व्रज गोपियों को आकर्पित करना बड़ा मुशकिल होगा, यह सरल बात क्यो नही कहते हो ? ॥१८५॥

श्रीकृष्ण—ललिते ! आज मुखरा के सहित तुम बलवती हो उठी हो, ऐसी बात मैं कैसे कह सकता हू ? ॥१८६॥

मुखरा—(क्रोध सहित) हे चञ्चल ! मेरे आगे नई नातिनी है और तुम्हे धर्म का भय नही है। मैं वृद्धा हूं, मुझे तो दोपहर में भी अच्छी तरह

अलिन्दात्त्व नन्दात्मज न यदि रे यासि तरसा
ततोऽह निर्दोषा पथि कियति हहो मधुपुरी ॥१८७॥५०॥

मधुमङ्गल —(सरोषम्) दुम्मुहि बुड्ढिए ! तुज्झ कसादो कि अम्हे भाएम्ह, ज महुपुर आसन्न कहेसि ?। [दुर्मुखि वृद्धे ! तव कसात्कि वय बिभिम, यन्मधुपुरमासन्न कथयसि ?] ॥१८८॥

मुखरा—(सव्याजम्) अरे ! चिट्ठ चिट्ठ, एसाह णत्तिणिअ घेत्तूण राजसह पत्थिदम्हि । [अरे, तिष्ठ तिष्ठ । एषाह नप्त्रीका गृहीत्वा राजसभा प्रस्थितास्मि ।] ॥१८९॥

(इति राधादिभिरनुगम्यमाना निष्क्रान्ता)

श्रीकृष्ण —सखे ! समागच्छ, कालिन्दीकच्छमुपेत्य गवामुद्देश करवाव ॥१९०॥

(इति परिक्रम्य वलितग्रीव पश्यन् सोच्छ्वासम्)

नही दीखता है। अन हे नन्दनन्दन ! यदि तू मेरे घर के सामने से शीघ्र नही चला जाता, तो फिर मेरा कोई दोष नही होगा। *मथुरा का रास्ता कितनी दूर है ? (अर्थात् मैं मथुरा जाकर कस राजा के* पास ? तेरी करतूत वह सुनाऊ गी) ॥१८७॥

मधुमङ्गल—(क्रोध पूर्वक) अरी दुर्बुद्धि वृद्धे । हम क्या तेरे कस से डरते हैं ? जो तू हमें मथुरा निकट बता रही है ॥१८८॥

मुखरा—(छल पूर्वक) अरे ! ठहर जा, अभी मैं राधा को लकर राज सभा मे जाती हू ॥१८९॥

[यह कहकर श्रीराधा आदिक को लेकर चली जाती है]

श्रीकृष्ण—मित्र ! आओ, कालिन्दी किनारे चलकर गौओ को देखें ॥१९०॥ (यह कहकर पीछे की आर गर्दन घुमाते हैं एव लम्बी श्वास लेकर कहते हैं)—

आहो ! श्रीराधा एक क्षण मे ता धीरजमयी मुद्रा और दूसरे क्षण म

मुद्रां धैर्यमयीं क्षणं विवृणुते तारुण्यलक्ष्मीं (च्छवीं) क्षणं
सोपेक्षा. क्षणमातनोति भणितीरौत्सुक्यभाजः क्षणम् ।
शुद्धां दृष्टिमितः क्षणं प्रणयते प्रेङ्खत्कटाक्षां क्षण
रोषेण प्रणयेन चाकुलितधी राधा द्विधा भिद्यते ॥१६१॥५१॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति श्रीविदग्धमाधवनाटके वेणुहरण नाम चतुर्थोऽङ्कः ॥४॥



तरुणता से शोभित हो उठती हैं, फिर एक क्षण में उपेक्षा तो दूसरे क्षण मे उत्कण्ठा पूर्वक वाणी बोलने लगती हैं। क्षण मे विशुद्ध दृष्टि तो क्षण मे टेढी नजर कर क्रोध एव प्रणय के वशीभूत हो व्याकुल बुद्धि हो उठती हैं—इस प्रकार श्रीराधा द्विधा (दो अवस्थाओ मे) प्रकाशित होती है) ॥१६१॥

[यह कहकर सब चले जाते है]

इस प्रकार श्रीश्यामदासानुवादित श्रीविदग्धमाधव नाटक का
वेणुहरण—नामक चौथा अङ्क समाप्त हुआ ॥४॥



पञ्चमोऽङ्कः

(तत प्रविशति पौर्णमासी)

पौर्णमासी—

स्नेहः शोककृशानोर्विनोदसदनं सदेति नातथ्यम् ।
स्निग्धाद्य राधिकायां यदहं तेनाशु दग्धास्मि ॥१॥१॥

(पुरोऽवलोक्य) केयं मधुमङ्गलसङ्गिनी मामभिवर्तते । (पुनर्निभाल्य)

अजनितशासनभङ्गा स्थिरजङ्गममण्डलैः स्ववने ।
निखिलप्राणिरुतज्ञा खिदति पुरतः कथं वृन्दा ? ॥२॥२॥

(प्रविश्य)

वृन्दा मधुमङ्गलश्च—अम्ब ! वन्दे ॥३॥

पञ्चम-अंक

[तत्पश्चात पौर्णमासी प्रवेश करती है]

पौर्णमासी—'अनुराग शोकाग्नि का विलास-भवन है—यह बात मिथ्या नहीं है, क्योंकि मैं आज राधा मे अनुराग करने से ही जली जा रही हूं ॥१॥१॥

(सामने देखकर) मधुमङ्गल के साथ कौन मेरी ओर आ रही है ? (ध्यान पूर्वक देखकर) वृन्दावन में स्थावर-जङ्गम कोई भी जिसके शासन को भङ्ग नहीं कर सकता है और जो सब प्राणियों की भाषा को जानती है, क्या वही वृन्दा मेरी ओर आ रही है ? ॥२॥२।

(वृन्दा व मधुमङ्गल प्रवेश करते हैं)

वृन्दा व मधुमङ्गल—माता ! नमस्कार है ॥३॥

पौर्णमासी—स्वस्ति युवाभ्याम् ॥४॥

वृन्दा—भगवति ! कथं शोचन्त्यसि ? ॥५॥

पौर्णमासी—वत्से, विदग्धपुंगवस्याङ्गसङ्गमलक्ष्माणि राधिकायामभिलक्ष्य मन्युमानभिमन्युः संप्रति मधुपुर्यां सकुटुम्बो वस्तुमुत्कण्ठते। तत्रापि तदम्बा तदीर्ष्या जम्बालावलीजृम्भायां कादम्बिनीभावमालम्ब्य राधामरालीमुद्वेजयति, तेनाद्य शोचामि ॥६॥

वृन्दा—पौर्णमासीशुभाशीश्चन्द्रिकैव विघ्नान्धकारसंहारिणी ॥७॥

मधुमङ्गलः—अज्जे ! कहं राहोवरि तुज्झ वरिट्ठं पेम्मम् ? [आर्ये ! कथं राधोपरि तव वरिष्ठं प्रेम ?] ॥८॥

पौर्णमासी—वत्स ! सत्यपि भूरिणि प्रेमोदयकारणे तस्यामनन्यापेक्षि ममेदं प्रेम ॥९॥

वृन्दा—युक्तमिदम्। यतः—

पौर्णमासी—तुम दोनों का मङ्गल हो ॥४॥

वृन्दा—भगवति ! कैसे शोकाकुल हो रही हो ? ॥५॥

पौर्णमासी—बेटी ! श्रीराधा में रसिक-नागर के सङ्गम-चिह्न को देखकर क्रोधित हो अभिमन्यु अब अपने कुटुम्ब सहित मथुरा में जाकर बसना चाहता है। और फिर उसकी माता जटिला कृष्ण-सम्भोग चिह्नों को देखकर ईर्ष्या रूप पङ्क में मेघमाला का भाव धारण कर राधा रूपी हंसी को उद्वेग दे रही है। इसलिए आज मैं चिन्ता कर रही हूं ॥६॥

वृन्दा—पौर्णमासी की शुभाशीर्वाद रूप चन्द्रिका ही विघ्न अन्धकार का नाश करेगी ॥७॥

मधुमङ्गल—आर्ये ! तुम्हारा श्रीराधा पर इतना भारी प्रेम क्यों है ? ॥८॥

पौर्णमासी—यद्यपि श्रीराधा के प्रति मेरे प्रेम-उदय के अनेक कारण होने हुए भी, उनके प्रति यह प्रेम अनन्यापेक्षि है। ९॥

वृन्दा—तुम्हारी बात ठीक है, क्योंकि—

जगति किलविचित्रे कुत्रचिन्निश्चलात्मा
भवति निरभिसधि. कस्यचित्प्रेमबन्धः ।
विलसति समुदीर्णे .कुम्भजे खञ्जनाली
कलितवति तयास्त हन्त नाशं प्रयाति ॥१०॥३

मधुमङ्गल.—केरिसं णिरहिसंधिणो पेम्मस्स चिण्हम् ? [कीदृशं निरभिसन्धे प्रेम्णश्चिह्नम् ?] ॥११॥

पौर्णमासी—

स्तोत्रं यत्र तटस्थतां प्रकटयच्चित्तस्य धत्ते व्यथां
निन्दापि प्रमद प्रयच्छति परीहासश्रियं बिभ्रती ।
दोषेण क्षयितां गुणेन गुरुतां केनाप्यनातन्वती
प्रेम्ण स्वारसिकस्य कस्यचिदियं विक्रीडति प्रक्रिया ॥१२॥४॥

मधुमङ्गल —एव्व रुव्वं क्खु दोण्णं राहामाहवाणं पेम्म । [एवं रूप खलु तयो राधामाधवयो प्रेम ।] ॥१३॥

इस विचित्र जगत् मे किसी किसी विषय मे किसी का विना कारण प्रेम हुआ करता है । देखो न, अगस्त्य तारा के उदित होने पर सब जगह खञ्जन पक्षी देखने मे आता है, परन्तु उसके अस्त हो जाने पर हाय ! वह खञ्जन पक्षी फिर कही नही दीखता । (यह है खञ्जन का अगस्त्य के प्रति *विना कारण प्रेम)* ॥१०॥३॥

मधुमङ्गल—कैसे होते है विना-कारण प्रेम के लक्षण ? ॥११॥

पौर्णमासी—देख, जिस मे प्रशसा उदासीनता को प्रकाशित कर चित्त मे वेदना उत्पन्न करती है (अर्थात् प्रेमास्पद यदि प्रशसा करें तो वह उसकी उदासीनता को सूचित करती है, जिससे चित्त मे दुख होता है) और जिस मे (प्रेमास्पद) यदि निन्दा करे तो उसे परिहास जान कर आनन्द होता है, वह है विना कारण या सहज प्रेम । इस प्रेम की क्रिया किसी दोष को देखकर ह्रास को प्राप्त नहीं होती और न किसी गुण को देखकर वर्धित ही होती है ॥१२॥४॥

मधुमङ्गल—निश्चय ही राधा माधव का ऐसा ही प्रेम है ॥१३॥

पौर्णमासी—वत्स ! किमुच्यते ? माधुर्यसर्गिणो नैसर्गिकस्य परस्परवल्लभानां विदग्धमिथुनानां प्रेमशृङ्खलाबन्धस्य परमोत्कर्षरेखायां दृष्टान्त किल राधामाधवयोर्भावामृतभूमा ॥१४॥

वृन्दा—भगवति ! श्रूयताम्—

यष्टिं वष्टि न पाणिना कलयितुं शृङ्गे न सङ्कायितां
धत्ते धातुभिरङ्गमण्डनमयीं नाङ्गीकरोति क्रियाम् ।
पर्णं वादयते न घूर्णितमनास्तीरे कृतान्तस्वसु
किन्तूत्कलाम्यति मुक्तविभ्रमगुणग्रामोऽद्य दामोदर ॥१५॥ ४॥

पौर्णमासी—(सखेदम्) किमिदम् ? ॥१६॥

मधुमङ्गल—ललिदाकोडिल्लेण । [ललिताकौटिल्येन ।] ॥१७।

पौर्णमासी—नून ललितया हठानुवर्तितमाना वर्तते राधिका ॥१८॥

वृन्दा—अथ किम् ॥१९॥

पौर्णमासी—बेटा ! तुम से अधिक क्या कहूं ? परस्पर प्रिय रसिक सब दम्पतियो के माधुर्य सम्बन्धी स्वाभाविक प्रेम का जो शृङ्खला-बन्धन है, उसका परम उत्कृष्ट दृष्टान्त-स्थल स्वरूप है राधा माधव का भावामृत-समूह ।१४।

वृन्दा—भगवति सुनो—

—आज दामोदर हाथ मे लाठी धारण करने की इच्छा नही करता और न ही शृङ्ग-ध्वनि द्वारा किसी को संकेत करने की। गैरिक धातुओ द्वारा न तो वह अपने अङ्गो को भूषित ही करना चाहता है और न हीं पत्र वाद्य करने को उसकी इच्छा है। उसका मन घूम रहा है और यमुना किनारे समस्त गुण विलासो को छोड कर वह केवल क्लान्त होकर बैठा है,

पौर्णमासी—(दु खपूर्वक) ऐसा क्यो ? ॥१६॥

मधुमङ्गल—ललिता की कुटिलता से ॥१७॥

पौर्णमासी—निश्चय ही ललिता की खोटी चालो पर चलती है राधा।

वृन्दा—और क्या ? ॥१९ ॥

पौर्णमासी—न जाने क्व खल्वद्य ललितादयः ॥२०॥

वृन्दा—तासामुद्दे शाय मया सुबल. प्रेषितोऽस्ति ॥२१॥

(प्रविश्य)

सुबलः—अज्जे ! वन्देमि । [आर्ये ! वन्दे ।] ॥२२॥

पौर्णमासी—सुबल ! क्व दृष्टा राधादयः ? ॥२३॥

सुबलः—मुहराघरोवन्तवट्टिणो रसालस्स मूले । [मुखरागृहोपान्तवर्तिनो रसालस्य मूले ।] ॥२४॥

पौर्णमासी—वत्स मधुमङ्गल ! तूर्णमनुसृत्य राधिकामभिसारयन्त्यस्मि, तदेतया सूक्तिचन्द्रिकया त्वमानन्दयमुकुन्दम् ॥२५॥

(मधुमङ्गलः सहर्षं निष्क्रान्तः)

वृन्दा—(जनान्तिकम्) सुबल ! मया समर्पितं पद्यं त्वया किं नाम विशाखायां संचारितम् ? ॥२६॥

सुबलः—अध इं । [अथ किम् ।] ॥२७॥

पौर्णमासी वृन्दे ! यावत्प्रसाद्य प्रसाध्य च राधां संचारयामि

पौर्णमासी—न जाने ललितादि आज कहां हैं ? ॥२०॥

वृन्दा—उनको देखने के लिए भेज दिया है मैं ने सुबल को ॥२१॥

(प्रवेश कर)

सुबल—आर्ये ! प्रणाम करता हू ॥२२॥

पौर्णमासी—सुबल ! कहा देखी हैं राधादिक ? ॥२३॥

सुबल—मुखरा के घर के पास वाले आम वृक्ष के नीचे ॥२४॥

पौर्णमासी - बेटा मधुमङ्गल ! मैं तो शीघ्र जाकर राधा को अभिसार कराती हू और तुम जाकर इस मधुर सन्देश-चन्द्रिका द्वारा कृष्ण को आनन्दित करो ॥२५॥

मधुमङ्गल सहर्ष चला जाता है ।]

वृन्दा—(हाथ की ओट मे) सुबल ! मैंने जो तुम्हे पत्र दिया था वह क्या तुमने विशाखा को दे दिया ? ॥२६॥

सुबल—हा—दे दिया ।२७॥

पौर्णमासी—वृन्दे ! जब तक श्रीराधा को प्रसन्न कर एव अलकृत

तावदधुनायुवाभ्या पुर कदम्बनिकुञ्जे विश्राम्यताम् ॥२८॥

(वृन्दा सुबलेन सह निष्क्रान्ता)

पौणमासी—(परिक्रम्य) कथ ललितेतमायाति ? ॥२९॥

(प्रविश्य)

ललिता—भअवदि ! तुम्ह सआस गच्छन्ती म्हि । [भगवति ! तव सकाश गच्छन्त्यस्मि ।] ॥३०॥

पौर्णमासी—किमर्थम् ? ॥३१॥

ललिता—अज्जे ! तिणा धुत्तेण पुणो पुणो अवरज्झिदावि पिअसही लाहव अमणिअ सुट्ठु उक्कण्ठेदि, ता किं करिस्सम् ? [आर्ये ! तेन धूतन पुनः पुनरपराज्ञातापि प्रियसखी लाघवममत्वा सुष्ठूत्कण्ठयति, तत्कि करिस्यामि ?] ॥३२॥

पौर्णमासी—वत्से ! मुञ्च मुधा कालुष्यम्, नापराध्यति माधव, किंतु मधुमङ्गलप्रमादितैव व खेदाय बभूव ॥३३॥

ललिता—(स्वगतम्) ममावि एव्व णन्दीमुहीए कधिदम् । अज्जे

कर मैं यहा नहीं आती हू, तब तक तुम सामने की कदम्ब कुञ्ज मे विश्राम करो ।।२८।।

[वृन्दा सुबल के साथ चली जाती है]

पौर्णमासी—(घूमकर) क्या यह ललिता आ रही है ? ।।२६।।

(प्रवेश कर)

ललिता—भगवति ! मैं तो आपके पास जा रही थी ।।३०।।

पौर्णमासी—किस लिए ? ।।३१।।

ललिता—आर्ये ! प्रिय सखी राधा उस धूर्त से पुन पुन अपमानित होकर भी अपना तिरस्कार नही मान रही है और फिर उसके लिए ही उत्कण्ठित हो रही है । अब मैं क्या करू ? ।।३२।।

पौर्णमासी—बेटी ! छोडो वृथा ग्लानि को । माधव का कुछ अपराध नहीं है, किन्तु मधुमङ्गल की असावधानी ही तुम्हारे दुख का कारण है।।३३।।

ललिता—(मन मे) हम नांदीमुखी ने भी यही बात कही थी। (स्पष्ट कहती है।) आर्ये ! देख तो आम वृक्ष के नीचे बैठी राधा कापते-

पेक्ख एदा राही रसालस्य मूले कम्पन्ती किंपि जप्पदि। [ममापि एवं नान्दीमुख्या कथितम्। आर्ये! पश्यैषा राधा रसालस्य मूले कम्पमाना किमपि जल्पति।] (प्रकाशम्) ॥३४॥

(ततः प्रविशति राधा)

राधा—(सानुतापं संस्कृतेन)

कर्णान्ते न कृता प्रियोक्तिरचना क्षिप्तं मया दूरतो
मल्लीदाम निकामपथ्यवचसे सख्यै रुप. कल्पिता:।
क्षोणीलग्नशिखण्डशेखरमसौ नाभ्यर्थयन्नीक्षितः
स्वान्तं हन्त ममाद्य तेन खदिराङ्गारेण दंदह्यते ॥३५॥६॥

पौर्णमासी—पुत्रि! प्रच्छन्नमुपसृत्य शृणुवः प्रेमविलासम् ॥३६॥

(इत्युभे तथा स्थिते)

श्रीराधिका—(सचापलम् पुनः संस्कृतेन)

धन्यास्ता हरिणीदृशः स रमते याभिर्नवीनो युवा

(पुन. सशङ्कम्)

स्वैरं चापलमाकलय्य ललिता मां हन्त निन्दिष्यति।

(पुनः सौत्सुक्यम्)

कांपते क्या कह रही है ॥३४॥

(तब वहां अनुताप सहित श्रीराधा प्रवेश करती हैं)

श्रीराधा—हाय! मैंने हित की सब बातों पर कान नहीं दिया, मल्लिका माला को भी फेंक दिया है, सखीगण मुझे ठीक बात कह रही थीं, उन पर भी मैंने क्रोध किया। और तो क्या मोरमुकुटधारी श्रीकृष्ण ने पृथ्वी पर लुण्ठित हो मेरी प्रार्थना की, तो भी मैं ने उनकी ओर नजर उठाकर नहीं देखा। अतः इस कारण आज मेरा अन्त करण खदिर-अङ्गारों मे बार-बार जला जा रहा है ॥३५॥६॥

पौर्णमासी—बेटी ललिते! चल, छिप कर निकट से श्री राधा के प्रेमविलास को सुनें ॥३६॥

(यह कहकर दोनों वैसा ही करती हैं)

श्रीराधिका—(चपलता सहित) वे समस्त नवीन युवक धन्य हैं जो

गोविन्दं परिरब्धुमिन्दुवदनं हा चित्तमुत्कण्ठते

(पुनः सामर्षम्)

धिग्वामं विधिमस्तु येन गरलं मानाभिधं निर्ममे ॥३७॥७॥

ललिता—(स्वगतम्) अदक्खिणे ! चिट्ठ चिट्ठ सअं जेव्व कण्हं णिराकदुअ भृङ्गीए में दूसेसि। [अदक्षिणे ! तिष्ठ तिष्ठ स्वयमेव कृष्ण निराकृत्य भृङ्ग्या मां दूषयसि।] ॥३८॥

श्रीराधिका—(भृङ्गीमवेक्ष्य संस्कृतेन)

क्रुमिरपि नमितात्मा हन्त वृन्दावनेऽस्मिन्
फलयति निजमौलौ बर्हमौलेर्निदेशम्।
अनुनयति मुहुर्मां नेतुकामालिनीयं
यदमलमधुरोक्तिस्तस्य दृष्टिं शठस्य ॥३९॥८।

पौर्णमासी—(सनर्मस्मितम्) निखिलमेव वृन्दाटवीप्राणिवृन्दं दूतीभूतमियं मन्यते महामानिनी ॥४०॥

मृगनैनियों के साथ विहार करते हैं। (शंका सहित) हाय ! यदि ललिता मेरी इस चपलता को जानेगी तो मेरी निन्दा करेगी। (उत्साह सहित) आहा ! चन्द्रवदन गोविन्द को आलिंगन करने के लिए मेरा चित्त उत्कण्ठित हो रहा है। (क्रोध पूर्वक) जिसने मानरूप विष का निर्माण किया है, उस प्रतिकूलाचारी विधाता को धिक्कार है ॥३७॥७॥

ललिता—(मन में) हे वक्रे ! ठहर जा, स्वयं श्रीकृष्ण को परित्याग कर बहाना लगाकर मुझे दोष दे रही है ? ॥३८॥

श्रीराधिका—(भृङ्गी-कीट को देखकर) हाय ! इस वृन्दावन में कृमि भी विनम्र चित होकर रहते हैं एवं मोर भी उस मोरपुच्छधारी के आदेश को सिर पर धारण करते हैं। यही कारण है कि यह भृङ्गी अपनी मधुर वाणी से मुझे उस शठ-कृष्ण के सामने जाने के लिए बार-बार अनुनय कर रहा है ॥३९॥८॥

पौर्णमासी—(परिहास सहित मुस्काते हुए) यह महामाननी राधा वृन्दावन के समस्त प्राणियों को अपनी दूती ही मानती है ॥४०॥

श्रीराधिका—(प्रेमावेश नाटयन्ती सचमत्कारम्) कधं एसो मं मोट्टिअ परिरद्ध ुं उवसण्णो कण्हो ? [कथमेष मां बलात्कारेण परिरब्धुमुपसन्नः कृष्णः ?] ॥४१॥

पौर्णमासी—गम्भीरानुरागविवर्तोऽयम्, यदस्यां माधवस्य विस्फुरणम् ॥४२॥

श्रीराधिका—(सहुंकारं परावृत्य) हन्त भो वङ्ककलासालि चन्दाअलीकोड़चिरासङ्गभङ्गुरकुरङ्ग ! अवेहि अवेहि। एसो तुमं परिहविज्जसि मए। [हन्त भो वक्रकलाशालिन् ! चन्द्रावलीक्रोडचिरासङ्गभङ्गुरकुरङ्ग ! अपेहि, अपेहि एष त्वं परिभविष्यसि मया।] ॥४३॥

(इति कर्णोत्पल क्षिपन्ती संस्कृतेन)

यमुनातीरकदम्बा. संप्रति मम हन्त साक्षिणो यूयम्।
एष बलान्मामबलां गोकुलधूर्त. कदर्थयति ॥४४॥६॥

पौर्णमासी—ललिते ! परां कोटिमधिरूढा राधिकोत्कण्ठा, तदियं त्वरितमभिसार्यताम्। ४५।

ललिता—(परिक्रम्य) हला राहि ! एक्का जेव्व किं मन्तेसि ?

श्रीराधिका—(प्रेमावेश प्रकाशित करती हुई आश्चर्य सहित) क्या यह कृष्ण बलपूर्वक मुझे आलिंगन करने के लिए आ गया है ? ॥४१॥

पौर्णमासी—यह गम्भीर अनुराग की पराकाष्ठा है, जो इसे श्रीकृष्ण की स्फूर्ति हो रही है ॥४२॥

श्रीराधिका—(हुँकार सहित घूमकर) अरी वक्रकला-शालिनि ! तुम बहुत देर तक चन्द्रावली की गोद की क्रीड़ामृग रही हो, दूर हो, मैं तुम्हारा तिरस्कार करती हूं। (इस प्रकार कहकर कर्णोत्पल को फेंक देती हैं और फिर कहती हैं) ॥४३॥

हे यमुना किनारे के समस्त वृक्षो ! अब तुम मेरे साक्षी (गवाह) रहना। यह गोकुलधूर्त जबरदस्ती मुझ अबला को कलङ्कित कर रहा है ॥४४॥६॥

पौर्णमासी—ललिते ! श्रीराधा की उत्कण्ठा चरमसीमा तक पहुँच चुकी है, इसलिए शीघ्र इसे अभिसार कराओ ॥४५॥

[हला राधे ! एकैव किं मन्त्रयसि ?] ॥४६॥

श्रीराधिका—(ललितामालोक्य स्वगतम्) सच्चं सच्चं जेव्व एक्कम्हि, जं कण्हो ण दीसइ ? हला ललिदे ! [कथ सत्यमेवैकास्मि, यत्कृष्ण दृश्यते ? हला ललिते !] (इति प्रकाश सोत्सुक्यम्) ।

परतणुपवेसविज्जा कहमिह सामेण कामिणा पढ़िदा ?
मह हिअए माणग्गी पविसिअ णिव्वाविदो जेण ॥
[परतनुप्रवेशविद्या कथमिह श्यामेन कामिना पठिता ?
मम हृदये मानाग्निः प्रविश्य निर्वापितो येन ॥] ॥४७॥१०॥

(प्रविश्य)

विशाखा—हला ! सुबलहत्थादो लद्धा इअं पत्तिआ । [हला ! सुबलहस्ताल्लब्धेय पत्रिका ।] ॥४८॥

ललिता—(गृहीत्वा वाचयति)

मेध्योऽपि माधविकया मधुपो यदेष,
क्षिप्त. स्वयं प्रचलता नवपल्लवेन ।
तस्याः खलु क्षतिरियं सुषमाक्षयेण

ललिता—(सामने आकर) हे राधे ! अकेली बैठी क्या मन्त्रणा कर रही हो ? ॥४६॥

श्रीराधिका—(ललिता को देखकर मन ही मन में) सच है, मैं अकेली ही हू, कृष्ण तो दीखते नही हैं । (उत्सुकता पूर्वक)

हे ललिते ! दूसरे के शरीर मे प्रवेश करने की विद्या क्या कामुक कृष्ण ने अध्ययन की है ? क्योंकि उसने मेरे हृदय में प्रवेशकर मान-अग्नि को बुझा दिया है ॥४७॥१०॥

[विशाखा प्रवेश करती है]

विशाखा—सखि ! सुबल के हाथ से यह पत्र प्राप्त हुआ है ॥४८॥

ललिता—(पत्र हाथ मे लेकर पढ़ती है) माधवी अपने स्वप्रचलित नवीन पल्लवरूपी हाथ से निर्दोष मधुकर को यदि दूर हटाती है, तो इसमें माधवी की ही हानि है, क्योंकि मधुकर से ही माधवी की शोभा है। इसलिए

नन्दत्ययं तु विवचनरविन्दिनीपु ॥४६॥११॥

श्रीराधिका—(सविपादम् संस्कृतेन)

सजनि विमुखः शङ्के पङ्करुहाक्षि विचक्षणो
मयि मधुरिपुर्दोषश्रेणीविहारवनश्रियाम् ।
अकलितरसः सूचीविद्धो रज. प्रसरान्धधी-
र्न मधुपयुवा किं केतक्यां विरक्तिमुपैष्यति ॥५०॥१२॥

(इति वैक्लव्यं-नाटयति)

पौर्णमासी—न हि चन्द्रेण चन्द्रिकाया मोक्षः कदापि संभवति ॥५१॥

विशाखा—हला ! समास्सस समास्सस, तुह उक्कण्ठिदं तक्किअ मए कण्हपउत्ति विण्णादुं णान्दीमुही पेसिदत्थि । [सखि ! समाश्वसिहि । समाश्वसिहि तवोत्कण्ठितं तर्कित्वा मया कृष्णप्रवृत्ति विज्ञातुं नान्दीमुखी प्रेषितास्ति ।] ॥५२॥

(प्रविश्य)

शोभा रहित होने पर मधुकर भी उसे त्याग कर पद्मिनी के पास जाकर आनन्द अनुभव करेगा ।४६॥११॥

श्रीराधिका—(दुःखपूर्वक) हे कमलनयने ! मैं दोषों की विहार-भूमि स्वरूपा हूं । उस सर्वज्ञ कृष्ण ने क्या मुझसे मुँह फेर लिया है ? (यह उचित नहीं है) देख, युवक मधुकर को यद्यपि केतिकी से रस नहीं मिलता है बल्कि उसका कण्ठ उससे घायल हो जाता है एवं उसकी पुष्परज से अन्धा हो जाता है, फिर भी वह क्या कभी केतिकी से विरक्ति प्रकाश करता है ? ॥५०॥१२॥

[यह कहकर व्याकुल हो उठती है]

पौर्णमासी—चन्द्र से चान्दनी का वियोग कभी सम्भव नहीं है । ५१॥

विशाखा—सखि ! धीरज धरो, धीरज धरो, तुम्हारी उत्कण्ठा को जानकर मैं ने श्रीकृष्ण के हृदय की बात जानने के लिए नान्दीमुखी को भेजा है ॥५२॥

नान्दीमुखी—(संस्कृतेन)

मृदुरपि निसर्गतस्त्वं कथमार्द्रे माधवे कठोरासि।
अथवा नवनीतपुटी हिमद्रवे कक्खटा प्रेक्षि ॥५३॥१३॥

श्रीराधिका—हला ! अवि णाम सुहं वट्टदि माहवो ? [सखि ! अपि नाम सुखं वर्त्तते माधवः ?] ॥५४॥

नान्दीमुखी—(संस्कृतेन)

क्षणमपि न सुहृद्भिर्नर्मगोष्ठीं विधत्ते
रचयति न च चूडां चम्पकानां चयेन।
परमिह मुरवैरी योगिवन्मुक्तभोग-
स्तव सखि मुखचन्द्रं चिन्तयन्निर्वृणोति ॥५५। १४॥

श्रीराधिका—(विशाखां परिष्वज्य संस्कृतेन)

भूयो भूयः कलिविलसितैः सापराधापि राधा
श्लाघ्येनाहं यदघरिपुणा बाढमङ्गीकृतास्मि।
तत्र क्षामोदरि किमपरं कारणं वः सखीनां
दत्तामोदां प्रगुणकरणामङ्गुरीयन्तरेण ? ॥५६॥१५॥

[नान्दीमुखी प्रवेश करती है]

नन्दीमुखी—राधे ! तुम तो स्वभाव से कोमल हो, फिर दीन-स्वभाव श्रीकृष्ण के प्रति क्यों कठोर हो रही हो ? मैं समझती हूं तुम्हारा कोई दोष नहीं है। बर्फ की शीतलता से मक्खन में भी कठोरता देखी जाती है ? ॥५३॥१३॥

श्रीराधिका—सखि ! माधव सुख पूर्वक तो हैं ? । ५४॥

नन्दीमुखी—राधे ! श्रीकृष्ण एक क्षण के लिए भी सखा-बन्धुओं के साथ परिहास नहीं करते एवं न ही चम्पक पुष्प द्वारा वह अपना चूड़ा बान्धते हैं। बस योगियों की भांति भोगों को छोड़ कर तेरे मुखचन्द्र की चिन्ता करने में ही सुख अनुभव करते हैं ॥५५॥१४॥

श्रीराधिका—(विशाखा को आलिंगन करते हुए) हे कृशोदरी !

(नेपथ्ये)

गर्वोदग्रा कलमविकल तन्वतामन्यपुष्टा
निष्प्रत्यूह मृगयुवतय सस्यमास्वादयन्तु ।
सीमन्तिन्यो गृहनयमयीं शीलयन्तु प्रणालीं
धूर्तो वेणुर्विहरति करे नाद्य पीताम्बरस्य ।।५७।।१६।।

श्रीराधिका—(वशीमुद्धाठ्य सोपालम्भम् सस्कृतेन)—

सद्वशतस्तव जनि पुरुषोत्तमस्य
पाणौ स्थितिर्मुरलिके सरलासि जात्या ।
कस्मात्त्वया सखि गुरोर्विषमा गृहीता
गोपाङ्गनागणविमोहनमन्त्रदीक्षा ।।५८।।१७।।

विशाखा—हला ! अच्चरिआ इअ वशी, ज मारुदाहिमुहीकिदा

यह राधा बहुत वार कलह-मान लीला कर बहुत अपराध करते हुए भी, उस प्रशसनीय श्रीकृष्ण के द्वारा जो अतिशय अगीकृत हो रही है, इसमे सुख प्रदायिनी तुम सखियो की असीम करुणा को छोडकर और कोई कारण है क्या ? (तुम्हारी करुणा ही इसमे एकमात्र कारण है) ।।५६।।

(वेश-भूषा गृह से)

ओ मत्त कोकिलाओ ! तुम अब स्वच्छन्द होकर कुहू-कुहू कलरव करो, हे मृगगण ! तुम भी अब निर्विघ्न होकर तृणो का आस्वादन करो और ओ कुलरमणियो ! तुम भी अब गृहधर्म की नीतिपूर्ण प्रणाली का अनुशीलन करो, क्योकि आज श्रीकृष्ण के हाथ मे वह धूर्त वेणु विहार नही कर रही है ।।५७।।१६।।

श्रीराधिका—(वशी को निकालकर तिरस्कार पूर्वक) हे मुरलिके ! तुम्हारा सद्वश मे जन्म हुआ है और सदा पुरुषोत्तम के हाथो मे तुम रहती हो तथा तुम्हारी जाति भी सूधी-सादी है । हाय सखि ! तुमने फिर गोपियो को विमोहन करने वाली विषम मन्त्र-दीक्षा गुरु से किस लिए ग्रहण की है ? ।।५८।।१७।।

विशाखा—हे सखि ! इस वशी मे यही बडा आश्चर्यमय गुण है कि

सअं सद्दाएदि । [सखि ! आश्चर्ययं वंशी, यन्मारुताभिमुखीकृता स्वयं शब्दायते ।] ॥५९॥

श्रीराधिका—सहि ! परिक्खिस्सम् । [सखि ! परीक्षिष्ये ।] (इति तथा करोति) ॥६०॥

विशाखा—सुणिज्जउ महुरा काअली । [श्रूयतां मधुरा काकली ।]

ललिता—सम्वरेहि, सम्वरेहि मा सुणादु कण्हस्स परिवारः । [सम्वर सम्वर, मा शृणोतु कृष्णस्य परिवारः ।] ॥६२॥

(प्रविश्य)

वृन्दा—(प्रच्छन्नम्) भगवति ! न कदापि वंशी देयेति श्रुतं मया ललितादुर्मन्त्रितम् । ॥६३॥

पौर्णमासी—वत्से ! युक्तिमायत्यां करिष्यामि ॥६४॥

(प्रविश्य)

जटिला—णूणं इदो कण्हेण मिलिदं जं मुरली वादिदा । (विलोक्य) अम्मो, कहं वारिसहाणवीहत्थे कण्हस्स वंसी ? ता णिण्हुदं गदुअ एं

हवा के सामने रखते ही यह स्वय शब्द करने लगती है ॥५६॥

श्रीराधिका—सखि ! इसकी परीक्षा करती हूं । (यह कहकर वंशी को मुँह के आगे रखती है) ॥६०॥

विशाखा—कैसा मधुर शब्द सुनाई दे रहा है ॥६१॥

ललिता—बन्द करो, बन्द करो, कृष्ण के परिवार वर्ग न सुन लें॥६२

[वृन्दा प्रवेश करती है]

वृन्दा—(धीरे से) भगवति ! मैं ने ललिता की यह दुर्मन्त्रणा सुनी है कि वह कभी भी वंशी नही लौटाएगी ॥६३॥

पौर्णमासी—पुत्रि ! बाद में मैं युक्ति करूँगी ॥६४॥

[जटिला प्रवेश करती है]

जटिला—वंशी का शब्द है तो यहां निश्चय ही कृष्ण मौजूद है । (ध्यान पूर्वक देखकर) ओ ! राधा के हाथ मे कृष्ण की वंशी कैसे ? (यह

णेण्हिस्सम् । (इति सहसोपसृत्य सामर्षम्) अयि दुव्विणीदगोआलपुत्तिए ! मुञ्च मुरलिअम् । [नूनमित कृष्णेन मिलित, यन्मुरली वादिता । अहो ! कथ वार्षभान वीहस्ते कृष्णस्य वशी ? तन्निभृत गत्वा एना ग्रहीष्यामि । अयि दुर्विनीतगोपालपुत्रिके ! मुञ्च मुरलिकाम् ।] (इत्याकृष्य गृह्णाति)॥६५

ललिता—(अपवार्य) हद्धी हद्धी यक पमादो पमादो । कध बुड्ढिआए अ विकद मुरली आअट्टिदा ? [हा धिक् हा धिक्, प्रमाद प्रमाद कथ वृद्धया अतर्कित मुरली आकृष्टा ?] ॥६६॥

जटिला—एा घलु भअवदीए पौर्णमासीए दसइस्सम्, जा मज्ज भणिद ण पट्टिआएदि । [एना खलु भगवत्यै पौर्णमास्यै दर्शयिष्यामि, या मम भणित न प्रत्येति ।] ॥६७॥

पौर्णमासी—पुत्रि वृन्दे, गहन कष्टमापतितम् । पश्य जटिला ममोटजदिश प्रयाति ॥६८॥

वृन्दा—भगवति ! मा चिन्तय । क्षिप्रससौ मुरलीं लुण्ठयामि । (इति निष्क्रान्ता) ॥६९॥

ललिता—(सभयमनुसृत्य) अज्जे ! कीस अलीअं सङ्कसि, ज एसा कालिन्दीकूलम्हि अम्हेहि लद्धा । [आर्ये ! कस्मादलीक शङ्कसे, यदेषा

कहकर एकदम निकट जाकर क्रोधपूर्वक) अरी दुर्नीत गोपपुत्रि ! छोड दे वशी को । (यह कहकर वशी को खीच लेती है) ॥६५॥

ललिता—(ओट करके) हाय ! हाय ! कैसा प्रमाद ! इस जटिला ने आकर कैसे मुरली छुडा ली ? ॥६६॥

जटिला—इस मुरली को मैं भगवती पौर्णमासी को दिखाउ गी, जो मेरी बात का विश्वास नही करती है ॥६७॥

पौर्णमासी—पुत्रि वृन्दे ! महान विपत्ति मे पड गई हू, देख जटिला मेरी पर्णकुटि की ओर जा रही है ॥६८॥

वृन्दा—भगवति ! चिन्ता मत करो । मैं अभी मुरली छुडा लाती हू । (यह कहकर चली जाती है) ॥६९॥

ललिता—(भयसहित जटिला के पास जाकर) आर्ये ! तुम विना

कालिन्दीकूलेऽस्माभिर्लब्धा ।] ॥७०॥

जटिला—(सरोषम्) चवले दुम्मन्तिणि, चिट्ठ चिट्ठ । [चपले दुर्मन्त्रिणि, तिष्ठ तिष्ठ ।] ॥७१॥

(प्रविश्य)

सुबलः—अज्जे जडिले, पेक्ख दहिलम्पडा मक्कडी तुज्झ घरं पविसइ । [आर्ये जटिले, पश्य दधिलम्पटा मर्कटी तत गृहं प्रविशति ।] ॥७२॥

जटिला—(साचिग्रीवमालोक्य) सुवल, सच्चं कहेसि । मक्खण-चोरिणी एसा मक्कडी । [सुबल, सत्य कथयसि । नवनीतचौरिण्येषा मर्कटी । (इति परावृत्य धावन्ती निष्क्रान्ता) । ७३॥

पौर्णमासी—नूनं वृन्दया प्रेरितास्ति कक्खटीयं नाम जरन्मर्कटी ॥७४

सुबनः—णन्दीमुहि । पेक्ख पक्खित्तेण वेणुणा मूढजडिलाए] मक्कडी ताडिदा । [नान्दीमुखि, पश्य । प्रक्षिप्तेन वेणुना मूढजटिलया मर्कटी ताडिता ।] ॥७५

पौर्णमासी—(सहर्षम्) दिष्ट्या मुरलीवादाय कक्खटीयं कदम्ब-

बात क्यों शंका कर रही हो ? यह मुरली तो हमें यमुना तट पड़ी पाई है ॥७०॥

जटिला—(क्रोधपूर्वक) चपले दुर्मन्त्रिणि ! चुप रहो ॥७१॥

[सुबल प्रवेश करता है]

सुबल—आर्य जटिले ! देख एक दधि-लम्पट वन्दरी तुम्हारे घर में घुस गई है ॥७२॥

जटिला—(गर्दन घुमाकर देखते हुए) सुबल ! तू सत्य कहता है, यह वन्दरी माखन खा जाया करती है । (यह कहकर जटिला पीछे को ओर भाग कर चली जाती है) ॥७३॥

पौर्णमासी—निश्चय ही वृन्दा ने इस बन्दरी को भेजा है ॥७४॥

सुबल—नान्दीमुखि ! देख, मूर्ख जटिला ने वंशी फेंक वन्दरी को भगा दिया है ॥७५॥

पौर्णमासी—(आनन्दपूर्वक)सौभाग्यवश वन्दरी मुरली लेकर कदम्ब

मविरूढा । ७६॥

(सर्वा. प्रहर्ष नाटयन्ति)

(प्रविश्य)

जटिला—हद्धी वच्छ सुबल, हत्थादो मे मुरली गदा। ता तुज्झ णिम्मञ्छणं जामि। समप्पेहि मे वंसिअम्‌!। [हा धिक्‌ वत्स सुबल, हस्तान्मे मुरली गता। तस्मात्तव निर्मन्थन यामि। समर्पय मे वंशिकाम्‌।]

सुवल—अज्जे, जहत्थणामा एसा कक्खडी केअलं तुज्झ बहिणी-पुत्तादो विसालादो भाएदि। ता गोवद्धणसिङ्गे खेलन्त णं गदुअ अब्भत्थेहि। [आर्ये, यथार्थनामा एषा कक्खटी केवल तव भगिनीपुत्राद्विशालाद्बिभेति। तद्गोवर्धनशृङ्गे खेलन्तमेन गत्वाभ्यर्थय।] ॥७८॥

(जटिला निष्क्रान्ता)

पौर्णमासी—दिष्ट्या व्याजेन जरती दूरमपसार्य धूर्तोऽयं भ्रूविभ्रमेण ललिता त्वरयति ॥७९॥

ललिता—(नेत्रप्रान्त कुणयन्ती) हला राहि, एहि। वेणुं मग्गम्हे। [हला राधे, एहि। वेणु मार्गयाव।] ॥८०॥

पर चढ गई है ॥७६॥

(सब प्रसन्नता प्रकाश करते हैं) (जटिला प्रवेश करती है)

जटिला—हाय ! हाय ! अरे बेटा सुवल !! मेरे हाथ से तो मुरली निकल गई। मैं तेरी बलिहारी, मुझे बंशी लाकर दे दे ॥७७॥

सुवल—आर्ये ! मैं तुम्हें यथार्थ बताता हू। यह बन्दरी केवल तुम्हारे भाजे विशाल से डरती है (और किसी से नहीं) इस समय विशाल गोवर्धन पर खेल रहा है, उसे बुला ले ॥७८॥

(जटिला चली जाती है)

पौर्णमासी—क्या अच्छा हुआ ! बहाना बनाकर जटिला को इसने भगा दिया। अब यह धूर्त्त आख के इशारे से ललिता को जल्दी करने को कह रहा है ॥७९॥

ललिता—(नेत्र प्रान्त को सकुचित करती हुई) सखि राधे ! आओ बंशी को ढूण्डे ॥८०॥

श्रीराधिका—(स्वगतम्) दिट्ठिआ अहिसारेदि मम्। [दिष्टचाभिसारयति माम् ।] ॥८१॥

(प्रविश्यापटीक्षेपेण)

मुखरा—विसाखे, अहिमण्णू संदिसइ—अज्ज जोइतिआणं उपदेसेण मए गोमङ्गला णाम चण्डी पूअणीज्जा । ता पूअणोपहारं घेतूण तुमं चेइअरुक्खस्स तले राहिअ लम्भय त्ति । [विशाखे, अभिमन्युः संदिशति—अद्य ज्योतिषिकानामुपदेशेन मया गोमङ्गला नाम चण्डी पूजनीया। तत्पूजनोपहारं गृहीत्वा त्वं चैत्यवृक्षस्य तले राधिका लम्भयेति ।] ॥८२॥

श्रीराधिका—(सखेदमपवार्य) हन्त, दुद्देअस्स पाडिउल्लम्। [हन्त, दुर्दैवस्य प्रातिकूल्यम् ।] (इति ललितामुखमीक्षते) ॥८३॥

ललिता—हला, सच्चणामा एसो अहिमण्णु । ता गदुअ पूअणोवहारं संपादेम्ह । [हला, सत्यनामा एषोऽभिमन्युः । ततो गत्वा पूजनोपहारं सपादयामः ।] ॥८४॥

(इति सर्वा निष्क्रान्ताः)

श्रीराधिका—(मन मन मे) मेरे सौभाग्य से मुझे यह अभिसार करा रही है ॥८१॥

(अचानक मुखरा प्रवेश करती है)

मुखरा—विशाखे ! अभिमन्यु ने कहला भेजा है-आज ज्योतिषियो के आदेशानुसार मैं गो मङ्गला नाम की चण्डी की पुजा करूँगा । इसलिए तुम पूजा की सामग्री इकट्ठी कर चैत्य वृक्ष के नीचे राधा को लेकर आ जाओ ॥८२॥

श्रीराधिका—(खेदपूर्वक घूंघट करके) हाय ! दुर्दैव को कैसी प्रतिकूलता है ॥ ८३॥

(यह कहकर ललिता के मुख की ओर देखती है)

ललिता—राधे ! सचमुच इसका नाम अभिमन्यु (क्रोधमय) है। इसलिए हम जाकर पूजा की सामग्री इकट्ठी करती हैं ॥८४॥

(यह कहकर सब चली जाती हैं)

पौर्णमासी– (सुबलमनुसृत्य सव्यथम्) वत्स, दुःसमाधानेयं गतिरुपस्थिता। तदद्य वृन्दया सह गत्वा समाश्वस्यतां त्वया पाटवेन पुण्डरीकाक्षः। मया तु प्रामाणिकपुरंध्रीणां गोष्टीमासाद्य जटिलाकौटिल्यं वर्णयिष्यते। (इति निष्क्रान्ता)॥८५॥

सुवलः—(परिक्रम्य) एसा तमालतले डाहिणहत्थे गहीदवंसिआ वुन्दा चिट्ठइ। [एषा तमालतले दक्षिणहस्ते गृहीतवंशिका वृन्दा तिष्ठति।]

(प्रविश्य)

वृन्दा—भोः सुबल, विलोकितसर्वार्थास्मि। तदलं तद्वार्तया॥८७॥

सुबलः—वुन्दे, तुरिअं एहि। वेणुं जेव्व उवहरम्ह। [वृन्दे, त्वरितमेहि। वेणुमेवोपहरावः।]॥८८॥

(इत्युभौ परिक्रामतः)

सुबलः—वुन्दे, महुमङ्गलेण वड्ढिदुक्कण्ठो पिअवअस्सो मग्गं ज्जेअ पेक्खन्तो चिट्ठइ। ता ण जाणे अकिदत्थाणं अम्हाणं तत्थ गमणे का तस्स दसा भवे। [वृन्दे, मधुमङ्गलेन वर्धितोत्कण्ठः प्रियवयस्यो मार्गमेव पश्यं-

---

पौर्णमासी—(सुबल के पास जाकर दुखपूर्वक) बेटा! बड़ी पेचिदा अवस्था बन गई है। इसलिए तू वृन्दा के साथ जाकर श्रीकृष्ण को अपनी वाणी-कुशलता से आश्वस्त कर और मैं भी वृद्धा पुरस्त्रियों की सभा में जाकर जटिला की कुटिलता बताऊँगी। (यह कहकर पौर्णमासी चली जाती है)॥८५॥

सुबल—(घूमकर) देखो, इस तमाल वृक्ष के नीचे दक्षिण हाथ में वंशी लिए वृन्दा बैठी है॥८६॥

(वृन्दा प्रवेश करती है)

वृन्दा—सुबल! कुछ देर मैं ने स्वयं ही देखा है, फिर उसे कहने का क्या प्रयोजन?॥८७॥

सुबल—वृन्दे! जल्दी आओ, कृष्ण को यह वेणु उपहार में देंगे॥८८

(यह कहकर दोनों लौट आते है)

सुबल—वृन्दे! मधुमङ्गल के साथ प्रिय सखा कृष्ण बैठे राह तक रहे हैं। इसलिए न जाने हमारे बिना कार्य साधे वहा जाने पर उनकी क्या

स्तिष्ठति। तन्न जानेऽकृतार्थानामस्माकं तत्र गमने का तस्य दशा भवेत्।]

वृन्दा—सुबल, सत्य ब्रवीषि। पश्यायं पुंनागतरोरुपकण्ठे समुत्कण्ठते कंसारिः ॥६०॥

सुबलः—वुन्दे, भणामि। चिन्तेहि जुत्तिम्। [वृन्दे, भणामि। चिन्तय युक्तिम्।] ॥६१॥

वृन्दा—(विमृश्य) सुवल, गोविन्दस्य क्षणविनोदाय चिन्तितोपायास्मि। तदेहि। तन्निष्पत्तये वेशं भजावः ॥६२॥

(इति निष्क्रान्तौ)

(तत. प्रविशति मधुमङ्गलेनोपास्यमानः कृष्णः)

श्रीकृष्णः (सौत्सुक्यम्)

राधा पुरः स्फुरति पश्चिमतश्च राधा
राधाधिसव्यमिह दक्षिणतश्च राधा।
राधा खलु क्षितितले गगने च राधा
राधामयी मम बभूव कुतस्त्रिलोकी ॥६३॥१८॥

दशा होती ? ॥८६॥

वृन्दा—सुबल ! तुम सच कहते हो, यह देखो पुन्नाग वृक्ष के नीचे कृष्ण उत्कण्ठा पूर्वक बैठे हैं ॥६०॥

सुबल—वृन्दे ! इसीलिए मैं कहता हूं कोई युक्ति सोचो ॥६१॥

वृन्दा—(सोचकर) सुबल ! श्रीकृष्ण के थोड़ी देर के विनोद के लिये उपाय सोच लिया है। आओ उसके सम्पादन करने के लिए जल्दी करें ॥६२॥

(यह कहकर दोनो चले जाते हैं)

(तब मधुमङ्गल द्वारा सेवित श्रीकृष्ण प्रवेश करते हैं)

श्रीकृष्ण—(उत्सुकता पूर्वक) मेरे आगे राधा है, पीछे राधा है, दायें राधा और बायें राधा, पृथ्वी पर राधा, और आकाश में राधा ही मुझे दीखती है। अहो! मेरे लिए यही तीनो लोक राधामय क्यों हो रहे हैं?॥६३॥

मधुमङ्गलः—पिअवअस्स ! भअवदीए अहिसारिद दाणि जेव्व पेक्खिस्ससि राहिअन् । [प्रियवयस्य, भगवत्याभिसारितामिदानीमेव प्रेक्षिष्यसे राधिकाम् ।] । ९४।।

श्रीकृष्ण —करेणान्तस्तुष्टया सललितमदष्टस्य ललिता-

कराङ्गुष्ठ राधा भृशमभिसरन्ती सरभसम् ।
किमद्य स्मेराक्षी स्मरपरिमलोल्लासिवलय-
ध्वनिर्मां निर्मास्यत्यनुपमचमत्कारचटुलम् ॥९५॥ १९॥

मधुमङ्गल —भो, मा उत्तम्मस्स । कङ्कणक्खणक्कारो सुब्बइ । ९६॥

(नेपथ्ये)

हला ललिदे पेक्ख । सो एसो पुण्णाअरक्खो दीसइ । (पुनस्तत्रैव) सहि राहे घिट्ठभमरजम्पिद पेक्ख णम् । ता क्खणं इध जेव्व चिट्ठम्ह । [हला ललिते, पश्य । स एप पुनागवृक्षो दृश्यते । सखि राधे, घृष्ट-भ्रमरजल्पति पश्यैनम् । तत्क्षणमिहैव तिष्ठाव ।] । ९७॥

मधुमङ्गल —(सचापलम्) भो पिअवअस्स, वामदो किं ण पेच्छसि ।

मधुमङ्गल—हे प्रिय सखे ! भगवती पौर्णमासी अभी ही राधा को अभिसार करायेगी, तुम उसे देखोगे ॥९४॥

श्रीकृष्ण—आहा ! श्रीराधा मन मे सन्तुष्ट होकर अपने हाथ से ललिता के सुन्दर अगूठे को पकडे हुए कौतुक पूर्वक अभिसार कर मन्द मुसकान युक्त नेत्रो से कन्दर्प सौरभ बखेरने वाली कङ्कणो की ध्वनि से क्या आज मे अतिशय चमत्कृत करेगी ? ॥९५॥

मधुमङ्गल—मित्र ! उतावले मत होवो । देखो, श्री राधा के कर-कङ्कणो की झकार सुनाई दे रही है ॥९६॥

(वेष भूषा घर से आवाज आती है)

सखि ललिते ! देख यह वही पुनाग वृक्ष दीख रहा है । (फिर वही से आवाज आती है) सखि राधे ! दुष्ट भ्रमरो से आच्छादित इस पुन्नाग वृक्ष को देख । थोडी देर के लिए हम यहा ही ठहरती हैं ॥९७॥

मधुमङ्गल—(चपलता पूर्वक) हे प्रिय मित्र ! बाँई तरफ नही देख

एसा ललिदाए सद्धं राहिआ समाअदा। [भो: प्रियवयस्य, वामल किं न पश्यसि। एषा ललितया सार्धं राधिका समागता।] ॥९८॥

श्रीकृष्णः—(सोत्कण्ठम्) दिष्ट्या साक्षादद्य मदीक्षणयोः सौख्यं विस्तार्यते सख्या ॥९९॥

मधुमङ्गल.—(सगर्वम्) भो, कीस ण वित्थारिदव्वं जत्थ अहं विअड्ढो दूदो म्हि। [भो., कस्मान्न विस्तारयितव्यं यत्राहं विदग्धो दूतोऽस्मि।] ॥१००॥

श्रीकृष्णः—सखे, पुरःस्थयोरपि मत्प्रिययोरद्यापि लक्ष्यता नाद्यापि यद-धारिता। यदार्ध्या न संनिधीयते ॥१०१॥

मधुमङ्गलः—विअवअस्स, सुट्ठु पसण्णं राहीं जाणाहि। जं सा णिअ-अञ्चलञ्चलच्छादिदा मुरली झलक्कइ। [प्रियवयस्य, सुष्ठु प्रसन्नां राधां जानीहि। मरकतटिकाञ्चलाच्छादिता मुरली झलकति।] ॥१०२॥

श्रीकृष्णः—(सस्नेहम्)

रहे हो क्या ? ललिता के साथ श्रीराधा आ रही है। ९८॥

श्रीकृष्ण—(उत्कण्ठा सहित) आहा कैसा सौभाग्य ! आज राधा मेरे नेत्रों का आनन्द विस्तार कर रही है ॥९९॥

मधुमङ्गल—(गर्वपूर्वक) सखे ! क्यों न आनन्द विस्तार होगा ? जहा मुझ जैसा परम चतुर दूत मौजूद है ॥१००॥

श्रीकृष्ण—हे मित्र ! सामने आ रही हैं, परन्तु अभी यह पूरा निश्चय नहीं है कि ये राधा और ललिता ही हैं, जब तक हमारे निकट नहीं आ जाती ॥१०१॥

मधुमङ्गल—प्रिय सखे ! राधा बहुत प्रसन्न हुई जानो, क्योंकि उसकी साड़ी के अंचल में छिपी हुई वंशी चमक रही है ॥१०२॥

श्रीकृष्ण - (स्नेहपूर्वक) चन्द्र दिन में विम्ब हो जाता है और कमल रात होने ही मंकुचित हो जाता है, पर मेरी प्रिया राधा का मुख तो सदा शोभा

विधुरेति दिवा विरूपतां शतपत्रं बत शर्वरीमुखे ।
इति केन सदा श्रियोज्ज्वलं तुलनामर्हति मत्प्रियाननम् ॥१०३॥२०

(इति सकौतुकमनुसर्पति)

(नेपथ्ये)

वारिसहाणइ लच्छी इअं पुरो राइणी समुग्गमइ ।
चन्द्राअलीकुडुम्बअचओर मा धाअ सुप्पसहम् ॥
[वार्षभानवी लक्ष्मीरियं पुरो रागिणी समुद्गच्छति ।
चन्द्रावलीकुटुम्बचकोर मा धाव सुप्रसभम् ॥] १०४॥२१

मधुमङ्गल—ललिदे, भमिदासि। ण क्खु चओरो। पेक्ख एसो रहङ्गरमणो जेण वारिसहाणइ लच्छी कामिज्जइ। [ललिते, भ्रान्तासि। न खलु चकोर। पश्यैष रथाङ्गरमण, येन वार्षभानवी लक्ष्मी. काम्यते।]

(नेपथ्ये पुनरन्यत)

सम्पन्न है, उसकी तुलना को कौन प्राप्त कर सकता है ? ॥१०३॥

(इस प्रकार कहकर मन मे कौतुक मानते हैं) तब वेशभूषा-घर से आवाज आती है।

वृष राशि-स्थित सूर्य की शोभा रक्तवर्ण धारण कर आगे उदित हो रही है। ओ चन्द्रश्रेणी-कुटुम्ब-चकोर! वल को प्रकाश करते हुए दौड मत पडना।

(पक्षान्तर मे—अनुरागवती वृषभानुनन्दिनी की शोभा आगे उदित हो रही है चन्द्रावली-कुल के चकोर (हे कृष्ण!) तुम बलात्कार करने के लिए मत दौड पडना) ॥१०४॥२१॥

मधुमङ्गल—ललिते! तुम भ्रम मे पड रही हो। यह चकोर नही है, देख यह चक्रवाक है। वृषराशि स्थित भानु की शोभा की कामना करने वाला है।

[पक्षान्तर मे—यह कृष्ण हैं वृषभानुनन्दिनी राधा की शोभा के इच्छुक हैं] ॥१०५॥

(वेशभूषा-घर के दूसरी ओर से आवाज आती है)

भो कण्ह, सुणाहि । [भोः कृष्ण, शृणु ।] ।

मधुमङ्गलः- (विलोक्य सशङ्कम्) एषा दाहिणो विसालस्स बहिणी सारङ्गी णाम बालिआ । [एषा दाक्षिणो विशालस्य भगिनी सारङ्गी नाम बालिका ।] ॥१०६॥

श्रीकृष्णः—सखे, मा शङ्किष्ठाः । सुष्ठु बालिकेयम् । १०७॥

(प्रविश्य)

सारङ्गी—भो कण्ह, सुणाहि । वुड्ढिआ मुहला भणादि -कीस दुए मम णत्तिणी अलीअं दूसिज्जइ । जं तुज्झ वंसिआ अम्हेहिं ककडिआहत्थे दिट्ठा, ता मग्गेहि णं ति । [भोः कृष्ण, शृणु । वृद्धा मुखरा भणति— कस्मात्त्वया मम नप्त्री मिथ्या दूष्यते । यतस्त्व वंशिकास्माभिः ककटिका-हस्ते दृष्टा, तस्मान्मार्गयेनामिति ।] ॥१०८॥

श्रीकृष्णः-सारङ्गिके, विज्ञापय मुखरां यदहं लब्धमुरलीकोऽस्मि ॥१०९

(नेपथ्ये)

हला, पच्छन्ना होहि । [सखि, प्रच्छन्ना भव ।] ॥११०॥

ओ कृष्ण सुनो—

मधुमङ्गल—(देखकर शङ्का करते हुए) यह दक्षिण दिशा से विशाल की बहन बालिका सारङ्गी आ रही है ॥१०६॥

श्रीकृष्ण—सखे ! शङ्का मत करो । यह बालिका ही है ॥१०७॥

(सारङ्गी प्रवेश करती है)

सारङ्गी—हे कृष्ण ! सुनो, वृद्धा मुखरा ने कहा है कि तू मेरी दोहती राधा को क्यों झूंठा दोष दे रहा है ? तुम्हारी वंशी हमने ककटि बन्दरी के हाथ में देखी है । इसलिए अपनी वंशी को वहां जाकर ढूंढ।॥१०८॥

श्रीकृष्ण—ओ सारङ्गि ! तुम जाकर मुखरा को बतला दो कि मुझे मेरी वंशी मिल गई है ॥१०९॥

(वेशभूषा-घर से आवाज आती है)

सखि ! छिप जाओ ॥११०॥

सारङ्गी—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य सेर्ष्यम्) हला राहिए ! चेत्तरुक्खस्स तले तुम विहुदि आआलेदि मे भादुओ। ता तत्थ किति ण गदासि।
[हला राधिके, चैत्यवृक्षस्य तले त्वामाकारयति मे भ्राता। तत्त्र किमिति न गतासि।] ॥१११॥

(नेपथ्ये)

हदासे ! साहासारङ्गमुहि सारङ्गिए, तुमं विदुदिआ जडिला संवुत्ता। ता वुड्ढसद्दूलस्स तुण्डकोडरे पडेहि। [हताशे शाखासारङ्गमुखि सारङ्गिके, त्वमपि द्वितीया जटिला सवृत्ता। तस्माद्वृद्धशार्दूलस्य तुण्डकोटरे पत।]।

सारङ्गी—(सामर्षम्) ललिदे ! उल्लट्टिअ म जेव्व तुम तज्जसि। ता अह गदुअ माउसिआए जडिलाए विण्णविस्सम्। [ललिते ! वैपरीत्येन मामेव त्व तर्जजसि। तदह गत्वा मातृस्वस्रे जटिलायै विज्ञापयिष्यामि।] (इति निष्क्रान्ता)॥११३॥

मधुमङ्गल —(सावज्ञम्) जादु णाम, बालिआपलावे कस्स वीसम्भो ? [जातु नाम, बालिकाप्रलापे कस्य विश्रम्भ ?] ॥११४॥

(नेपथ्ये)

सारङ्गी—(वेष-घर की ओर देखकर ईर्ष्या सहित) ओ राधे ! मेरा भाई अभिमन्यु चैत्य वृक्ष के नीचे बैठा तेरी इन्तजार कर रहा है, तू वहा क्यो नही गई ? ॥१११॥

(वेशगृह से फिर आवाज आती है)

ओ अभागिनी बन्दरमुखी सारङ्गिके ! तू भी दूसरी जटिला पैदा हुई है तू तो वृद्ध व्याघ्र के मुख मे जा पड ॥११२॥

सारङ्गी—(क्रोध सहित) अरी ललिते ! तुम मुझे ही उल्टा धमका रही हो, अच्छा मैं जाकर मासी जटिला को बताऊगी। यह कहकर चली जाती है) ॥११३॥

मधुमङ्गल—(अवज्ञा करते हुए) जाने दो, बालिका के प्रलाप का किसको विश्वास होगा ? ॥११४॥

(वेश-घर से आवाज आती है)

सखि राहे! मुञ्च मुञ्च। [सखि राधे ! मुञ्च मुञ्च।] ॥११५॥

मधुमङ्गल:—भो ! सुणाहि संकिदेण किं भणादि ललिदा। [भोः शृणु संस्कृतेन किं भणति ललिता।] ॥११६॥

(पुनर्नेपथ्ये)

किं तस्करी युवतिमानधनस्य वंशी-
मङ्के करोषि विकिर त्वरया विदूरे।
एषा प्रयातु वनिताम्बरतस्कराय
योग्येन सङ्गमिह गच्छतु वस्तु योग्यम् ॥११७॥२२॥

श्रीकृष्ण:—(स्मित्वा) सखे ! पश्येयमञ्चलाद्वंशीं बलादिवाकृष्य पुरस्तान्निक्षेप। तदिमां गृहाण ॥११८॥

(मधुमङ्गलस्तथा करोति)

(नेपथ्ये दूरतः)

अम्मो ! सारङ्गीए असच्चं ण भणिदम्। [अम्मो ! सारङ्गया असत्यं न भणितम्] ॥११९॥

श्रीकृष्ण:—(सव्यथम्) सखे ! पश्य। पुरो निष्ठुरेयमुपस्थिता जरती।

सखि राधे ! छोड़ दे, छोड़ दे ॥११५॥

मधुमङ्गल—ओ! सुनना, ललिता क्या कह रही है ? ॥११६॥

(फिर वेश-घर से आवाज आती है)

युवतियों के मान रूपी धन को अपहरण करने वाली वंशी को गोद में क्यों लिये जा रहे हो ? झट इसे दूर फेंक दो। नारियों के वस्त्र चुराने वाले (कृष्ण) के पास जाओ। योग्य वस्तु योग्य वस्तु के साथ ही मिलित हुआ करती है ॥११७॥२२॥

श्रीकृष्ण—(मुसकरा कर) सखे। देखो, आंचल से जबरदस्ती वंशी को खींचकर दूर फेंक दिया है। तू जाकर ले आ ॥११८॥

(मधुमङ्गल वैसा ही करता है। वेशघर से आवाज आती है)

ओ माँ ! सारङ्गी ने असत्य नहीं कहा है ॥११९॥

श्रीकृष्ण—(दुःखपूर्वक) मित्र ! देख, सामने निष्ठुर जटिला आ रही है ॥१२०॥

मधुमङ्गलः—हन्त ! साअणकसणभुअङ्गीव कूरमुही एसा रोसावेसेण लट्ठिं खिवन्ती परुसं गज्जइ जडिला। [हन्त ! श्रावणकृष्णभुजङ्गीव क्रूरमुख्येषा रोषावेशेन लकुटीं क्षिपन्ती परुषं गर्जति जटिला।] ॥१२१॥

(नेपथ्ये)

भो दुक्कुलङ्गारधूमलेहे ! पच्चुहं वञ्चेसि दाणिं का पउत्ती। [भो दुष्कुलाङ्गारधूमलेखे, प्रत्यहं वञ्चयसे इदानीं का प्रवृत्तिः ?] ॥१२२॥

मधुमङ्गलः—हद्धी, कअलीव्व कम्पइ राहिआ। [हा धिक्। कदलीव कम्पते राधा।] ॥१२३॥

(नेपथ्ये)

अज्जे ! पसीद, ण क्खु अम्हे अवरज्झम्ह। [आर्ये ! प्रसीद, प्रसीद न खलु वयमपराध्याम।] ॥१२४॥

मधुमङ्गलः—पेक्ख, राहिअं हत्थे घेत्तूण ललिदाए समं पत्थिदा वुड्ढिआ। [पश्य, राधिका हस्ते गृहीत्वा ललितया सम प्रस्थिता वृद्धा।]

श्रीकृष्णः—(सखेदम्) सखे ! न जाने किमद्य प्रतिपद्यते कठोरेयं

मधुमङ्गल—हाय ! श्रावण के काले नाग की भांति कठोरमुखी जटिला क्रोधावेश में लाठी टेकते-टेकते जोर से गर्ज रही है ॥१२१॥

(वेशघर से आवाज आती है)

अरी दुष्ट कुलाङ्गार कलङ्किनि ! रोज तू मेरी वञ्चना करती है, यह कैसी करतूत ?॥१२२॥

मधुमङ्गल—हाय, हाय, राधा तो कदली वृक्ष की तरह काप रही है ॥१२३॥

(वेशघर से)

हे आर्ये ! प्रसन्न होवो, हमने कोई अपराध नही किया है ॥१२४॥

मधुमङ्गल—कृष्ण ! देख, राधा का हाथ पकड़कर ललिता के साथ वृद्धा जटिला चली जा रहीहै ॥१२५॥

श्रीकृष्ण—(दुखपूर्वक) सखे ! न जाने यह कठोर जटिला आज क्या

जटिला। तदपसृत्य तत्त्वमधार्यताम् ॥१२६॥

(मधुमङ्गलो निष्क्रान्तः)

श्रीकृष्णः—(निःश्वस्य)

व्यक्तिं गते मम रहस्यविनोदवृत्ते
रुष्टो लघिष्ठहृदयस्तरसाभिमन्युः।
राधां निरुध्य सदने विनिगूहते वा
हा हन्त लम्भयति वा यदुराजधानीम् ॥१२७॥२३॥

(प्रविश्य)

मधुमङ्गलः—भो पिअवअस्स ! अच्चरिअम् अच्चरिअम्। णूणं राहिआ कंपि विज्जा जाणई। [भोः प्रियवयस्य ! आश्चर्यम् आश्चर्यम्। नून राधिका कामपि विद्या जानाति।] ॥१२८॥

श्रीकृष्ण.—कथ्यतां कीदृशी विद्या दृष्टा ? ॥१२९॥

मधुमङ्गलः—भो ! कुलवुड्ढाहीरीमण्डले णिविट्ठाए भअवदीए अग्गदो विक्कोसन्तो जड़िला राहिअं णीदा। [भो ! कुलवृद्धाभीरिमण्डले निविष्टाया भगवत्या अग्रतो विक्रोशन्ती जटिला राधिकां नीता।] ॥१३०॥

(मधुमङ्गल चला जाता है)

श्रीकृष्ण—(लम्बी सास छोड़कर) हाय ! मेरी रहस्य-केलि को जान कर छोटे दिल वाला अभिमन्यु अति क्रोधित होकर, हो सकता है राधे को किसी गुप्त भवन मे बन्द करादेगा या यदुराजधानी-मथुरापुरी मे ही ले जाएगा ॥१२७॥२३॥

(मधुमङ्गल प्रवेश करता हैं)

मधुमङ्गल—हे प्रिय सखे ! बड़ा आश्चर्य है, निश्चय ही राधा कोई विद्या जानती है ॥१२८॥

श्रीकृष्ण—कहना, कैसी विद्या ? ॥१२९॥

मधुमङ्गल—कुल वृद्धा-गोपियों की मण्डली मे जब भगवती पौर्णमासी पहुँची तो जटिला तिरस्कार करते करते राधा को वहां ले गई ॥१३०

श्रीकृष्णः—ततस्तत ? ॥१३१॥

मधुमङ्गल —तदो दिट्ठं मए सिणेहेण विक्खुहिदासु तासु सव्वासु सा राहिआ ओगुण्ठणं उच्छारिअ हसन्तो सुअलो संवुत्तो। [ततो दृष्ट मया स्नेहेन विक्षुभितासु तासु सर्वासु सा राधिकावगुण्ठन मुत्सार्य हसन्सुबल संवृत्त ।] ॥१३२॥

श्रीकृष्ण.—(स्मित्वा) ततस्ततः ? ॥१३३॥

मधुमङ्गल – तदो हासकोलाहले उवरदे रुट्ठाहिं सव्वाहिं णिब्भच्छिदा लज्जाए णदमुही जडिला पलाइदा। [ततो हासकोलाहले उपरते रुष्टाभि सर्वाभिर्निर्भर्त्सिता लज्जया नतमुखी जटिला पलायिता ।] ॥१३४॥

श्रीकृष्ण —कथ्यताम्, तयोर्द्वितीया कथमभूत् ? ॥१३५॥

मधुमङ्गलः—राहिआए कण्णे पढिदेण केण वि मन्तेण पढम जेव्व सा वुन्दा किदा। [राधिकया कर्णे पठितेन केनापि मन्त्रेण प्रथममेव सा वृन्दा कृता।] ॥१३६॥

श्रीकृष्ण —सखे ! न राधिकाया खल्वियं विद्या, किंतु तामभिमन्युना समाहृतामवधार्य मद्विनोदाय वृन्दया प्रणीतमिद कौतूहलम् ॥१३७॥

श्रीकृष्ण—फिर क्या हुआ ? ॥१३१॥

मधुमङ्गल—मैंने फिर देखा कि स्नेह से सबके क्षुभित होने पर राधा ने घूंघट खोला और हंसते हंसते वह तो सुबल बन गई ॥१३२॥

श्रीकृष्ण –(मुस्करा कर) फिर उसके बाद ? ॥१३३॥

मधुमङ्गल—फिर क्या था कि सब हंसते हंसते कोलाहल करने लगे क्रोध मे आकर जटिला का तिरस्कार करने लगे। जटिला अति लज्जित हो मुंह नीचा कर वहाँ से भाग गई ॥१३४॥

श्रीकृष्ण—यह तो बता दूसरी जो ललिता साथ थी, उसका क्या हुआ ? ॥१३५॥

मधुमङ्गल—श्रीराधा ने उसके कान मे कोई मन्त्र फूंककर उसे पहले ही बना वृन्दा दिया था ॥१३६॥

श्रीकृष्ण—मित्र ! यह विद्या निश्चय ही राधिका की नहीं, किन्तु

मधुमङ्गलः—(साट्टहासम्) भो पिअवअस्स ! सच्चं विअ कहेसि; दिट्ठं मए पुणोवि वुन्दाए जिम्मिदराहावेसो सुबलो मुहराघरे पविट्ठो। [भोः प्रिय वयस्य ! सत्यमिव कथयसि; दृष्टं मया पुनरपि वृन्दया निर्मित-राधावेषः सुबलो मुखरागृहे प्रविष्टः।] ॥१३८॥

(नेपथ्ये)

दधाना मध्याह्नज्वलदरुणकान्तप्रतिमया
वपुस्तुलयं गण्डस्थलतुलितकारण्डवरुचिः।
कृशाङ्गीयं निद्रापरिमलवरिद्राक्षिकमला
सखो बाधां राधा हरिविरहखिन्ना प्रथयति ॥१३६॥२४॥

श्रीकृष्णः—(सहष्टिक्षेपम्) सखे ! दिष्ट्या कीरेणामुना समाश्वासितोऽस्मि ॥१४०॥

अभिमन्यु उसे बुला रहा है। यह जानकर मेरे विनोद के लिए वृन्दा ने ही यह तमाशा रचा है ॥१३७॥

मधुमङ्गल—(कहकहा लगा कर) ओ मित्र ! तू सत्य ही कहता है। मैंने फिर देखा कि सुबल वृन्दा द्वारा बनाए गए राधावेश को धारण कर मुखरा के घर में प्रवेश कर गया ॥१३८॥

(वेशघर से आवाज आती है)

कृशाङ्गी श्री राधा का शरीर श्री कृष्ण के विरह में व्याकुलता के कारण मध्याह्न कालीन प्रज्वलित सूर्यकान्त मणि की तरह लाल हो रहा है और उसका गण्डस्थल कारण्डव(बतख)की तरह पीला पड़ गया है। निद्रा आवेश में उसके नेत्र कमल मुद्रित हो अतिशय दुख विस्तार कर रहे हैं ॥१३६॥२४॥

श्रीकृष्ण—(दृष्टि नीक्षेप करते हुए) सखे ! कैसे सौभाग्य की बात है कि इस शुक पक्षी द्वारा मैं आश्वस्त हो गया हूं ॥१४०॥

मधुमङ्गल—निश्चय यह शुक वृन्दा के वाक्यों का अनुकरण कर रहा है ॥१४१॥

मधुमङ्गल—णूण वुन्दाभाविद मणुकरेदि कीरो। [नून वृन्दाभावितमनुकरोति कीर।] ॥१४१॥

श्रीकृष्ण—सखे ! द्रष्टुमिच्छामि तादृशौ वृन्दासुबलौ, ततस्त्वर्यताम्।

(मधुमङ्गलो वंशीं कृष्णकरे निक्षिप्य परिक्रामति)

श्रीकृष्ण—सुचिरच्युता वंशीमुपलब्धोऽस्मि, तदेनां पूरयामि। (इति तथा करोति) ॥१४२॥

मधुमङ्गल—(क्षणमुत्कर्णो भवन् सस्कृतेन)

मनोहारो कोऽपि प्रतिमुखविसारी मृदुतया
विरावोऽयं चर्यां श्रवणपरिचर्यां रचयति।
तत कर्णोत्संसीकृतचटुलवंशी कलरुति-
निरातङ्का शङ्के मिलति कलविङ्कावलिरित ॥१४३।२५॥

(पुनर्विलोक्य) ही ही, सद्दसाधम्मेण पदारिदो म्हि ज, कङ्कणसिञ्जिद क्खु एदम्। [ही ही, शब्दसाधर्म्येण प्रतारितोऽस्मि, यत् कङ्कणसिञ्जित खल्वेतत्।] ॥१४४॥

श्रीकृष्ण—मधुमङ्गल ! मैं उसी रूप में वृन्दा और सुबल को देखना चाहता हू। इसलिए जल्दी करो।

(मधुमङ्गल श्रीकृष्ण के हाथ में वंशी देकर लौट आता है)

श्रीकृष्ण—अनेक दिन की खोई हुई वंशी को आज मैंने फिर प्राप्त किया है। अत इसे बजाता हू। (ऐसा कह उसे बजाने लगते हैं) ॥१४२॥

मधुमङ्गल—(क्षणकाल के लिए कान ऊपर उठाकर) सब दिशाओं को पूरित करने वाले मनोहर अति मृदुस्वर से कानों का कोई रसास्वादित कर रहा है। इसलिए ऐसा जान पड़ता है कि मनोहर वंशी की सुन्दर ध्वनि सुनकर समस्त सखीगण कान उठाए हुए यहाँ आ रहा है ॥१४३॥

(फिर ध्यानपूर्वक देखकर) ही ही एक सा शब्द सुनकर मुझे धोखा हो गया। यह तो निश्चय ही कङ्कणों की मधुर ध्वनि है ॥१४४॥

(ततः प्रविशति ललितयानुगम्यमाना राधा)

श्रीराधिका—

अमिअं पिअसि सुमहुरं वमसि रवं विस्समोहणं विसम् ।
तुज्झ ण दूसणमधवा मुरलि जदो दारुणासि किदा ॥
[अमृतं पिबसि सुमधुरं वमसि रुतं विश्वमोहनं विषमम् ।
तव न दूपणमथवा, मुरली ! यतो दारुणासि कृता ॥] ॥१४५॥२६॥

ललिता—हला ! पुरदो पुण्णाअस्स मूले कण्हो रेहदि । [हला ! पुरत. पुन्नागस्य मूले कृष्णो राजते ।] ॥१४६॥

मधुमङ्गलः—(विलोक्य सहर्षम्) दूरे मग्गणिज्जो अत्यो कहं सअं जेव्व हत्थे उवत्थिदो ? (इति परावृत्य) पिअवअस्स, पेक्ख, वुन्दाए सद्धं सुअलो तुज्झ संणिहिं लद्धो । [दूरे मार्गणीयोऽर्थः कथं स्वयमेव हस्त उपस्थितः ? प्रियवयस्य ! पश्य, वृन्दया सार्धं सुबलस्तव सन्निधिं लब्धः ।]

कृष्णः—(सस्नेहमालोक्य) हन्त ! प्रियसख्यौ प्रविष्टा मे दृष्टिः प्रकाममादत्ते । (इति परिक्रम्य) भोः सखीनां शिखामणे ! तरसा सन्निधीयताम् ॥१४८॥

(तब ललिता के साथ श्रीराधा प्रवेश करती हैं)

श्रीराधा—अरी मुरलि ! तुम जो सुमधुर (कृष्णाधर!) अमृत पान कर विश्व को विमोहित करने वाले विषम शब्दों को उगलती हो, इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है, क्योंकि तुम कठोर काठ से ही तो बनी हो ।१४५

ललिता—सखि ! सामने पुन्नाग वृक्ष के नीचे श्रीकृष्ण बैठे हैं।।१४६॥

मधुमङ्गल—(देखकर आनन्द पूर्वक) यह कैसा आश्चर्य ! दूर से ढूंढने योग्य वस्तु अपने आप कैसे हाथों पड़ गई ? (इतना कह, लौटकर) हे प्रिय मित्र कृष्ण ! देख वृन्दा के साथ सुबल तुम्हारे पास आ रहा है ।।१४७।।

श्रीकृष्ण—(स्नेह पूर्वक देखते हुए) आहा ! प्रिय सखा सुबल को देखकर मेरे नेत्र परम सुख का अनुभव कर रहे हैं। (घूमकर) अहो ! सर्व सखा शिरोमणि ! शीघ्र निकट आओ ।।१४८।।

राधिका—(सस्मितमपवार्य) हला ललिदे ! मं क्खु सुअलं जेव्व जाणादि दे वअस्सो। [हला ललिते! मां खलु सुबलमेव जानाति तव वयस्य] ॥१४९॥

श्रीकृष्ण—सखे मधुमङ्गल ! पश्य सविधानकस्य किमपि सौष्ठवम्, यदसौ साक्षादग्रतो राधिकेव सवयस्या प्रतिभाति ॥१५०॥

ललिता—हला राहिए! अपरिफुल्लो एसो सुरवल्लहो ।[हला राधिके अपरिफुल्ल एष सुरवल्लभ ।] ॥१५१॥

मधुमङ्गल—(सेर्ष्यम्)ठगिणि वुन्दे! अज्ज वि किं ति अम्हाण पुरदो राहो रहि त्ति भणासि ? सुअल त्ति उज्जुअ कहेहि ।[ठगिनि वृन्दे ! अद्यापि किमित्यस्माकं पुरत राधा राधेति भणसि ? सुबलेति ऋजुककथय ॥१५२॥

श्रीकृष्ण—सखे मा त्वमेव ब्रवी प्रकाम राधाभिधान धिनोति माम्, तदनेनाहमप्यामन्त्रयिष्ये। (इतिसन्निधाय) सखि राधे ! परिष्वजस्व माम्, क्षणमह तवेव प्रियाभिमर्शसौख्यमनुभवामि ॥१५३॥

श्रीराधिका—(मुस्कराते हुए हाथ की ओट मे) सखि ललिते ! तुम्हारा सखा मुझको सुबल ही समझ रहा है ॥१४६॥

श्रीकृष्ण—सखे मधुमङ्गल ! देख तो, कारीगर का कैसा आश्चर्यमय सौष्ठव है, जो मुझे सामने आता हुआ यह सुबल साक्षात् सखि के सहित श्रीराधा की भाति लग रहा है ॥१५०॥

ललिता—सखि राधे ! यह सुरवल्लभ अर्थात् पुन्नाग प्रफुल्लित नही हो रहा है ॥१५१॥

मधुमङ्गल—(ईर्ष्या सहित) अरी ठगनी वृन्दे ! अभी भी हमारे सामने 'राधा-राधा' ऐसे बोल रही है। यह सुबल है-ऐसी सीधी बात बोल ॥१५२॥

श्रीकृष्ण—सखे ! तुम ऐसा मत कहो, राधा नाम मझे अतिशय सुख देता है, इसलिए मैं तो राधा-नाम से ही सम्बोधित करूंगा। (ऐसा कहकर निकट जाते हैं) सखि राधे ! मुझे आलिंगन करो, क्षणकाल के लिए मैं उस प्रिया-आलिंगन के सुख को अनुभव कर सकूं ॥१५३॥

ललिता—(राधां पृष्ठतः कृत्वा।) णाअर ! तत्थ गदुअ सुअलं जेव्व आलिङ्गेहि। अलं इमिणा दम्भमुद्दापउएण। [नागर ! तत्र गत्वा सुबलमेवालिङ्गस्व। अलमनेन दम्भमुद्राप्रयोगेण।] ॥१५४॥

मधुमङ्गलः—(सरोषम्।) वुन्दे, तुमं पइदिएवि णूणं ललिदा संवुत्ता, जं पज्जुस्सुअं पिअवअस्सं वारेसि। [वृन्दे ! त्वं प्रकृतितोऽपि नूनं ललिता संवृत्ता, यत्पर्युत्सुकं प्रियवयस्यं वारयसि।] ॥१५५॥

(प्रविश्य)

वृन्दा—सखि राधे ! त्वद्भुजवल्लरीस्पर्शकामुकोऽयं पुरस्तात्पुंनागः तदेनं वोहददानेनोत्फुल्लय ॥१५६॥

मधुमङ्गलः—(सविस्मयम्) वअस्स ! दिट्ठं बुन्दाए इन्द्रजालम् ! (इति सकौतुकमवेक्ष्य।) इन्द्रजालाणि वुन्दे ! घणाइदी वि धूमलेहा विअद्धसारङ्गं आकड्ढिदुं णादिहदि। [वयस्य ! दृष्टं वृन्दाया इन्द्रजालम् ? इन्द्रजालानि वृन्दे ! घनाकृतिरपि धूमलेखा विदग्धसारङ्गमाक्रष्टुं नार्हति।]

ललिता—(श्रीराधा को पीछे करके) वहाँ जाकर सुबल को ही आलिंगन कर। यहा कपटपूर्ण चाल का कुछ भी प्रयोजन नहीं हैं ॥१५४॥

मधुमङ्गल—(क्रोध सहित) वृन्दे ! तू स्वभाव से ही निश्चय ललिता अर्थात् स्वेच्छाचारिणी नारी हो हो, जो उत्कण्ठित प्रिय सखा-कृष्ण को रोक रही हो ॥१५५॥

(वृन्दा प्रवेश करती है)

वृन्दा—सखि राधे ! अग्रवर्ती यह पुन्नाग तुम्हारी भुज-लताओं को स्पर्श करना चाहता है, इसलिए पुष्पोत्पत्ति की औषध विशेष द्वारा इसे प्रफुल्लित करो

(पक्षान्तर में—सखि राधे ! अग्रवती यह पुरुष श्रेष्ठ श्रीकृष्ण तुम्हारी भुज-लताओं को स्पर्श करना चाहता है, अतएव उसकी अभीष्ट पूर्ति करते हुए उसे आनन्दित करो ॥१५६॥

मधुमङ्गल—(विस्मय युक्त) मित्र ! देख रहे हो वृन्दा का इन्द्रजाल (ऐसा कहकर चकित दृष्टि से)अरी इन्द्रजालिनि वृन्दे ! तू घने धूँए को मेघ बताकर विदग्ध माधव को आकर्षित नहीं कर पायेगी ॥१५७॥

वृन्दा—आर्य ! तडिद्दामकण्ठीय कादम्बिनी प्रतीयताम् ॥१५८॥

श्रीकृष्ण —(निभाल्य सविस्मयम्) कथ सत्यमेवानया रङ्गणमालिकया दुस्त्यजकण्ठीय प्रिया मे वार्षभानवी ॥१५९॥

मधुमङ्गल —अइ देइ वुन्दे ! पसीद पसीद, मा क्खु बुद्धि मोहेहि ? ज राहा चेत्तरुक्खतले पत्थिदा । [अयि देवि वृन्दे! प्रसीद, प्रसीद। मा खलु बुद्धि मोहय। यद्राधा चैत्यवृक्षमूले प्रस्थिता।] ॥१६०॥

वृन्दा—आर्य ! रङ्गणमालिकास्पर्शमानभिज्ञकण्ठी कृत्रिमेव राधिका विशाखा सार्द्धं तत्र गता ॥१६१॥

श्रीकृष्ण — (राधामालोक्य) ।
तवानुकारात्सुबल दिदृक्षुणा मया त्वमाप्ता पुरत सुदुर्लभा ।
साद्दश्यत काचमिवाभिलष्यता प्रेमाग्रभूमिर्वणिजा हरिन्मणि ॥१६२॥२७

वृन्दा—आर्य ! मेघमाला के कण्ठ मे यह विद्युतमाला है ऐसा विश्वास करो। (इसलिए अवश्य ही अकर्षण करने की शक्ति इस मे है। अर्थात् यह सुबल नही है, राधा ही है तडिद्दाम कण्ठी होने के असाधारण लक्षण से कृष्ण ही इस तथ्य का परिचय पायेंगे) ॥१५८॥

श्रीकृष्ण—(देखकर विस्मय पूर्वक) सचमुच क्या यह रङ्गणमाला से कण्ठ को विभूषित करते हुए मेरी प्रिया वृषभानुनन्दिनी आ रही है ! ॥१५९॥

मधुमङ्गल—अरी देवि वृन्दे ! प्रसन्न होवो, कृपा करो, और अब बुद्धि को विमोहित न करो। श्रीराधा तो चैत्य वृक्ष के नीचे चली गई हैं ॥१६०॥

वृन्दा—जिसके कण्ठ मे रङ्गण माला का स्पर्श नही हुआ है, यह कृत्रिम राधा ही विशाखा के साथ चैत्य वृक्ष के नीचे चली गई है, वस्तुत यही ही यथार्थ राधा है ॥१६१॥

श्रीकृष्ण—(श्रीराधा को देखकर) हे प्रिये ! जैसे काच को ढूण्ढने के इच्छुक किसी वणिक को काच ढूण्ढते ढूण्ढते आगे पृथ्वी पर पडी काच के सदृश मरकत मणि प्राप्त हो जाए, उसी प्रकार मैं तो तुम्हारे समान वेशधारी सुबल को देखने की इच्छा कर रहा था, किन्तु सदुर्लभ प्रेममयी तुम ही मुझे प्राप्त हो गई हो ॥१६२॥२७॥

श्रीराधिका—चिट्ठ, चिट्ठ, विण्णादोसि । [तिष्ठ, तिष्ठ, विज्ञातोऽसि ।

ललिता—

जलइ सही मह राही मन्दा जं होइ णीलिणी-राआ ।
कण्ह तुमं णन्दसि ज धण्णो हालिद्दराओ सि ।।
[ज्वलति सखी मम राधा मन्दा यद्भवति नीलिनीरागा ।
कृष्ण त्वं नन्दसि यद्धन्यो हारिद्ररागोऽसि ।।१६४।।२८ ।]

श्रीकृष्ण:—

रोहिण्याधरशोभया विहरसे ज्येष्ठासि वामभ्रुवां
वाण्या राजसि चित्रया परिजनेष्वार्द्रां धियं यच्छसि ।
राधे त्वं श्रवणोत्तरेति परितस्तारोदयोल्लासिनी
नाद्यैपार्पणदीक्षिते मयि कथं दाक्षिण्यमातिष्ठसि? ।।१६५।।२६

श्रीराधा—ठहरो, ठहरो, मैं जान गई ।।१६३।।

ललिता—हे कृष्ण ! हमारी प्रिय सखी राधा नील रागमयी होने से मन्दभागिनी है, इसलिए निरन्तर जलती अर्थात् सतप्त होती रहती है । किन्तु कृष्ण ! तुम हरिद्राराग मय होने से सदा आनन्द अनुभव करते रहते हो, इसलिए तुम धन्य हो ।।१६४।।२८ ।

[तात्पर्य यह है कि श्रीराधा का प्रेम नीले रंग की तरह पक्का है-छुडाने से भी नही छूटता । इसलिए वह प्रेम में निरन्तर दुखी रहती हैं । और श्रीकृष्ण का प्रेम हरिद्रा-पीले रग की तरह कच्चा है—सहज मे छूट भी जाता है चढ़ भी जाता है । इसलिए वे राधा के लिए अति कातर नही रहते]

श्रीकृष्ण—हे राधे ! तुम अरुण वर्ण अधरो की शोभा से सुशोभित होने से समस्त सुन्दरियो मे श्रेष्ठ हो, विचित्र वोलिनि होने के कारण समस्त परिकरजनों को सुन्दर बुद्धि प्रदान करने वाली हो । तुम्हारे समान कान तो किसी के हैं ही नही । तुम मुक्तामाला से उल्लास प्रदान करने वाली हो । तब फिर अपना आलिंगन मुझे प्रदान कर तुम क्यों नहीं अनुकूलता विधान करती हो ? ।।१६५।।२६।।

वृन्दा—

मुधा मानोग्राहाद्ग्लपयसि किमङ्गानि कठिने
रुषं धत्से किं वा प्रियपरिजनाभ्यर्थनविधौ।
प्रकामं ते कुञ्जालयगृहपतिस्ताम्यति पुरः
कृपालक्ष्मीवन्तं चटुलय दृगन्तं क्षणमिह ॥१६६॥३०॥

श्रीकृष्णः—

निष्ठुरा भव मृद्वी वा प्राणास्त्वमसि राधिके।
अस्ति नान्या चकोरस्य चन्द्रलेखां बिना गतिः ॥१६७॥३१॥

श्रीराधिका—सच्चं माइणं वि तुमं मोहणोसि। [सत्यम् मायिनामपि त्वं विमोहनोऽसि।] ॥१६८॥ (इति सशब्द क्रन्दति)

ललिता—(संस्कृतेन।)

धारा बाष्पमयी न याति विरतिं लोकस्य निमित्ततः
प्रेमास्मिन्निति नन्दनन्दनरतं लोभान्मनो मा कृथाः।

वृन्दा—हे कठोर चित्त राधे! वृथा अभिमान में भरकर अपने अङ्गों को क्यों क्लेश दे रही हो? और क्यों अपने प्रियजनों की प्रार्थना पर क्रोधित होती हो? देखो यह तुम्हारे आगे कुञ्जालय गृहपति अर्थात् श्रीकृष्ण यथेष्टरूप से अधीन हो रहे हैं। अतः क्षण काल के लिए इन के प्रति कृपा शोभाशालिनि नेत्र-दृष्टि डालो ॥१६६॥

श्रीकृष्ण—राधिके! तुम कठोर हो, या कोमल, किन्तु तुम ही मेरी प्राण-जीवन हो, जैसे चन्द्रकला के बिना चकोर की और गति नहीं है। उसी प्रकार तुम्हारे बिना मेरी जीवन गति और नहीं है ॥१६७॥३१॥

श्रीराधिका—सत्य हैं,आप मायावियों को भी विमोहित करने वाले हो॥ (ऐसा कहकर उच्च स्वर मे रोने लगती है) ॥१६८॥

ललिता—सुन्दरि! मैं ने तो तुम्हें कहा था कि जो व्यक्ति नन्दनन्दन से प्रेम करता है, उसकी अश्रुधारा कभी बन्द नहीं होती। इसलिए तू इन मे लोभवश मन न लगा। मैं ने तुम्हें कई बार रोका था, परन्तु हे कोमल-

इत्थं भूरि निवारितापि तरले मद्वाचि साचीकृत-
भ्रू द्वन्द्वा नहि गौरवं त्वमकरोः किं नाद्य रोदिष्यसि ?॥१६६

(कृष्णः करारविन्देन राधिकाश्रु विन्दूनपसारयति)

श्रीराधिका—मुद्धजणे वि वङ्कं ववहरन्तो कीस ण लज्जसि ? [मुग्ध-जनेऽपि वक्रं व्यवहरन् कस्मान्न लज्जते ?] ॥१७०॥

श्रीकृष्णः—

स्मरक्रीडालुब्धः पशुपरमणीषु स्फुटमहं
तथाप्यक्ष्णोर्वर्तिस्त्वमसि मम दिव्याञ्जनमयी ।
तपाद्याः किं भृङ्गं पृथुलमृतुलक्ष्मीर्न भजते
रसोल्लासादेनं तदपि हि मधुश्रीर्मदयति ॥१७१॥३३॥

वृन्दा—सखि, यथार्थं वक्ति वनमाली ॥१७२॥

श्रीकृष्णः—प्रिये, त्वया सहचर्या वनविहारचर्यामङ्गीकर्तुमिच्छामि ।

चित्त राधे ! तुमने मेरे वचनों का आदर नहीं किया वलिक तेवड़ी चढ़ा ली थी। अब आज तू क्यों नहीं रोयगी ? ॥१६६ ॥

(श्रीकृष्ण अपने हस्तकमलों से श्रीराधा जी के अश्रु विन्दुओं को पोंछते हैं)

श्रीराधिका—भोले-भाले व्यक्ति के प्रति टेढ़ा वर्ताव करने में क्या आप को लज्जा नहीं आती ? ॥१७०॥

श्रीकृष्ण—हे प्रिय ! यद्यपि मैं स्पष्ट रूप से समस्त गोपरमणियों के साथ कन्दर्पकेलि में लुब्ध रहता हूं, तथापि तुम ही मेरे नेत्रों के दिव्य अंजन के समान हो। देखो ग्रीष्मादि सब ऋतुओं के पुष्पों पर क्या मधुकर रमण नहीं करता ? तथापि वसन्त अतिशय शोभाशाली रसोल्लास से भ्रमर को आमोदित किया ही करता है ॥१७१॥

वृन्दा—सखि ! वनमाली सच्ची बात कहते हैं ॥१७२॥

वृन्दा—तेनाहं सखिवृन्दमवधापयामि। (इति परितः पश्यन्ती।)

स्मितं वितनु माधवि प्रथय मल्लि हासोद्गमं
मुदा विकस पाटले पुरटयूथि निद्रां त्यज।
प्रसीद शतपत्रिके भज लवङ्गवल्लि श्रियं
वधार सह राधया हरिरयं विहारस्पृहाम्। १७४॥३४॥

मधुमङ्गलः—ही, ही कहं कन्तारजक्खिण्णीए वाआमेत्तएण उप्फुल्ली-किअं वल्लीमण्डलम्! [ही ही, कथं कान्तारयक्षिण्या वाचामात्रेणोत्फुल्ली-कृतं वल्लीमण्डलम् !] ॥१७५॥

श्रीकृष्णः—सखे ! चित्तमामोदयन्ति पुष्पामोदवत्यो मे वीरवः ॥१७६

मधुमङ्गलः—वअस्स ! तुम्हाणं सव्वाओ चित्तं आमोदेन्ति लदाओ, मम उण एक्का हेमजूही जेव्व, जा गोकुलेसरीए सविकअं गव्वधिअं विअत्थवअं धारेइ ॥ [वयस्य ! युष्माकं सर्वाश्चित्तमामोदयन्ति लताः। मम पुनरेका हेम-

---

श्रीकृष्ण—हे प्रिये ! तुम्हारे साथ वन-विहार आचरण करने की मेरी इच्छा है ॥१७३॥

वृन्दा—तो मैं सब सखियों को सूचित किये देती हूँ। (यह कहकर चारों ओर देखने लगती है) ओ माधवि ! तू मुस्कान का विस्तार कर, ओ मल्लि के ! तू हास्योद्गम का प्रकाश कर, अरी पाटले ! आनन्द से तू प्रफुल्लित हो, हे स्वर्ण यूथिके तू नींद का त्याग कर, ओ शतपत्रिके ! तू प्रसन्न हो और हे लवङ्गवल्लि ! तू भाग्य मना, आज श्रीराधा के साथ श्री माधव विहार करने की इच्छा कर रहे हैं ॥१७४॥

मधुमङ्गल—आहा, हा, कैसा आश्चर्य ! वनयक्षिणी इस वृन्दा ने कहने मात्र से ही सब लताओं को कैसे प्रफुल्लित कर दिया है ? ॥१७५॥

श्रीकृष्ण—सखे ! ये पुष्पगन्धशालिनि लताएं मेरे चित्त को आनन्दित कर रही है ॥१७६॥

मधुमङ्गल—मित्र ! तुम्हारे चित्त को ये सब लताएँ आनन्दित कर रही हैं, यह बात ठीक है, परन्तु मुझे तो केवल एक यह स्वर्ण यूथी ही अच्छी लग रही है। जो गोकुलेश्वरी यशोदा के द्वारा निकाले हुए गोघृत

यथ्येव, या गोकुलेश्वर्या संस्कृतं गव्यघृततमिव स्तवकं धारयति ।] ॥१७७॥

ललिता—(स्मित्वा) अज्ज ! तदो क्खु पअडिदा दे रसण्णदा । [आर्य ! ततः खलु प्रकटा ते रसज्ञता] ॥१७८॥

मधुमङ्गलः—(सेर्ष्यम्) वअस्स ! पेक्ख पेक्ख, इमाओ रत्ताओवि वङ्काओ किंसुअकलिआओ गोइआओ विअ मं ण सुहावेन्ति । [वयस्य! पश्य पश्य, एता रक्ता अपि वक्राकिंशुककलिका गोपिका इव मां न सुखयन्ति ।]

ललिता—वुन्दे ! एदे वल्लआ विअ पेक्खीअन्तु जवात्थवआ, जा क्खु लोअणलोहणिज्जा वि आमोदं ण वित्थारेन्ति । [वृन्दे ! एते वल्लवा इव प्रेक्ष्यन्ता जवास्तवका., ये खलु लोचनलोभनीया अपि आमोदं न विस्तारयन्ति]

मधुमङ्गलः—(सरोषम्) जाणम्ह तुम्हाणं गोइआणं कम्म जाओ रसकुम्भं वि दिढं णिम्मन्थिअ सिणेहं कड्ढन्ति । [जानामि युष्माकं गोपिकाना कर्म, या रसकुम्भमपि दृढ निर्मथ्य स्नेहं कर्षन्ति ।] ॥१८१॥

वृन्दा—(स्मित्वा ।) सखि ललिते !

की तरह स्तवक धारण कर रही ॥१७७॥

ललिता—(मुस्कराते हुए) आर्य ! इसलिए तो तुम्हारी रसयज्ञा विख्यात है ॥१७८॥

मधुमङ्गल—(ईर्ष्या सहित) हे सखे ! देखो, देखो, ये सब रक्तवर्णा होते हुए भी वक्र पलास की कलिया गोपिकाओ की तरह मुझे सुख प्रदान नही कर रही है ॥१७९॥

ललिता— वृन्दे ! गोपगण की भांति इन सब स्तवकों को देख, ये देखने मात्र को ही सुन्दर है, किन्तु सुगन्ध द्वारा आनन्द विस्तार नही कर सकते हैं (अर्थात् ये श्रीकृष्ण देखने को सुन्दर है, इन में प्रेम की गन्ध नही हैं) ॥१८०॥

मधुमङ्गल—(क्रोध सहित) मैं जानता हूं तुम सब गोपियों के कर्मों को । तुम रस(दूध) कलशो को दृढता पूर्वक मथकर स्नेह (मासन, घी) को निकाल लेने वाली हो- अर्थात् दूध-दही को भी घी रहित कर देने वाली हो—तुम मे भला स्नेह सम्बन्ध कहाँ ?॥१८१॥

वृन्दा—(मुस्कराते हुए) सखि ललिते ! स्पष्ट रूप से जो पत्थर के

ये दण्डपाशभाजस्फुट वहन्तो मन शिलाकल्पम्ः।
कान्तारमाश्रयन्ते तेभ्यो ,व क्षेममुल्लसतु ॥१८२॥३५॥

श्रीकृष्ण—(स्मित्वा) वृन्दे ! ज्ञात ज्ञातम् । बुद्धि मूर्च्छयता कूर्चिकालोभेन गोपिकाञ्चलग्राहिणी त्वं कृतासि ॥१८३॥

(नेपथ्ये)

कस्तूरिकेव दुरवच्छदसगमेयं
गोपीततिर्मदमयी किल पिच्छिला च ।
दाक्षिण्यतस्तनुभृतामनुरञ्जनोऽयं
वासन्तवायुरिव हन्त मुरान्तकारी ॥१८४॥३६॥

श्रीकृष्ण —(पृष्ठतो दृष्टिं क्षिपन् ।)साधु भो कीरराज ! साधु ॥१८५

मधुमङ्गल —विहङ्गपुङ्गअ! चउद्दहविज्जाविअक्खणो दीहाउ होहि ॥
[विहङ्गपुङ्गव ! चतुर्दशविद्याविचक्षणो दीर्घायुर्भव] ॥१८६॥

वने मन को लेकर दण्डा और रस्सी लिए दुर्गम वन मे डोलते हैं, ऐसे इन लोगो से तुम्हारा कल्याण साधित हो, अर्थात् हमे इन से कुछ हित की अभिलाषा नही दीखती) ॥१८२॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कराकर) वृन्दे ! मैं जान गया हू, जान गया हू, खुरचन के लोभ से तुम्हारी बुद्धि भ्रम मे पड रही है, तभी तू गोपियो का पक्षपात कर रही है ॥१८३॥

(पर्दे के पीछे से तोते की आवाज आती है)

गोपी मण्डली कस्तूरी की तरह दुर्लभ है—एव मादकता उत्पन्नकारी तथा बडो चिकनी है। किन्तु अनुकूलता के कारण वसन्त की वायु की भाति श्रीकृष्ण सबको सुलभ तथा सबको सुखप्रदान करने वाले हैं ॥१८४॥

श्रीकृष्ण—(पीछे की ओर देखकर) ठीक है हे शुक श्रेष्ठ ! ठीक है ॥१८५॥

मधुमङ्गल—हे पक्षीराज ! तू चौदह विद्याओ मे विशारद हो, और चिरजीव रह ॥१८६॥

ललिता—हण्डे चण्डालकीर ! पअण्डससाअणतुण्डराहुणो पाहुणो होदु दे पिण्डससी। [हण्डे चण्डालकीर ! प्रचण्डशशादनतुण्डराहो प्राघुणो भवतु ते पिण्डशशी] ॥१८७॥

श्रीकृष्ण—सखे ! तूर्णमस्मै समर्पय पाकिमानि दाडिमीबीजानि ॥

मधुमङ्गल—भो विन्दावणविहप्पए ! दाडिमीवीअहिन्तो वि सुट्ठु कन्त ललिदाए दन्तपन्ति दे दाइस्सम् । [भो वृन्दावनवृहस्पते ! दाडिमीबीजेभ्योऽपि सुष्ठु कान्ता ललिताया दन्तपंक्ति ते दास्यामि ।] ॥१८६॥

(पुनर्नेपथ्ये)

चञ्चलसञ्झाघण विअ मुहुत्तराअ तणोदि दे सामी ।
वहइ सिणेह राही णवर णअणीअपुत्तीव्व ॥
[चञ्चलसन्ध्याघन इव मुहूर्तराग तनोति ते स्वामी ।
वहति स्नेह राधा केवल नवनीतपुत्रीव ॥] ॥१९०॥

ललिता—(सानन्दम्) सहि सारिये ! सोहग्गवदी होहि, ज पच्चुत्तरेण णिज्जिदो तुए दुम्मुहो कीरो। [सखि सारिके ! सौभाग्यवती भव, यत्प्रत्युत्तरेण निर्जितस्त्वया दुर्मुख कीर] ॥१९१॥

ललिता—अरे चाण्डाल शुक ! तुम्हारा यह शरीर, रूप, चन्द्रमा प्रचण्ड बाजपक्षी की चोचरूप राहु का अतिथि जा बने। (अर्थात् तुम्हें बाज पक्षी निगल जाए) ॥१८७॥

श्रीकृष्ण—मधुमङ्गल ! शीघ्र इस शुकपक्षी को पके हुए अनार के दाने डाल दो ॥१८८॥

मधुमङ्गल—हे वृन्दावन वृहस्पति ! अनार के दानो की अपेक्षा भी अति सुन्दर कान्तिशाली ललिता के दान्त तुम्हें ला दूगा ॥१८६॥

(पर्दे के पीछे से सारिका की आवाज आती है)

अरे चञ्चल शुक ! तुम्हारा स्वामी श्रीकृष्ण रक्त सध्या की भाति क्षण मात्र अनुराग प्रकाश किया करता है, किन्तु श्रीराधा नवनीत की पुतली की भाति सर्वदा स्नेह ही धारण करती है ॥१९०॥

ललिता—(आनन्द सहित) सखि सारिके ! सौभाग्यवती हो, क्योंकि तुमने आज प्रत्युत्तर देकर इस दुर्मुख शुक को पराजित कर दिया है॥१९१॥

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्) ध्रुवं वृन्दयेदमध्यापितकौशलं विहङ्गमयोर्द्वन्द्वम् ॥१९२॥

मधुमङ्गल—(सक्रोधम्)हञ्जे, भञ्जेमि दे तिक्खजप्पिणं चञ्चुपुडम्। [हञ्जे, भनज्मि ते तीक्ष्णजल्पिण चञ्चुपुटम्।] ॥१९३॥

(इति सव्याज दण्ड क्षिपति)

श्रीराधिका—हन्त, कध उड्डीणं वावदूअं विहङ्गमिहुणम्। [हन्त, कथमुड्डीन वावदूक विहङ्गमिथुनम्।]। १९४॥

श्रीकृष्ण—(राधामवेक्ष्य)

सेवन्ते तरुगेहिनः सुमनसां वृन्दैर्मधुस्यन्दिभि-
यैत्रोत्फुल्ललतावधूभिरभित सगत्य भृङ्गातिथीन्।
सवीता पशुभिस्तथा खगकुलै खेलद्भिरव्याहतं
न स्यात्कस्य सुकण्ठि सेयमधिकानन्दाय वृन्दाटवी? ॥ १९५

अथवा—

हरिणीर्विडम्बयति नेत्रखेलया ललितैर्लताधिककुलं कनोक्तिभि ।

श्रीकृष्ण—(अपने मन मे) निश्चय वृन्दा ने ही इन दोनो पक्षियो को इतनी निपुणता की शिक्षा दी है ॥१९२।

मधुमङ्गल—(क्रोध सहित) अरी दासी ! कटुवचन बोलने वाली तेरी चोच को अभी तोडे देता हू (यह कहकर छलपूर्वक अपनी लाठी को फेंकता है) ॥१९३॥

श्रीराधिका—हाय प्यारा बोलने वाले दोनो पक्षी क्यो उड गये?१९४

श्रीकृष्ण—(श्रीराधे को देखकर) हे सुकण्ठि ! जिस वृन्दावन के वृक्षरूप ग्रहस्थजन लतारूपी वन्धुओ के साथ मिलकर पुष्पो मे चुचाने वाले मकरन्द से भवररूपी अतिथियो की सेवा किया करते हैं और जिन पर सब पशु-पक्षी स्वच्छन्द रूप से सर्वदा विहार करते हैं, वह श्रीवृन्दावन किस का आनन्द वर्धन नही करता है ? ॥१९५॥

अथवा—तुम्हारे आगे इस श्रीवृन्दावन की शोभा वर्णन करने का कोई प्रयोजन नही है, क्योकि तुम अपने नेत्रो द्वारा हरिणियों को लज्जित करने वाली हो, तुम्हारे मनोहर अङ्गों को देखकर लताएं पराजित होती

शिखिनश्च कुन्तलकलापविभ्रमैरिनि ते पुर किमिव मे वनश्रिया? ॥१९६

वृन्दा—पश्य पश्य,

विरतोर्मिरिय सुनीरजा धृतशुद्धोज्ज्वलसत्वसतति ।
स्फुटकृष्णरुचिर्महाद्दता मुनीगोष्ठीव चकास्ति भानुजा ॥१९७॥४०

कृष्ण —प्रिये, पश्य पश्य,

स्मितरुचिविराजित ते मुखमिव नीराजयत्यधोराशि ।
नीरजवान्धवदुहितुर्नीरजराजी मरुद्भ्रमिता ॥१९८॥४१॥

वृन्दा—(परिक्रम्य नीरजान्याहृत्य च ।) पुण्डरीकाक्ष ! स्तोकोत्फुल्लमिद गृहाण लीलापुण्डरीकम् । तथावतसोचित कोकनदद्वन्द्वम् ॥१९९॥

श्रीकृष्ण —(सहर्षमादाय ।) वृन्दे ! रक्तोत्पले राधाकर्णयोराधानेन श्रिय लभेताम् । (इति तथाकृत्वा सकौतुकम्) हन्त, पुण्डरीककोषे चञ्चरीको वर्तते ॥२००॥

हैं तुम्हारी सुमधुर बोलिन कोकिलाओ के कुल को लज्जित करती है एव मोर केश-कलाप के सौष्ठव को देखकर अपने को तुच्छ ही मानते हैं। अतएव हे राधे ! तुम्हारे आगे किस की शोभा वर्णन की जा सकती है ? ॥१९६॥

वृन्दा—देखो, देखो, यह सूर्यकन्या यमुना तरङ्गो से रहित हो रह है और कमलो से अतिशय शोभित होकर शुद्ध सत्वोज्ज्वल श्री एव कृष्ण-वर्ण कान्ति धारण करते हुए मुनियो की मण्डली की तरह विराज रही है ॥१९७॥

श्रीकृष्ण—हे प्रिये देखो, देखो, अरविन्द बन्धु नन्दिनी (सूर्यकन्या-यमुना) की कमल श्रेणी वायु से आन्दोलित होकर तुम्हारे मुस्कान भरे मुख मण्डल की आरती उतार रही है ॥१९८॥

वृन्दा—(जाकर कुछ कमल ले आकर) हे कमलनयन ! यह अधखुले श्वेतवर्ण के लीला कमल तथा कर्णभूषण के योग्य ये दो लाल कमल ग्रहण कीजिए ॥१९९॥

श्रीकृष्ण—(हर्ष सहित लेते हुए) वृन्दे ये लाल कमल तो राधे के कानो मे विभूषित होकर विस्तार करें (ऐसा कहकर उन कमलो को

वृन्दा—

मधुप कमलेन सार्धमुद्यन्मकरन्देन मुकुन्दमाससाद ।
सरसेषु विनिर्मितो हि सङ्ग परमानन्दभरोन्नतिं तनोति ॥२०१॥४२॥

श्रीकृष्ण —प्रिय पश्य पश्य

अस्मिन्मदीयकरसङ्गिनि पुण्डरीक-
कोशे क्षण किल बिलम्ब्य शिलीमुखोऽयम् ।
कर्णावलम्बि तव कोकनद प्रपेदे
क वा बलान्न हि हरत्यनुरागलक्ष्मी ॥२०२॥४३॥

(राधिका सभ्रम नाटयन्ती भुजलता क्षिपति)

श्रीकृष्ण —(स्फुट विहस्य)

कर्णोत्त सितरक्तपङ्कजजुषो भृङ्गीपतेर्झङ्क्रिया-
च्छलेनाद्य दृगञ्चलेन दधती भृङ्गावलीविभ्रमम् ।

राधा के कानो मे अर्पण करते हुए आश्चर्य पूवक कहते है) आहा ! इस श्वेत कमल मे तो भ्रमर बैठा है ॥२००॥

वृन्दा—मकरन्द युक्त कमल के साथ मधुकर आज मुकुन्द को प्राप्त हुआ है, क्योकि रसशालि वस्तु (श्रीराधा) के साथ मिलन हुआ है न ! यह मिलन परमानन्द की आतिशयता की वृद्धि विस्तार करे ॥२०१॥

श्रीकृष्ण—हे प्रिय देखो, देखो—मेरे हाथ के श्वेतकमल मे यह मधुकर कुछ क्षण रहकर अब तुम्हारे कर्णभूषण लाल कमलो पर जा बैठा है अत अनुराग लक्ष्मी बलपूर्वक किसको नही आकर्षण करती ? वरन् सबको ही अपनी ओर आकर्षित करती है । २०२॥

(श्रीराधा सभ्रम पूर्वक भुजाओ को निक्षेप करने लगती है)

श्रीकृष्ण—(जोर से हसते हुए) हे राधे ! आज तुम कर्णभूषणो के रूप म धारण किये हुए लाल कमलो पर गुञ्जार करते हुए भवरो की ध्वनि से नेत्राचलो को भ्रात कर मधुकरवृन्द की भाति विभ्रम धारण कर रही हो, भयवश अपनी भुजलताओ को आन्दोलित करते हुए चूडियो की झकार

त्रासान्दोलितदोर्लतान्तविचलच्चूडाझणत्कारिणी
राधे व्याकुलतां गतापि भवती मोदं ममाधास्यति ॥२०३॥४४

श्रीराधिका—(सत्रासं चेलाञ्चलमुदञ्चयन्ती ।) कथं अज्जवि ण चलदि धिट्ठो ? [कथमद्यापि न चलति धृष्टः ?] ॥२०४॥

श्रीकृष्णः—
मधुराक्षि ! मुधात्र संभ्रमेण क्षिप चेलाञ्चलमञ्जसा न भूयः ।
पिबतु श्रवणोत्पलोद्गतं ते मधुपोऽयं मधुमङ्गलं कृशाङ्गि ॥२०५॥४५॥

मधुमङ्गलः—भो वअस्स ! कीस बम्हणं मं महुवेण पिवाएसि ? [भो वयस्य ! कस्माद्ब्राह्मणं मा मधुपेन पाययसि ?] (इति दण्डेन भ्रमरं ताडयति ।) ॥२०६॥

श्रीराधिका—(सश्लाघम् ।) अज्ज ! पिअंकरो ममासि संवुत्तो । [आर्य ! प्रियंकरो ममासि संवृत्तः ।] ॥२०७॥

मधुमङ्गलः—कहं महुसूअणो तक्कालं जेव्व तिरोहिदो, जं कुदो वि ण लक्खीअदि?। [कथ मधुसूदनस्तत्कालमेव तिरोहितः, यत्कुतोऽपि न लक्ष्यते?]

कर व्याकुलता को प्राप्त कर रही हो, तथापि मुझे अतिशय आनन्द प्रदान कर रही हो ॥२०३॥

श्रीराधिका—(भयपूर्वक वस्त्रांचल को निक्षेप करते हुए) अभी भी यह ढीठ भ्रमर क्यों नहीं जा रहा है ॥२०४॥

श्रीकृष्ण—हे मधुराक्षि आज भयभीत होकर तुम बार-बार अपने वस्त्रांचल को वृथा मत फेंको। हे कृशाङ्गि ! इस मधुकर को स्वच्छन्दरूप से अपने कर्णोत्पल के मधु-मङ्गल को (मङ्गलमय मकरन्द को) पान करने दो ॥२०५॥

मधुमङ्गल—हे सखे ! किस लिए मुझ ब्राह्मण को इस मधुप द्वारा पान (भोजन) करवाते हो ? (यह कहकर डण्डे द्वारा मधुकर को प्रहार करता है) ॥२०६॥

श्रीराधिका—(प्रशंसा करते हुए) आर्य ! आज तुम मुझे भी प्रिय लग रहे हो ॥२०७॥

मधुमङ्गल—यह क्या ! मधुसूदन अति शीघ्र कहां छिप गया ? वह

श्रीराधिका—(सव्यामोहम्) हद्धी हद्धी, कहिं गदो महुमहणो ? [हा धिक् हा धिक् । कुत्र गतो मधुमथन ।]

(इति सस्कृतेन)

समजनि दवाद्विग्नस्ताना किमार्तरवो गवा
मयि किमभवद्दं गुण्य वा निरङ्कुशमीक्षितम् ।
व्यरचि निभृत किं वा हूति कयाचिदभीष्टया
यदिह सहसा मामत्याक्षीद्वने वनजेक्षण. ॥२०९॥४६

(कृष्ण सज्ञया सर्वान्निवार्य स्मित करोति)

श्रीराधिका—हन्त हन्त, (सस्कृतेन ।)

वासन्तीभिरय न मे कचभर कसारिणोत्त सित-
स्तस्योरस्थलचुम्बिचम्पकमयैर्नागुम्फि माल्य मया ।
मल्लीभिश्च निरर्गल परिहसन्नाय वलात्ताडित
प्रारम्भेऽद्य वनोत्सवस्य विरहच्छ्द्मादय प्रोवगात् ॥२१०॥४७॥

तो अब कही नही दीखता है ॥२०८॥

श्रीराधिका—(व्याकुल होकर) हाय ! हाय !! कहा गये मधुसूदन ? क्या दावानल के भय से व्याकुल होकर गौओ ने आर्त्त ध्वनि की है ? या मेरे ही किसी निरकुश दोष को उन्होने देखा है ! अथवा कोई प्रियतमा से ही उन्हे सकेन देकर निभृत स्थान पर ल गई है वरना कमललोचन एकदम मुझे इस वन मे छोडकर क्यो चले गए हैं ? ॥२०९॥४६

(श्रीकृष्ण इशारे से सबको अपने बताने का रोककर हसते है)

श्रीराधिका—हाय ! हाय !! श्यामसुन्दर ने माधवी पुष्पो से मेरे केशपाशो को विभूषित न किया और न ही मैं चम्पक कलियो से उनके वक्षस्थल को चुम्बन करने वाली माला ही गूथ सकी । और स्वच्छन्द रूप से परिहास करते करते जोर से उनकी मल्लीपुष्प से ताडना भी न कर पाई । हाय ! आज वन विहार आरम्भ होने से पहले ही विरह के छल से दावानल आ उपस्थित हुई । २१०॥४७॥

वृन्दा—(अपवार्य।) काममन्धंकरणीयं प्रेमबन्धकन्दली या खलु विस्पष्टमपि नानुसंधापयति ।।२११।।

श्रीराधिका—(पुरो विलोक्य) सहि वुन्दे ! रक्खेहि ममं । (इति त्रासं नाटयन्ती ।)

सप्पी सप्पइ भिङ्गपन्तिमिसदो काली रसालंकुरे
रत्तासोअसिरे विरेहइ तधा पुप्फच्छलादो सिही ।
सिङ्गे केसुअसाहिणो अ कलिआदम्मेण संभेदिणो
मं भेत्तुं कुसुमाउहस्स वलइ क्कूराद्धचन्दाअली ॥

[सखि वृन्दे ! रक्ष माम् ।
सर्पी सर्पति भृङ्गपक्तिमिषतः काली रसालांकुरे
रक्ताशोकशिरसि विराजति तथा पुष्पच्छलाच्छिखी ।
शृङ्गे किंशुकशाखिनश्च कलिकादम्भेन संभेदिनी
मां भेत्तुं कुसुमायुधस्य वलते क्रूरार्धचन्द्रावली ।] ।।२१२।।४८

(इति वैवश्यं नाटयन्ति)

श्रीकृष्णः—(संभ्रमादभ्युपेत्य पाणि गृह्णन्नुच्चैः ।) सुकुमारि ! किमकाण्डे कातरासि ? यतः ।

वृन्दा—(हाथ की ओट में) प्रेमबन्धन का अंकुर अच्छी प्रकार अन्धा ही कर देता है, जिससे स्पष्ट रूप से दीखती हुई वस्तु को भी वह नहीं देखने देता ।।२११।।

श्रीराधिका—(सामने देखकर) हे सखिवृन्दे ! मेरी रक्षा करो। (यह कहकर भय प्रकाश करती हुई) यह देखो, कालरूपी कालीसर्पिणी मधुकर पंक्ति के छल से आम्र मुकुल की ओर जा रही है, अग्नि पुष्प बनकर अशोक वृक्ष के नवीन पल्लवों पर बैठ रहा है, और पलाश वृक्ष की कलिका के रूप में कंदर्प का मर्मभेदी क्रूर अर्द्धचन्द्रावली नामक अस्त्र मुझे फाड़ने के लिए दम्भपूर्वक जबरदस्ती कर रहा है ।।२१२।।४८।।

(यह कहकर बेसुध हो जाती है)

श्रीकृष्ण—(तत्काल निकट आकर श्रीराधा का हाथ पकड़कर उच्चस्वर से) हे सुकुमारि ! तुम बिना कारण इतनी व्याकुल क्यों हो ? जब

त्वमुखलक्ष्मीग्लपिता चन्द्रावलिरिह बिभेतिपूर्णापि ।
प्रणयान्धे तव कर्तुं किमर्धचन्द्रावली क्षमते? ॥२१३॥४९॥

श्रीराधिका—(सधैर्यं लज्जा नाटयन्ती स्वगतम् ।) कधं अच्छिलग्ग चेअ हारिदं मणन्ती खिण्णम्हि ? । [कथमक्षिलग्नमेव हारित मन्यमाना खिन्नास्मि ?]॥२१४॥

श्रीकृष्ण —प्रिये ! पश्य पश्य,

परिणतवबीजस्पर्धिदन्तोरुभास
कुसुममुपहसन्त्यास्तन्वि दन्तच्छदेन ।
फलविजयि कुचायास्त्वद्भुयाद्दाडिमीय
मृदुलपवनदोलादम्भत कम्पतेऽद्य ।२१५॥५०॥

वृन्दा—सखि राधे! निर्वर्णय तव कर्णिकोचितकोरक कर्णिकारममुम्।

श्रीराधिका—

णअकण्णिआरकुसुमे भसलो रसलोहणिच्चलो भोदि ।
[नवकर्णिकारकुसुमे भसलो रसलोभनिश्चलो भवति] ॥२१७॥

तुम्हारे मुख की शोभा को देखकर चन्द्रावलि भी भयभीत (ग्लानियुक्त) हो रही है, फिर हे प्रणयान्धे ! अर्द्ध चन्द्रावलि तुम्हारा क्या कर सकेगी ?॥२१३

श्रीराधिका—(धैर्यपूर्वक लज्जित होकर अपने मन ही मन मे) हाय! नेत्रों से लगी वस्तु को खोई हुई मानकर कैसे व्याकुल हो रही हूँ ? ॥२१४॥

श्रीकृष्ण—प्रिये देखो, देखो, तुम्हारे दाँतों की पंक्ति की शोभा को अपने पके हुए बीज या दानो की स्पर्द्धा—निन्दा करते हुए देखकर, एव तुम्हारे अधरोष्ठ द्वारा अपने फलो का परिहास होता जानकर तथा अपने फलो क शोभा को तुम्हारे उरोज युगल की शोभा द्वारा पराजित हुआ देखकर, हे कृशाङ्गि ! आज यह दाडिमी (अनार का वृक्ष) कोमल पवन से आन्दोलित होने के बहाने भयभीत होकर मानो काप रही है ॥२१५॥

वृन्दा—सखि राधे ! अपने कर्णभूषण योग्य कोरक (कलिका) श ली इस कलिका के वृक्ष को देखो ॥२१६॥

श्रीराधिका—नवीन कर्णिका-पुष्प पर रसलोभी भ्रमर निश्चल रूप से शोभित हो रहा है ॥२१७॥

श्रीकृष्णः—

काञ्चनमञ्चनिविष्टो रसराजोऽयं शरीरीव ॥२१८॥५१॥

श्रीराधिका—पेक्ख पेक्ख। [प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व।] (संस्कृतेन)

उद्धुरमरन्दमत्ता रुद्धे सारेण गन्धविसरेण।

इह सुन्दर मल्लिगणे रोलम्बा हन्त गुञ्जन्ति ॥२१९॥५२॥

(कृष्णः 'उद्धुरमरन्द–' इत्यादि पठति।)

वृन्दा—

पीतातिसूक्ष्मशिखरा चम्पककलिकेयमायताभाति ॥२२०॥

श्रीकृष्णः—

मानवतीहृन्मथनी हैमी कामस्य शक्तिरिव ॥२२१॥५३॥

मधुमङ्गलः—भो वअस्स, एसा कामस्स सत्ती ण होइ। पेक्ख, जडिला-खित्ता सा हरिआलगोरी लउडिआ। [भो वयस्य! एषा कामस्य शक्तिर्न भवति। पश्य, जटिलाक्षिप्ता सा हरितालगौरी लकुटिका।] ॥२२२॥

(प्रविश्य)

श्रीकृष्ण—स्वर्ण मंच पर बैठा हुआ यह रसराज ही मानो शरीर धारण कर रहा है ॥२१८॥

श्रीराधिका—देखो-देखो, अतिशय सुगन्ध विस्तार से अवरुद्ध करने वाले मनोहर मल्लिपुष्प पर मकरन्द में मस्त हुए सब मधुकर गुंजार कर रहे हैं ॥२१९॥

(श्रीकृष्ण—"उद्धुर मरन्द"—अर्थात् मकरन्द मत्त—इस पद को बार बार कहने लगते हैं।)

वृन्दा—पीत एवं सूक्ष्माग्रभाग वाली यह चम्पक कलि अत्यधिक शोभा पा रही है ॥२२०॥

श्रीकृष्ण—मानवती रमणी के हृदय को मन्थनकारी कन्दर्प की शक्ति की भांति—(शोभा पा रही है) ॥२२१॥

मधुमङ्गल—हे मित्र! यह कन्दर्प की शक्ति नहीं है। देख, जटिला द्वारा फेंकी हुई वह पीली—गोरी लकुटी है ॥२२२॥

जटिला—अरे जिम्ह बह्मण, एत्थ लगुडी मए विसुमरिदा ।
[अरे कुटिल ब्राह्मण ! अत्र लगुडी मया विस्मृता ।] ॥२२३॥

श्रीराधिका—(अपवार्य सभयम्) सहि! परित्ताहि, परित्ताहि, एसा कालरत्तीव्व दारुणा वुड्ढीआ मं दिट्ठवदी । [सखि ! परित्रायस्व परित्रायस्व। एषा कालरात्रीव दारुणा वृद्धा मा दृष्टवती ।] ॥२२४॥

(इति ललितावृन्दाभ्यां सह निष्कान्ता)

श्रीकृष्ण.—(अपवार्य ।)

मम संगमामृतरसं न जिघृक्षति न च जिहासति प्रकटम् ।
जटिलाव्याघ्रीचकिता तृषिता राधाकुरङ्गीयम् ॥२२५॥५७॥

मधुमङ्गल —भो सरमालाङ्गूलकुडिले ! घेप्प अप्पणो जट्ठिम् ।
[भो सरमालाङ्गूलकुटिले ! गृहाणात्मनो यष्टिम्] ॥२२६॥

जटिला—(यष्टिमादाय ।) अरे सुअल ! कीस तुमं वहूडिआवेसेण मं सदा विडम्बेसि ? [अरे सुअल ! कस्मात्त्वं वधूटिकावेशेन मां सदा विडम्बयसि ?] ॥२२७॥

(जटिला प्रवेश करती है)

जटिला—अरे कुटिल ब्राह्मण ! मैं यहाँ लाठी भूल गई थी ॥२२३॥

श्रीराधिका—(कानाफूमी करती हुई भयभीत होकर) सखि ! मेरी रक्षा करो, रक्षा करो। कालरात्रि की भाँति इस दारुण वृद्धा ने मुझे देख लिया है।।२२४॥

(ऐसा कहते हुए ललिता तथा वृन्दा के साथ श्रीराधा चली जाती हैं)

श्रीकृष्ण—(हाथ की ओट कर) जटिला रूपिणी व्याघ्री के भय से तृष्णाकुला राधारूपी हरिणी स्पष्ट रूप से मेरे सङ्गमरूप अमृत रस का न तो आस्वादन कर पाती है और न त्याग ही कर सकती है ॥२२५॥

मधुमङ्गल—अरी कुक्कुर-लाङ्गूलतुल्य कुटिले ! यह ले अपनी लाठी ॥

जटिला—(लाठी लेकर) अरे सुबल! किस लिए तू मुझे सदा वधू-वेश धारण कर धोका देता है ? ॥२२७॥

श्रीकृष्णः—(स्वगतम् ।) दिष्टया सुबलतया ज्ञातमभूत् । (प्रकाशम् सनर्मस्मितम् ।) जटिले ! गुरुभ्यः शपमानोऽस्मि, राधिकैव साधयति, न खल्वसौ सुबलः ॥२२८॥

जटिला– रे धुत्त ! विअक्खणाहं सव्वं परीक्खिदुं खमम्हि । ता अलं एत्थ ठग्गत्तणेण । [अरे धूर्त्त ! विचक्षणाहं सर्वं परीक्षितुं क्षमास्मि, तस्मादलमत्र ठगत्वेन] ॥२२९॥

(इति निष्क्रान्ता)

श्रीकृष्णः—सखे ! समागच्छ, गोकुलमेव प्रविशावः ॥२३०॥

(इति निष्क्रान्तौ)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति श्रीविदग्धमाधव-नाटके श्रीराधाप्रसादनो नाम पञ्चमोऽङ्कः ॥५॥

श्रीकृष्ण—(मन में) वाह ! कैसा सौभाग्य ! अब भी इसे राधा सुवल ही दिखाई दी है । (स्पष्ट परिहास पूर्वक हंसी करते हुए) जटिले ! मैं गुरुजनों की शपथ खाता हूँ, यह राधा ही जा रही है, सुबल नही है ॥२२८॥

जटिला—अरे धूर्त्त ! मैं चतुर हूँ, मैं सब की परीक्षा करना जानती हूं । बस मेरे सामने और धूर्त्तता मत करना ॥२२९॥

(यह कहकर चली जाती है)

श्रीकृष्ण—मित्र मधुमङ्गल ! आओ, हम गोकुल चलते हैं ॥२३०॥

(यह कहकर चले जाते है)

(इसके बाद सब चले जाते हैं)

इस प्रकार श्रीश्यामदासानुवादित श्रीविदग्धमाधव नाटक का 'राधाप्रसाद'—नामक पाचवाँ अंक समाप्त हुआ ॥५॥

षष्ठोऽङ्कः।

(ततः प्रविशति जटिला)

जटिला—सुदं मएजं अज्ज पीअपडेण किदुत्तरीआ बहू घिरे चिट्ठइ। ता गदुअ जहत्थं णिद्धारइस्सम्। (इति परिक्रम्य पश्यन्ती) कधं एसा विसाहा घुम्मिअ घुम्मिअ अलिन्दे पडई? ता सद्दाइस्सम्। (इत्युपसृत्य।) विसाहे! जादो एक्कपहरो, तहवि घुम्मसि? [श्रुतं मया यदद्य पीतपट्टेन कृतोत्तरीया वधूर्गृहे तिष्ठति। तद्गत्वा यथार्थं निर्धारयिष्यामि। कथमेषा विशाखा घूर्णित्वा घूर्णित्वा अलिन्दे पतति? तच्छब्दायिष्ये। विशाखे! जात एकप्रहरस्तथापि घूर्णसे?]॥१॥

(प्रविश्य)

विशाखा—(स्वगतम्) संपदं रासमहूसवगब्भासु सव्वरीसु कुदो णिद्दागन्धोवि अम्हाणम्? ता जुत्तं जेव्व घुम्मणम्। (इति हठाद्दृशौ विकाश्य

श्रीगौराङ्गविधुर्जयति

छठा अंक

[तब जटिला प्रवेश करती है]

जटिला—आज (पद्मा से) सुना है कि राधा पीतपट ओढकर घर में बैठी है, वहा जाकर सत्य-भूठ का निर्णय करती हूँ। (घूमकर देखती है) यह क्या? विशाखा घूम घूमकर द्वार-चौतरे पर पड़ी है। चलकर आवाज दू। (निकट आकर) विशाखे! एक पहर दिन चढ़ आया है, अभी तक तू सो रही है?॥१॥

(विशाखा प्रवेश करती है)

प्रकाशम् ।) अज्जे, अज्ज भअवदीए णिदेसेण देअदाअदणे अम्हे दिण्णजाअ-रम्ह । [सांप्रतं रासमहोत्सवगर्भासु शर्वरीषु कुतो निद्रागन्धोऽप्यस्माकम् । तद् युक्तमेव भ्रमणम् । आर्ये ! अद्य भगवत्या निदेशेन देवतायतने वयं दत्त-जागराः स्मः ।] ।।२।।

जटिला—(स्वगतम् ।) अदो जेव्व पदोसे बहूए सेज्जा सुण्णाआसि । (प्रकाशम् ।) विसाहे ! आआरेहि बहूअम् । [अत एव प्रदोषे वध्वाः शय्या शून्यासीद् । विशाखे ! आकारय वधूम् ।] ।।३।।

विशाखा—हला राहे ! इदो इदो । [हला राधे ! इत इतः]

(प्रविश्य)

श्रीराधा—(चक्षुषी विमृज्य सजृम्भम् ।) विसाहे वाढं णिद्दाउलम्हि । (इति दृष्टिं दरोद्घाटय सशङ्कं स्वगतम् ।) कधं इध ज्जेव अज्जा ।[विशाखे, वाढं निद्राकुलास्मि । कथमित एव आर्या] ।।४।।

जटिला—(राधां निर्वर्ण्य स्वगतम्) हद्धी, हद्धी सच्चं जेव्व एदं पीअम्ब-

---

विशाखा—(मन मन में) अब इन रासमहोत्सव प्रदान करने वाली रात्रियों में भला हमें निद्रा की गन्ध ही कहां प्राप्त होती है ? इसलिए सोते रहना ही उपयुक्त है । (यह कहकर एकदम नेत्र खोलते हुए स्पष्ट कहती है) हे आर्ये ! आज भगवती पौर्णमासी के आदेशानुसार देव-मन्दिर में मैंने जागरण किया है ।।२।।

जटिला—(मन में) इसीलिए ही आज संध्या के समय राधा की शय्या सूनी पड़ी थी । (स्पष्ट कहती है) विशाखे ! राधा को तो बुला ।।३।।

विशाखा—हे राधे ! इधर (देख) इधर ।।४।।

(श्रीराधा प्रवेश करती है)

श्रीराधिका—(आंखों को मलती एवं जम्हाई लेती हुई) विशाखे! मुझे बहुत नींद आ रही है । (यह कहते हुए जरा नेत्र खोलकर शंका सहित मन में कहती है) अरे यहां आर्या (जटिला) कैसे ? ।।५।।

जटिला—(श्रीराधा को देखकर, मन ही मन में) हाय धिक्कार !

रम् । [हा धिक् हा धिक्, सत्यमेवं पीताम्वरम् ।] ॥६॥

श्रीराधिका—(जनान्तिकम्) हला ! सुदं मए सारङ्गीमुहादो, जं णिसीधे वुड्ढिआए तस्सि विलासपुलिणे गदं आसि । ता णूणंअम्हे तत्थ दिट्ठम्ह । [हला ! श्रुतं मया सारङ्गीमुखात्निशीथे वृद्धया तस्मिन्इदंविला-संपुलिने गतमासीत् । तन्नुनं वयं तत्र दृष्टाः स्मः ।] ॥७॥

विशाखा—णहु णहु । जं कधिदं वुन्दाए तुमं घेत्तूण तिरोहिदे कण्हे तधा अम्हेसु दोसु सहीसु सपङ्कं चुइ उद्देसम्स गदासु एसा वुड्ढी उअत्थिदा । [न खलु न खलु । यत्कथित वृन्दया त्वा गृहीत्वा तिरोहिते कृष्णे तथा आवयोर्द्वयो. सख्योः सशङ्कं तवोद्देशाय गतयोः एषा वृद्धा उपस्थिता]॥८॥

श्रीराधिका—तदो कीस इअ कोअभअंकरीए दिट्ठीए मं पेक्खन्ती चिट्ठदि ? [ततः कस्मादिय कोपभयकर्या दृष्टया मा पश्यन्ती तिष्ठति] ॥६॥

जटिला—(सेर्ष्यम्) मिच्छाजप्पिणि विसाहे ! किं णाम अन्धासि तुमम् ? [मिथ्याजल्पिनि विशाखे ! किं नामअन्धासि त्वम् ?] ॥१०॥

धिक्कार ! यह तो सचमुच पीताम्बर ओढ़ रही है ।।६॥

श्रीराधिका—(कानाफूसी करते हुए) सखि ! मैं ने सारङ्गी के मुँह से सुना है कि वृद्धा (जटिला) आधी रात को उसी क्रीड़ा-पुलिन मे गई थी । इसलिए जान पड़ता है, उसने हमे निश्चय देख लिया है ॥७॥

विशाखा—न न ऐसी वात नही है, जैसा कि वृन्दा ने कहा है, तुम्हें लेकर श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने पर हम दो जनी और सखियाँ जब शङ्का-कुल होकर तुम्हे ढूण्ढने गई, उसके बाद वह वृद्धा वहा गई थी ।।८॥

श्रीराधिका—तब यह वृद्धा क्रोधपूर्वक आँखें फाडकर मेरी तरफ क्यों देख रही है ? ।।६॥

जटिला—(ईर्ष्या पूर्वक) अरी मिथ्यावादिनि विशाखे ! क्या तू अन्धी हो रही है ? ॥१०॥

विशाखा—(राधां विलोक्य सखेदं जानान्तिकम्) अइ विलासविम्हले! किं क्खु एदम्। (अयि विलासविह्वले ! किं खलु इदम् ?] ॥११॥

श्रीराधिका—(स्वं वक्षो निरीक्ष्य ससंभ्रमम् ।) हला ! तुमं ज्जेव्व सरणम्। [हला त्वमेव शरणम्] ॥१२॥

विशाखा—(जटिलामवेक्ष्य । संस्कृतेन)

मुदा क्षिप्तैः पर्वोत्तरलहृदयाभिर्युवतिभिः
पयः पूरैः पीतीकृतमतिहरिद्राद्रवमयैः।
दुकूलं दोर्मूलोपरि परिदधानां प्रियसखीं
कथं राधामार्ये कुटिलितदृगन्तं कलयसि ॥१३॥१॥

जटिला—(सविश्रम्भम्) विसाहे ! तुए ज्जेव्व चञ्चलाए मम पुत्तघरं विणासिदम्, जं जोव्वणन्धाणं गोइणं मज्झे वहूडिआ णिज्जइ। [विशाखे ! त्वयैव चञ्चलया मम पुत्रगृहं विनाशितम्, यद्यौवनान्धानां गोपीनां मध्ये वधूटिका नीयते ।] ॥१४॥

विशाखा—(श्रीराधा को देखती हुई दुखपूर्वक कान में धीरे से) अरी विलास-विह्वले ! यह क्या ? (पीताम्बर ओढ़ रही हैं ?) ॥११॥

श्रीराधिका—(अपने वक्षस्थल की ओर देखकर भयपूर्वक) खास ! अब तू ही मेरी रक्षा कर ॥१२॥

विशाखा—(जटिला की तरफ देखते हुए) आर्ये ! उत्सव के उपलक्ष्य में चंचल-चित्त रमणियों ने आनन्द में भरकर हल्दी आदि द्रव्य घुले जल को छिरका है, उसी से ही राधा के कन्धों पर पीला वस्त्र ओढ़े हुए तुम देख रही हो अतः तुम किस लिए प्रिय सखी राधा के प्रति कुटिल दृष्टि से देख रही हो? ॥१३॥

जटिला—(विश्वास करके) विशाखे ! तुम बड़ी चंचल हो। तुम ने मेरे बेटे का घर बिगाड़ रखा है। यौवन-मद में अन्धी हुई गोपियों में मेरी पुत्रवधू को क्यों ले जाती हो ? ॥१४॥

विशाखा—अज्जे ! किं त्ति म उवालहेसि । ण उवसण्णं दीअमालिआपव्वलच्छीं उवालहेहि, जाए सव्व आवालवुड्ढ गोउलं जेव्व उम्मादिदम् [आर्ये ! किमिति मामुपालभसे । एनमुपसन्ना दीपमालिका-पर्वलक्ष्मीमपालभस्व, यया सर्वमाबालवृद्ध गोकुलमेवोन्मादितम् ।] ॥१५॥

जटिला—वच्छे, सच्चं भहेसि । अज्ज रत्तिम्मि दिट्ठं मए सव्वाओ गोउलकिसोरीओ तत्थ पुलिणे उम्मत्तीभविअ किंमि किंपि चेट्ठन्दि । [वत्से ! सत्य कथयसि । अद्य रात्रौ दृष्ट मया सर्वा गोकुलकिशोर्यस्तत्र पुलिने उन्मत्तीभूय किमपि किमपि चेष्टन्ते ।] ॥१६॥

(विशाखा सदृग्भङ्ग राधिकामीक्षते)

जटिला—(सदैन्यम्) अइ विसाहे ! पसीद पसीद । एसा अङ्गुलिसिहरं मुहे णिक्खविअ अब्भत्थेमि । ता मइ एक्क अणुग्गहं करेहि । [अयि विशाखे ! प्रसीद प्रसीद । एषा अङ्गुलिशिखर मुखे निक्षिप्य अभ्यर्थयामि । तन्मय्येकमनुग्रह कुरु ।] ॥१७॥

विशाखा—(सप्रश्रयम् ।) अज्जे ! किं त्ति एव्व भणासि ? णिकाम आणवेहि । [आर्ये ! किमित्येव भणसि ? निकाममाज्ञापय] ॥१८॥

विशाखा—आर्ये ! मुझे क्यों दोष दे रही हो ? इस निकटवर्त्ती दीपराधिका उत्सव की शोभा को निन्दा कर, जिसके लिए बच्चे से लेकर बूढो तक सभी गोकुल ही उनमत्त हो रहा है ॥१५॥

जटिला—बेटी तू सत्य कहती है । मैं ने भी देखा, आज रात कर गोकुल की सब युवतियाँ उन्मत्त होकर पुलिन मे इधर उधर भ्रमण कर रही थी ॥१६॥

(विशाखा नेत्र-भङ्गी से राधिका की ओर देखती है)

जटिला—(दीनतापूर्वक) विशाखे ! प्रसन्न रहो, खुश रहो । देख मैं मुह मे अगुली डालकर तुम्हारे प्रति एक प्रार्थना करती हू । तुम मुझ पर एक अनुग्रह करो ॥१७।

विशाखा—(आदरपूर्वक) आर्ये ! ऐसा क्यों करती हो ? जो इच्छा हो आज्ञा करो न ॥१८॥

जटिला—वच्छे ! तुमं विसुद्धासि । ता कण्हस्सहत्थादो रक्खेहि वहूडिअम् । [वत्से ! त्वं विशुद्धासि । तत्कृष्णस्यहस्तात् रक्ष वधूटिकाम्]॥१९

विशाखा—अज्जे ! णिच्चिन्ता होहि, जं ललिदा क्खु एत्थ दक्खा विअक्खणा अ [आर्ये! निश्चिन्ता भव, यल्ललिता खल्वत्र दक्षा विचक्षणा च]

जटिला—कहिं गदा ललिदा ? [कुत्र गता ललिता?] ।।२१॥

विशाखा—पेक्ख, पउमाए समं इदो जेव्व एसा आअच्छदि । [प्रेक्षस्व ! पद्मया सममित एवैषा आगच्छति ।] ॥२२॥

जटिला—अहं उप्पलिआनिप्पादणस्स गमिस्सम् । [अहमुत्पलिकानिष्पादनाय गमिष्यामि ।] (इति निष्क्रान्ता ।) ॥२३॥

(प्रविश्य पद्मया सह)

ललिता—सहि पउमे! कुदो आअच्छसि [सखि पद्मे, कुत आगच्छसि?

पद्मा—हला! कण्हस्स सआसादो । [हला कृष्णस्य सकाशात् ।]॥२५

जटिला—देख बेटी ! तुम अति निर्मल-चरित्रा हो । इसलिए कृष्ण के हाथ से मेरी इस पुत्रवधू की तू रक्षा कर ।।१९।।

विशाखा—आर्ये ! तुम निश्चिन्त रहो । इस विषय में निश्चय ही ललिता बड़ी चतुर व होशियार है ।।२०।।

जटिला—ललिता कहां गई है ? ।।२१।।

विशाखा—देखो, पद्मा के साथ अभी ललिता आती होगी ।।२२।।

जटिला—अच्छा, मैं ऊपले थापने जा रही हूं ।।२३।।

(ललिता पद्मा के साथ प्रवेश करती है)

ललिता—सखि पद्मा ! कहां से आ रही हो ? ।।२४।।

पद्मा—सखि ! श्रीकृष्ण के पास से ।।२५।।

ललिता—कहिं कण्हो ? [कुत्र इदानीं कृष्ण] ॥२६॥

पद्मा—मालदीवाटिआपेरन्ते । [मालतीवाटिकाप्रान्ते] ॥२७॥

ललिता—किं कुणदि । [किं करोति ?] ॥२८॥

पद्मा—महुमङ्गलदुदिओ विहरदि । [मधुमङ्गलद्वितीयो विहरति] २९

ललिता—(सपरिहासस्मितम्) हला ! किं णाम सपूरिदाहिट्ठासि ? [हला ! किं नाम सपूरिताभीष्टासि ?] ॥३०॥

पद्मा—(विहस्य) मा अण्णधा सभावेहि । मए मालदीसेहरो एक्को गण्ठिअ तस्स उवहारीकिदो (स्मृतिमभिनीय) हला, कधिद मे कण्हेण—'पउमे ! तुम जधा सनद माल समप्पेसि, एव्व ललिदावि मे विचित्तधादुलच्छीम् । ता एसा मे लेहपत्तिआ तुए तिस्सा हत्थे देआ' त्ति । [मा अन्यथा सभावय । मया मालतीशेखर एको ग्रथित्वा तस्योपहारीकृत हला ! कथित मे कृष्णेन— पद्मे त्व यथा सतत माला समर्पयसि, एव ललितापि मे विचित्रधातुलक्ष्मीम् । तदेषा मम लेखपत्रिका त्वया तस्या हस्ते देया' इति] (इति पत्रिकामर्पयति) ॥३१॥

ललिता—कहा हैं श्रीकृष्ण अब ? ॥२६॥

पद्मा—मालती वन मे ॥२७॥

ललिता—क्या कर रहे हैं ? ॥२८॥

पद्मा—मधुमङ्गल के साथ खेल रहे हैं ॥२९॥

ललिता—(मुस्कान सहित दिल्लगी करते हुए) सखि ! तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण हो गई है क्या ? ॥३०॥

पद्मा—(हसकर)मन मे कुछ और मत लाना, मैं ने मालती की एक माला गू थकर उन्हे उपहार म दी है। (इतना कहकर स्मरण करते हुए) सखि ! मुझे श्रीकृष्ण ने कहा—पद्मे ! तुम जैसे मुझे नित्य माला अर्पण करती हो, उसी प्रकार ललिता भी गैरिकादि धातुओ से मेरी चित्र-विचित्र

ललिता—(गृहीत्वा स्वगतम्।) कदावि कण्हस्स मए ढाउराओ ण समप्पिदोत्थि। ता एत्थ अवरेण केणावि रहस्सेण होदव्वम्। [कदापि कृष्णस्य मया धातुरागो न समर्पितोऽस्ति। तदत्रापरेण केनापि रहस्येन भवितव्यम्। एवं सङ्केतेनानेनाज्ञप्तम्। सखि, तथा करिष्यामि। तदग्रतो राधिकामापृच्छ्य साधय।] ॥३२॥

(इति प्रकाशं पत्रिकां वाचयति।)

'त्वया मुक्तगिरिः पाणौ ममातुच्छपदस्थितिः।
निधीयतामधीराक्षि रागिधातुपरिच्छदः ॥३३॥१॥

इति क्षण विमृश्य स्वगतम्) राधा मम पाणौ निधीयाताम्—एवं संकेतेण इमिणा आणत्तम्। (प्रकाशम्) सहि तधा करिस्सम्। ता अग्गदो राहिअं आपुच्छिअ साहेहि ॥३४।

शोभा सजाती है। इसलिए मेरी यह एक पत्रिका उसे दे देना।" (यह कह कर पद्मा ललिता के हाथ मे पत्रिका देती है) ॥३१॥

ललिता—(पत्रिका लेकर मन ही मन मे) मैं ने तो कभी श्रीकृष्ण के अङ्गो पर धातु-राग नही किया है, इस बात मे कोई रहस्य जान पड़ता है ॥

(यह सोचकर स्पष्टतः पत्रिका पढती है)

हे चञ्चलनेत्रे (ललिते) मेरे हाथ में रागिधातु-परिच्छद अर्थात् पर्वत के शिखर पर स्थित लाल रग की धातु से(रंगी) पोशाक समर्पण कर ॥३३

(पत्र को पढ़कर एक क्षण सोचने के बाद ललिता समझ गई कि) 'मेरे हाथ मे श्रीराधा को अर्पण कर?[1] -इस बात की सकेतपूर्वक मुझे आज्ञा की है। (स्पष्टतः बोली) सखि! ऐसा ही करूँगी। पहले श्रीराधा को पूछकर वैसा करूँगी ॥३४॥

---

१. [श्री कृष्ण ने पत्र मे लिखा था—हे चञ्चलनेत्रे ललिते ! मेरे हाथ रागिधातुपरिच्छद को अर्पण कर, किन्तु गिरि को छोड़कर तथा अतुच्छपद स्थिति अर्थात् जिसमें तुच्छपद नहीं है। तात्पर्य यह है कि रागिधातु परिच्छद शब्द मे गि, री, तु, च्छ, प, द इनको निकाल देने से केवल राधा शब्द ही रह जाता है। अतः श्रीकृष्ण ने लिखा था कि मेरे हाथ मे तू राधा को अर्पण कर]

पद्मा—(राधिकामुपेत्य सनर्मस्मितम्) हला राहे! दिट्ठिआ णिव्विवादं जादम्। जधा गोउलिन्दणन्दणेण अम्हाणं अंसुआइं अवहरिदाइं, तधा अम्हेहिं तस्स इदं पीदंसुअम् ॥३५॥

ललिता—(स्मित्वा) अइ णिल्लज्जे! कुङ्कुमपङ्कपिञ्जरिदं पिअसहीए उत्तरीअं पेक्खिअं किं त्ति अणत्थं आसङ्कसि? [अयि निर्लज्जे! कुङ्कुमपङ्क-पिञ्जरितं प्रियसख्या उत्तरीयं प्रेक्ष्य किमित्यनर्थं आशङ्कसि?] ॥३६॥

पद्मा—(सस्मितम्) हला राहे! अणुजाणेहि मम्। तुरिअं सहित्थलीं गदुअ कण्हस्स लीलं गाअन्ती पिअसहीं चन्दाअलिं सुहावइस्सम् [हला राधे! अनुजानीहि माम्। त्वरितं सखीस्थली गत्वा कृष्णस्य लीलां गायन्ती प्रियसखी चन्द्रावली सुखयिष्यामि] ॥३७॥

विशाखा—(विहस्य) पउमे, धण्णाओ तुम्हे। जाहिं अदंसणे वि कण्हस्स विलासगीदिहिं पिअसही चन्दाअली सुहावीअदि [पद्मे! धन्या यूयम्। याभिरदर्शनेऽपि कृष्णस्य विलासगीतिभिः प्रियसखी चन्द्रावली सुखाप्यते।] ॥३८॥

पद्मा—(श्रीराधा के पास आकर दिल्लगीपूर्वक मुस्कराते हुए) सखि राधे! दैवयोग से विवाद मिट गया है। गोकलेन्द्रनन्दन ने जैसे हमारे वस्त्र हरण कर लिए थे, उसी प्रकार आज हमने भी उनका पीताम्बर हरण कर लिया है ॥३५॥

ललिता—अरी निर्लज्ज! प्रिय सखी राधा के केसर रंजित पीत वस्त्र को देखकर क्यों अनर्थ (अर्थात् कृष्ण संगम चिह्न) की आशंका रहती कर रही हो? ॥३६॥

पद्मा—(मुस्कराते हुए) हे राधे! मुझे आज्ञा दो तो शीघ्र सखीस्थल गाँव में जाकर कृष्णलीला गान-परायण प्रिय सखी चन्द्रावली को सुखी करूँ ॥३७।

विशाखा—(हंसकर) हे पद्मे! तुम धन्य हो, जो श्रीकृष्ण के दर्शन प्राप्त न होने पर भी तुम श्रीकृष्ण की लीला गान कर चन्द्रावली को सुखी करती रहती हो ॥३८॥

पद्मा—विसाहे! तुम्हेहिं कीस तधा ण क्रिज्जइ? [विशाखे! युष्माभिः कस्मात्तथा न क्रियते ?] ॥३९॥

विशाखा—अइ कुदो अम्हाणं इदिसं भाअधेअम् ? [अयि! कुतोऽस्माकमीदृशं भागधेयम्] ॥४०॥

पद्मा—हला कधं णत्थि [हला ! कथं नास्ति ?] ॥४१॥

विशाखा—मुद्धे, कण्हस्स णाममेत्ते पत्थुदे सही राहिआ विक्खुब्भादि! [मुग्धे ! कृष्णस्य नाममात्रे प्रस्तुते सखी राधिका विक्षुभ्यति] ॥४२॥

पद्मा—(स्वगतम्) सपक्खे पेम्मुक्करिसो इमाए विक्खाविदो होदु। (प्रकाशम् ।) विसाहे ! तुम्हे जेव्व सुट्ठु सुहिणीओ। अम्हाणं क्खु कावि दुक्खदसा अणुवट्टदि ।[स्वपक्षे प्रेमोत्कर्षोऽनया विख्यापितः । भवतु । विशाखे, यूयमेव सुष्ठु सुखिन्यः । अस्माकं खलु कापि दुःखदशा अनुवर्तते ।] ॥४३॥

ललिता—पउमे ण क्खु तुम्हाणं किंवि दुक्खं संभावअदि । [पद्मे, न खलु युष्माकं किमपि दुःखं संभाव्यते ।] ॥४४॥

पद्मा—ललिदे ! मा एव्वं भण । जं हारगण्ठण-केसप्पसाहणबिम्बा-

पद्मा—विशाखे ! तुम भी ऐसा क्यों नही करती हो ? ॥३९॥

विशाखा—सखि ! हमारे ऐसे भाग्य कहाँ ? ॥४०॥

पद्मा—अरी ! क्यों नही है ? ॥४१॥

विशाखा—अरी मुग्धे ! यहां तो कृष्ण का नाम मात्र लेने पर ही हमारी सखी राधा क्षुब्ध हो उठती है । (लीलागान सुनना तो दूर रहा)

पद्मा—(मन में) ये तो अपने पक्ष का प्रेमोत्कर्ष ही वर्णन करती हैं, ठीक है । (स्पष्ट कहती है) विशाखे ! तुम ही यथार्थ में सुखी हो । हमारे लिए न जाने कैसा दुख पैदा हुआ है ॥४३॥

ललिता—पद्मे! तुम्हारे लिए तो हमें कोई भी दुख की सम्भावना नही दीखती है ॥४४॥

पद्मा—ललिते! ऐसा मत कहो । चन्द्रावली के लिए हर समय माला-

हररञ्जणपहुदीहिं चन्दाअलीए णेवच्छइं सव्वदा कुणन्तीणं अम्हाण दुक्ख-जालस्य अन्तो णत्थि [ललिते! मैव भण। यतुहारग्रन्थन-केशप्रसाधन-बिम्बाधर-रञ्जन प्रभृतिभिश्चन्द्रावल्या नेपथ्यानि सर्वदा कुर्वन्तीनामस्माक दुःख-जालस्यान्तो नास्ति] ॥४५॥

विशाखा—(विहस्य।) हला पउमे, सच्च तुम्हाणं बहूइं दुक्खाइं। अम्हाण उण एक्क जेव्व [हला पद्मे! सत्य युष्माक बहूनि दुःखानि। अस्माक पुनरेकमेव।]॥४६॥

पद्मा—हला किं तम् [हला! किं तत्] ॥४७॥

विशाखा—पउमे! जा कावि मच्चुदुल्लहा आआसतारा पप्फुरदि, तत्थ जादाहिलासस्स कस्स वि कालिन्दीकूलणन्दिणो समदस्स गन्धकलहिन्दस्स सव्वदा अब्भत्थणकदत्थणम्। [पद्मे! या कापि मर्त्यदुर्लभा आकाशतारा

गुन्थन, केश-सस्कार, बिम्बाधर-रजन इत्यादि करते करते तो हमारे दुख का कभी अन्त ही नही हो पाता। (अर्थात् चन्द्रावली तो इतनी सौभाग्य-शाली है कि एक दिन मे ही कई बार उसे श्रीकृष्ण-मिलन प्राप्त होता है। इसलिए हमे बारम्बार उसका शृ गार करना पडता है। किन्तु तुम्हारी सखी राधा को तो कभी कभी ऐसा सौभाग्य मिलता है, और तुमको भी कभी कभी ऐसा परिश्रम करना पडता है। अत हमारे दुख की क्या सीमा?)

विशाखा—(हसकर) सखि पद्मे! सचमुच तुम्हे बहुत से कष्ट है, हमे तो केवल एक दुख है ॥४६॥

पद्मा—सखि! वह क्या? ॥४७॥

विशाखा—पद्मे! इस जगत् मे अति दुर्लभ अनिर्वचनीय आकाश का तारा स्फुरित हो रहा है। उसे प्राप्त करने के लिए कोई एक कालिन्दी कूल विहारी उन्मत्त हस्तिशावक लालायित होकर सदा सदा हमारी प्रार्थना करता रहता है, यह एक हमे बडा दुख लगता है। (अर्थात् तुम्हारी प्रिय सखी चन्द्रावली से दिन मे अनेक बार ही श्रीकृष्ण का मिलन होता है, होता होगा, परन्तु हमारी प्रिय सखी श्रीराधा, तो श्रीकृष्ण के लिए एक आकाश के तारे की तरह सुदुर्लभ है, उसमे साक्षात् मिलन की प्रार्थना पर

प्रस्फुरति, तत्र जाताभिलाषस्य कस्यापि कालिन्दीकूलनन्दिनः समदस्य गन्धकलभेन्द्रस्य सर्वदाअभ्यर्थनकदर्थनम्] ॥४८॥

ललिता—(स्मित्वा ।) विसाहे अण्णं एक्कं गरुअं दुक्खं तुए कधं विसुमरिदम् ? [विशाखे ! अन्यदप्येकं गुरुकं दुःखं त्वया कथं विस्मृतम् ?]

विशाखा—ललिदे ! किं तं सुमरावेहि [ललिते ! किं तत्स्मारय।]

ललिता—अइ उज्जुए ! राहाए पाअपल्लअम्मि जावअराअस्स खणे खणे विरअणम् [अयि ऋजुके ! राधायाः पादपल्लवे यावकरागस्य क्षणे विरचनम् ।] ॥५१॥

विशाखा—(सहासम्) अलिआसङ्किणि ललिदे ! विरमेहि विरमेहि । कण्हस्स उत्तमङ्गे धाउणं राओ जेव्व रेहदि, ण क्खु जावआणम् । [अलिकाशङ्किनि ललिते! विरम विरम । कृष्णस्योत्तमाङ्गे धातुनांराग एव राजते, न खलु यावकानाम् ।] ॥५२॥

भी श्रीकृष्ण के लिए दुर्लभ है । इसलिए हमे प्रिय राधा की सखी जानकर बार बार श्रीकृष्ण जो हमें श्रीराधा को मिलाने की प्रार्थना करते रहते है, यही हमे बहुत अखड़ता है और दुख देता है ॥४८॥

ललिता—(हसते हुए) हे विशाखे ! और एक जो बहुत बड़ा दुख है, उसे क्यों भूल रही हो ? ॥४६॥

विशाखा—ललिते ! वह क्या ? मुझे याद दिला दो न ॥५०॥

ललिता—अरी सरल स्वभावे ! राधा के चरण कमलों मे बार-बार अलक्तक (महावर) लगाना । (अर्थात् हर समय श्रीकृष्ण राधा को रिझाने के लिए उसके चरणों में पड़ते हैं, उससे श्रीराधा के चरणों में लगी महावर उत्तर जाती है और हमें ही उसे बार-बार लगाना पड़ता है—इस दुख को तू क्यों भूल रही है ? ॥५१॥

विशाखा—(हंसते हुए) अरी मिथ्याशङ्किनि ललिते ! चुप रहो, चुप; श्रीकृष्ण के सिर पर धातुराग लगा रहता है, महावर नही होती ॥५२॥

श्रीराधिका—(सलज्जम्) हला पउमे ! इमाण दुम्मुहीण पलावं अणाण्णिअ तुण्ण पिअसहीं चन्द्राअलिअ जेव्व जाहि। [हला पद्मे ! आसां दुर्मुखीनां प्रलापमनाकर्ण्य तूर्णं प्रियसखी चन्द्रावलीमेव याहि] ॥५३॥

पद्मा—जधा आदिसदि पिअसही। [यथा आदिशति प्रियसखी। (इति निष्क्रान्ता।) ॥५४॥

ललिता—(स्वगतम्।) एण्हि कण्हस्स आण्ण करिस्सम्। (प्रकाशम्।) हला राहे ! एहि। पुप्फ अवचिणिअ भअवन्त सूर पूएम्ह। [इदानी कृष्णस्याज्ञा करिष्यामि। हला राधे, एहि पुष्पमवचित्य भगवन्त सूर्यं पूजयाम]

श्रीराधिका—(स्वगतम्।) दिट्ठिआ हिअअट्ठिदो जेव्व मे कामो इमाए उवणीदो, ज कण्हस्स दसण एत्थ सभवे। (प्रकाशम्।) जधाहिरोअदि पिअसहीए। [दिष्टया हृदयस्थित एव मे कामोऽनयोपनीत यत्कृष्णस्य दर्शनमत्र सभवेत्। यथाभिरोचते प्रियसख्यै] (इति निष्क्रान्ता।) ॥५६।

(तत प्रविशति मधुमङ्गलेनोपास्यमान कृष्ण)

श्रीराधिका—(लज्जा सहित) सखि पद्मे ! तू इन दुर्मुखी सखियो के प्रलाप-वचनो को मत सुन। शीघ्र अपनी प्रिय सखी चन्द्रावली के पास चली जा ॥५३॥

पद्मा—हे प्रिय सखि ! जैसी आपकी आज्ञा ॥ (इतना कहकर चली जाती है) ॥५४॥

ललिता—(अपने मन मे) अब श्रीकृष्ण की आज्ञा का पालन करती हूँ। (स्पष्ट कहती है) हे राधे ! आओ, फूल चुन कर भगवान् सूर्यदेव की पूजा करेंगी ॥५५॥

श्रीराधिका—(मन मे) कैसे सोभाग्य की बात है, ललिता ने मेरे मन के भाव को जान लिया है। वहा पर श्रीकृष्ण के दर्शन होगे। (स्पष्ट कहती है) सखि ललिते ! जैसे तुम्हारी इच्छा हो ॥ (ऐसा कहकर चली जाती है)

[तत्पश्चात्‌ मधुमङ्गल द्वारा उपास्यमान श्रीकृष्ण वहा प्रवेश करते हैं]

श्रीकृष्ण:—

नवस्तवकवल्लरीचटुलगन्धबन्दीकृत-
भ्रमद्भ्रमरझंकृतिप्लुतमुदग्रगुञ्जार्बुदम् ।
शरत्कृशकलिन्दजापुलिनवृन्दसंवर्धितं,
परिस्फुरति चन्द्रकस्थगितमद्य वृन्दावनम् ॥५७॥ ३॥

(पुनर्निरूप्य सानन्दम् ।)

शरदि मुखरिताशास्तारनादावलीभि--
र्वलदविचलनेत्राः पश्य वृन्दावनेऽद्य ।
विदधति रणरङ्गं वासितासङ्गहेतोः
सरभसगुरुशृङ्गं सङ्गवे पुंगवेन्द्राः ॥५८॥४॥

मधुमङ्गल:—(सर्वतो विलोक्य ।)

तुह संगमेण णूणं, मुउन्द वुन्दाडई घणच्छाआ ।
एअ दम्मेण कुरण्डअ-भरस्स पीवम्बरं धरइ ॥

श्रीकृष्ण—हे सखे ! देखो तो आज मयूरपिच्छों से व्याप्त श्रीवृन्दावन की कैसी शोभा है ! नवीन पुष्प गुच्छों सहित लताओं की मनोहर सौरभ छा रही है भ्रान्त भ्रमरगण स्थिर होकर गुंजार कर रहे हैं, असंख्य पुष्प गुञ्ज प्रफुल्लित हो उठे हैं, शरद्काल की कृशता के कारण यमुना अपने पुलिनों की शोभा सम्वर्धन कर रही है ॥५७॥३॥

(फिर देखकर आनन्द सहित कहते हैं)

मधुमङ्गल—देखो, शरद्काल के आज पूर्वाह्न समय में श्रीवृन्दावन के सब वनतान वैल उच्च स्वर करते हुए दिशाओं को पूरित कर रहे हैं। ऋतुमती गौओं का सङ्गम करने के लिए टिकटकी बाँधकर ऊँचे-ऊँचे शृंगों से परस्पर युद्ध कर रहे हैं। ५८॥४॥

मधुमङ्गल—(चारों ओर देखकर) हे मुकुन्द ! देखो, तुम्हारे सङ्गम के लिए मेघ-कान्ति हो इस वृन्दाटवी ना छद्मरूप धारण कर कटसरैया

[तव सगमेन नून, मुकुन्द वृन्दाटवी घनच्छाया ।
पश्य दम्भेन कुरण्टकभरस्य पीताम्बर धरति ।।]।।५९।।५।।

कृष्ण —(स्वगतम्) किमद्य निटङ्कितसकेतलेखार्थया पूर्णमनोरथी-करिष्येऽह ललितया ? हन्त, शारदमाधुरीसन्दोहसन्दानितापि वृन्दाटवीकक्षा खञ्जनाक्षीविप्रकर्षादानन्दबिन्दुमपि न मे सन्दधाति। तद्वंशसकेत सचारयामि। (इति तथा कुर्वन्) ।।६०।।

दिव्यो रथाङ्गि समय सखि सगमस्य,
जज्ञे वराङ्गि तरसा कुरु पक्षपातम् ।
अध्वानमर्धनयनेन विलोकमान ,
शोकादय सहचरस्तव रौरवीति ।।६१।।६।।

मधुमङ्गल —(विहस्य) भो वअस्स ! किं एदं अपुव्वं वादिदम् ?
[भो वयस्य ! किमेदतपूर्वं वादितम् ?] ।।६२।।

श्रीकृष्ण —सखे ! कुरङ्गीलोकनार्थं ममायमुद्यम ।।६३।।

(सितिवार) के फूलो का मानो पीताम्बर ही ओढ रही है ।।५९।।५।।

श्रीकृष्ण —(मन-मन मे) ललिता क्या आज मेरे सकेतार्थ युक्त पत्र का अभिप्राय जानकर मेरे मनोरथ को पूर्ण करेगी ? हाय ! खञ्जननैयनी श्री-राधिका के विरह म यह शारदकालीन माधुरी-समूह से परिपूर्ण वृन्दावन भी मुझे एक बिन्दु मात्र भी आनन्द प्रदान नही कर रहा है । इसलिए वशी के द्वारा सकेत करता हू । (यह सोचकर वशी ध्वनि करते हैं) ।।६०।।

हे सखि चक्रवाकि ! सङ्गम का यह समय उपस्थित है । हे वराङ्गि ! शीघ्र अनुकूलता प्रदान कर । व्याकुल होकर तुम्हारा यह सखा अधखुले नेत्रो से तुम्हारी बाट देखते हुए जोर से रो रहा है ।।६१।।६।।

मधुमङ्गल—(हसकर) हे सखे ! यह कैसी अपूर्व ध्वनि की है? ।।६२।।

श्रीकृष्ण—हे मित्र ! हरिणि को देखने के लिए मैंने यह उद्यम किया है ।।६३।।

मधुमङ्गल:—सच्चं क्खु कधिदम्। किं तु उक्कं अक्खरं अण्णघा किअम्। [सत्यं कथितम् । किं त्वेकमक्षरमन्यथा कृतम् ।] ॥६४॥

श्रीकृष्ण:—सखे साधु विदितं कुरङ्गीलोकनार्थमेव ॥६५॥

(नेपथ्ये)

पिवन्तीनां वंशीरवमिह गवां कर्णचुलुकैः,
पयःपूरा दूराद्दिशि दिशि तथा शुभ्र्यु रमी।
अकाले पुष्पाढ्यैस्तरुभिरभितः शोभितमिदं,
यथा वृन्दारण्यं दधिमयनदीमातृकमभूत् ॥६६॥७॥

कृष्ण—सखे दक्षिणतः पश्य।

तुङ्गस्ताम्रोरुशृङ्गः स्फुरदरुणखुरो रम्यपिङ्गेक्षणश्रीः
कण्ठव्यालम्बिघण्टो धरणिविलुठितोच्चण्डलाङ्गूलदण्डः।
सोऽयं कैलासपाण्डुद्युतिरतुलककुन्मण्डलो नैचिकीनां
चक्रे भाति प्रियो मे परिमलतुलितोत्फुल्लपद्मः ककुद्मी ॥६७॥८

मधुमङ्गल—सत्य कह रहे हो, किन्तु एक अक्षर रह गया है ॥६४॥

श्रीकृष्ण—मित्र ! तुमने ठीक समझा है—हरिणि-नयनी (श्रीराधा) को देखने के लिए ही ॥६५॥

(वेशघर से आवाज आती है)

गौओं ने दूर से कानरूपी दोनों से जब मुरली ध्वनि का दान किया ? ? अवस्था में चारों दिशाओं में दूध प्रवाहित करने लगीं। असमय मे समस्त वृक्ष पुष्पों से शोभित हो उठे। (दूध एवं पुष्पों के अम्लरस के मिलने से यह दूध दही में बदल गया) जिससे समस्त वृन्दावन दधिमय नदी की तरह शोभित होने लगा ॥६६॥७॥

श्रीकृष्ण—हे सखे ! दक्षिण दिशा मे देखो—

तांबे की तरह ऊँचे सींग एवं लाल खुरोंवाला और जिसके नेत्र ललाई लिए भूरे रंग की शोभा देते हैं, कण्ठ में जिसके विशाल घण्टा लटक रहा है, पृथ्वी तक जिसकी लम्बी पूँछ एवं कैलास पर्वत के समान विस्तृत पीले वर्ण की जिसकी कांति है, कन्धे पर विशाल डिल्ला शोभित है, जो उत्तम गौओं के बीच में अवस्थित है, वही मेरा प्रियतम पद्मगन्ध-नामक बैल है ॥६७॥८॥

(ततः प्रविशति सखीभ्यामनुगम्यमाना राधा ।)

श्रीराधा—(स्वगतम्) जदो दिसादो वेणुसद्दो आअदो, सा दिसा मोहिदाए मए ण संभाविदा। [यतो दिशातो वेणुशब्द जागतः, सा दिशा मोहितया मया न संभाविता। ॥६८॥]

ललिता—(सोत्प्रासस्मितम्) हला राहिए ! कीस अकण्डे हरिणकण्णी तुमं जादासि ? [हला राधिके ! कस्मादकाण्डे हरिणकर्णी त्वं जातासि?]

राधिका—ललिते किं त्ति अप्पणो धम्मं परस्स अप्पेसि ? सच्चं तुमं जेव्व हरिणी, जं कलसद्देण हरिज्जन्ती दीससि। [ललिते ! किमिति आत्मनो धर्मं परस्यार्पयसि ? सत्य त्वमेव हरिणी, यत्कलशब्देन ह्रियमाणा दृश्यसे]

ललिता—राहे ! तुमं क्खु हरिणी, जं एसा रङ्गिणीणाम हरिणीतुम्ह सही [राधे ! त्व खलु हरिणी, यदेषा रङ्गिणी नाम हरिणी तव सखी] ॥७१॥

श्रीराधिका—(स्वगतम्) दिट्ठिआ एसा कावि सोरब्भधारा पुरोवाडिआदो दूदीव्व मं आअङ्ढवि। [दिष्टया एपा कापि सौरभ्यधारा पुरोवाटिकातो

(तब ललिता-विशाखा दोनो सखियो के साथ श्रीराधा प्रवेश करती है)

श्रीराधिका—(मन मे) जिस दिशा से वेणुध्वनि आई थी, मैं तो मोहित हो जाने के कारण उस दिशा को नही पहचान पा रही हूं ॥६८॥

ललिता—(उत्कण्ठा सहित मुस्कराते हुए) हे राधिके ! तुम किस लिए असमय मे मृगकर्णी—हरिणि के से कानो वाली हो उठी हो ? ॥६९॥

श्रीराधिका—ललिते ! तू अपने स्वभाव को दूसरे पर क्यों थोप रही हो ? वास्तव मे तुम ही मृगकर्णी हो, क्योकि उस मधुर ध्वनि से तुम्हारा हृदय आनन्दित हुआ दीखता है ॥७०॥

ललिता—राधे ! तुम ही यथार्थ हरिणी हो, क्योकि रङ्गिणी नाम की हरिणी के साथ तुम्हारी मित्रता है ॥७१॥

श्रीराधिका—(मन मे) कैसा सौभाग्य है ! इस पुष्पोद्यान से अनि-

दूतीव मामाकर्पति।]॥७२॥ (इति सव्याज पुर प्रयाति)

विशाखा—(स्मृत्वा ।) हला राहि ! कीस तुम भिङ्गीव्व कपि गन्ध सप्पसि । [हला राधे, कस्मात्त्व भृङ्गीव कमपि गन्ध सर्पसि] ॥७३॥

श्रीराधिका—विसाहे ! अग्गदो फुल्लाइ कुसुमाइ' दीसन्ति । ता एदाइ घेत्तूण तम्मित्त पुअइस्सम् । [विशाखे ! अग्रत फुल्लानि कुसुमानि दृश्यन्ते। तदेतानि गृहीत्वा तन्मित्र पूजयिष्यामि ।] ॥७४॥

ललिता—हला! सच्च मित्तस्य अणुराओ तुम तरलेदि । सो दाव गहण-चरस्सजेव्व, ण क्खु गअणचरस्स ।[हला! सत्य मित्रस्यानुरागस्त्वा तरलयति। स तावद्गहनचरस्यैव न खलु गगनचरस्य ।] ॥७५॥

श्रीराधिका—(सप्रणयरोषम्) अइ अदक्खिणे ! कमलवन्धु कधेमि । [अयि अदक्षिणे ! कमलबन्धु कथयामि ।] ॥७६।

ललिता—सहि! कीस आआर सगोवेसि ? [सखि ! कस्मादाकार सगोपयसि ।] ॥७७॥

वंचनीय सौरभ धारा दूती की तरह मुझे आकर्षण कर रही है। (यह कहकर छलपूर्वक आगे जाती है) ॥७२॥

विशाखा—(मुस्कराते हुए) हे राधे ! किसलिए तुम भृङ्गी की तरह किसी सुगन्धी का पीछा कर रही हो ? ॥७३॥

श्रीराधिका—विशाखे ! सामने सब प्रफुल्लित पुष्प दीख रहे हैं, इन को चुनकर इनके मित्र—सूर्यदेव की पूजा करूँगी ॥७४॥

ललिता—सखि ! यह सच है, मित्र का अनुराग ही तुम्हें चञ्चल कर रहा है वह वनविहारी मित्र है, गगनचारी (सूर्य) नहीं ॥७५॥

श्रीराधिका—(प्रणय सहित) अरी मूर्खे ! मैं कमल-बन्धु (सूर्य) की बात कह रही हूँ ॥७६॥

ललिता—सखि ! आकार छिपा रही हो ? अर्थात् कमला-बन्धु की बजाय कमल-बन्धु (सूर्य) क्यों कह रही हो ? ॥७७॥

विशाखा—ललिदे ! सवत्तीभाएण ईसा ख़ु अ सगोवेदि । ण खु उण पिअसही। [ललिते! सपत्नीभावेनेर्ष्यैव सगोपयति । न खलु पुन प्रियसखी।]

श्रीराधिका—(सभ्रूभङ्गम्) अइ वामे ! अत्तणो हिअट्ठिदं अत्थं परमुण्डे कीस पाड़ेसि ? ता तुवरेहि, जं णादिदूरे जेव्व सो तुम्हाण बिम्बाहरकण्डूखण्डणो । [अयि वामे! आत्मनो हृदयस्थितमर्थं परमुण्डे कस्मात्पातयसि? तत्त्वरय, यन्नातिदूरे एव स युष्माक बिम्बाधरकण्डूखण्डन ।] ॥७९॥

ललिता—राहे ! आकोमारं अम्हाण अक्खडिदं कुलङ्गणाव्वद बुन्दावणलदाओ जेव्व जाणेन्ति । ता अत्तणो मुहेण कि कघइस्सम्ह ? [राधे ! आकौमारमस्माकमस्खलित कुलाङ्गनाव्रत वृन्दावनलता एव जानन्ति तदात्मनो मुखेन किं कथयिष्याम. ?]॥८०॥

श्रीराधिका—(विहस्य) अइ पइव्वदे ! जाणेन्ति जाणेन्ति । तदो जेव्व कल्ले तुह भुअवल्लिणो अङ्के सकमिद दिट्ठ मए मअरकुण्डललञ्छणं । तधा जेव्व विसाहाए तप्पतुलिओवरि प्फुडिद सिहण्डकिरीडम् ।

विशाखा—ललिते ! सपत्नि भाववश ईर्ष्या ही (आकार को) छिपा रही है, हमारी प्रिय सखि राधा उसे नही छिपा रही है । (अर्थात् कमला (लक्ष्मी) श्रीराधा की सपत्नि है, इसलिए ईर्ष्यावश उसका नाम लेना नही चाहती है । इसलिए कमला की बजाए कमल कह रही है) ॥७८॥

श्रीराधिका—(भृकुटी टेढी करते हुए) अरी कपटनि ! अपने हृदय के अभिप्राय को दूसरे के माथे क्यो मढ रही हो ? अब जल्दी करो, तुम्हारे बिम्बाधरो की खुजली मिटाने वाला (श्रीकृष्ण) अब दूर नही है, समीप ही ही मौजूद है ॥७९॥

ललिता—राधे! कौमार काल से ही हमारा कुलाङ्गना-व्रत अखण्डित है, इस बात को वृन्दावन की समस्त लताएँ जानती हैं, इसलिए हम अपने मन से क्या कहे ? ॥८०॥

श्रीराधिका—(हसकर) अरी पतिव्रते ! जानते हैं, जानते हैं । इसलिए ही कल प्रात काल मैं ने तुम्हारी भुजाओ मे मकर-कुण्डल के चिन्ह देखे

[अयि पतिव्रते ! जानन्ति जानन्ति तत एव कल्ये तव भुजवल्लया अङ्के संक्रान्तं दृष्टं मया मकरकुण्डललाञ्छनम् । तथैव विसाखायास्तल्प तूलिकोपरि स्फुटितं शिखण्ड-किरीटम् ।] ॥८१॥

ललिता—(स्मित्वा) परपरिवादिणी ! अवेहि अवेहि । [परपरिवादिनि ! अपेहि अपेहि ।] ॥८२॥

विशाखा—राहे! कित्तिअं झम्पिस्ससि? ण खु चन्दालोए चन्दकन्तसिला अप्पसिण्णा होदुं पहवदि । [राधे ! कियदाच्छादयसि ? न खलु चन्द्रालोके चन्द्रकान्तशिला अप्रस्विन्ना भवितुं प्रभवति ।] ॥८३॥

श्रीराधिका—(पुरो दृष्टवा सचमत्कारम्) ललिदे, तुण्णं अणुजाणेहि पलाइस्सम् । [ललिते ! तूर्णमनुजानीहि । पलायिष्ये]'(इत्युत्कम्पते) ॥८४॥

ललिता—(सशङ्कम्) राहे ! कीस भाएसि ? [राधे ! कस्माद्बिभेषि?]

श्रीराधिका—(साभ्यसूयम्) अइ वक्के! अलं अलिएण इमिणा उज्जुअत्तणेण । णूणं इमस्स लम्पडस्स हत्थे पक्खेदुं मं दूरे आणीदासि । [अयि वक्रे ! अलमलीकेनानेन ऋजुकत्वेन । नूनमस्य लम्पटस्य हस्ते प्रक्षेप्तं मां दूरमानीतासि।] ॥८६॥

थे और विशाखा की शय्या पर मयूरपुच्छ का किरीट पड़ा हुआ था ॥८१॥

ललिता—(मुस्कराकर) हे परनिन्दा कारिणी ! जा, जा ॥८२॥

विशाखा—राधे ! क्यों वृथा छिपा रही हो ? चन्दा की चांदनी में क्या चन्द्रकान्त मणि बिना द्रवीभूत हुए रह सकती है ? ॥८३॥

श्रीराधिका—(सामने देखकर आश्चर्य सहित) ललिते ! तू कह तो मैं शीघ्र भाग जाऊँ । (ऐसा कहकर काम्पने लगती है) ॥८४॥

ललिता—(शङ्का सहित) राधे क्यों डर रही हो ? ॥८५॥

श्रीराधिका—(असूया सहित। अरी वक्रे ! इस भोले भाले स्वभाव का इस समय कोई प्रयोजन नहीं है । निश्चय ही तुम मुझे इस लम्पट के हाथों में सौंपने के लिए यहां ले आई हो ॥८६॥

ललिता—(निपुणं निभाल्य स्वगतम्) णूणं दूरदो विलोइज्जन्तं तमालं जेव्व इअं कण्हं मण्णेदि। (प्रकाशम्) हुं, दाणि कधं पलाइस्ससि ? लद्धो मए ओसरो। [नूनं दूरतो विलोक्यमानं तमालमेवेयं कृष्णं मन्यते। हुं, इदानी कथं पलायिष्यसे ? लब्धो मयावसरः] (इति राधिकामाकर्षति) ॥८७॥

श्रीराधिका—(सकातर्यम्) सहि विसाहे ! परित्ताहि परित्ताहि। सरणाअम्हि।[सखि विशाखे! परित्रायस्व, परित्रायस्व। शरणागतास्मि] ॥८८॥

विशाखा—अइ पेम्मुम्मदिदे ! कधं तिल्लोकं जेव्व दे कण्हाएदि ? पेक्ख, एसो पलासो ण क्खु तुज्झ विलासो। [अयि प्रेमोद्भ्रान्ते ! कथं त्रिलोक्यमेव ते कृष्णायते ? प्रेक्षस्व एप पलाशो न खलु तव विलासी] ॥८६

श्रीकृष्ण.—कथं नेदानीमपि प्रत्यासन्ना तन्वङ्गी ? तन्मुरलीमीरयामि। (इति तथा कुर्वन्) ॥९०॥

अयि सुधाकरमण्डलि मण्डय, त्वमटवीं मृदुपादविसर्पणैः।
उदयशैलतटीनिहितेक्षणो ननु चकोरयुवा परितप्यते ॥९१॥८॥

ललिता—(ध्यान पूर्वक देखकर अपने मन मे) निश्चय ही यह दूर से तमाल वृक्ष को देखकर उसे कृष्ण मान रही है। (स्पष्ट कहती है) हा अब कहां भाग जाओगी ? आज मुझे अवसर मिला है॥ (यह कहकर राधे को खींचत ी है) ॥८७॥

श्रीराधिका—(कायर होकर) सखि विशाखे ! मेरी रक्षा कर, रक्षा कर, मैं तेरी शरण हू ॥८८॥

विशाखा—अयि प्रेम-पगलि ! क्यों तेरे लिए त्रिभुवन कृष्णमय हो रहा है ? देख यह वृक्ष है न कि विलासी-कृष्ण ॥८६॥

श्रीकृष्ण—न जाने अभी तक वह कृशाङ्गी राधा मेरे निकट क्यों न आई ? एक बार और वंशी बजाता हूँ। (यह कहकर श्रीकृष्ण वंशी बजाते है) ॥९०॥

—हे सुधाकर मण्डलि ! मृदु-मृदु चरण धरते हुए इस वनभूमि को अलंकृत कर। यह चकोर-युवा उदय पर्वत के किनारे दृष्टि लगाये हुए संतप्त हो रहा है ॥९१॥८॥

विशाखा—(स्वयं धैर्यमवष्टभ्य) हला राहि ! कीस तुमं भवन्ती कलम्बं ओलम्बेसि ? [हला राधे ! कस्मात्त्वं भ्रमन्ती कदम्बमवलम्बसे ?]

ललिता—सहि वंसिए ! वारं वारं तुमं वन्देमि । जं उग्घाड़िदरहस्सा तुए राही किदा। [सखि वंशिके ! वारं वारं त्वां वन्दे यदुद्घाटित-रहस्या त्वया राधा कृता ।] ॥६३॥

(राधिका सलज्जमवहित्थां नाटयति)

ललिता—(संस्कृतेन)

विशद्भिः कर्णान्ते तव विसृमरैरद्य मुरली-
कलैरूरुस्तम्भो गुरुरजनि रम्भोरु तरसा।
विलुप्तामुद्दृष्टिर्नयनजलवृष्टिव्यतिकरैः
प्रणीताभिर्यत्नात्तदलमवहित्थालहरिभिः ॥६४॥१०॥

विशाखा—ललिदे ! को दाणिं अवहित्थाए ओसरो ? [ललिते क इदानीमवहित्थाया अवसरः ?] (इति संस्कृतेन)

त्रपाभिचरणक्रमे परमसिद्धिरायर्वणी
स्मरानलसमिन्धने सपदि सामिधेनीध्वनिः ।

विशाखा—(स्वयं धीरज धारण पूर्वक) सखि राधे ! क्यों तू भ्रमण करते करते कदम्ब वृक्ष का सहारा ले रही है ? ॥६२॥

ललिता—सखि वंशि ! तुम्हें मैं बारम्बार प्रणाम करती हूँ । तुमने राधा के सब राज को खोल दिया है ॥६३॥

[श्रीराधा लज्जापूर्वक अपने भावों का गोपन करती हैं]

ललिता—हे रम्भोरु ! आज तुम्हारे कानों में मधुर वंशी-ध्वनि के प्रवेश होने से तत्काल तुम्हारे उरु स्तम्भित हो उठे हैं, नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने के कारण तुम्हारी दृष्टि भी विलुप्त हो गई है। इसलिए अब यत्नपूर्वक अपने मनोभावों को छिपाने का प्रयोजन नहीं है ॥६४॥१०॥

विशाखा—ललिते ! अब भावों को छिपाने का अवसर ही कहां है ?

हे राधे ! वंशीध्वनि तुम्हारी लज्जा को ध्वंस करने हेतु अभिचार यज्ञ में अथर्व वेदोक्त मन्त्रों के समान हो रही है और कामाग्नि प्रज्ज्वलित

तथात्मपरमात्मनोरुपनिपन्मयी सगमे
विलासमुरलीभवा विरुतिरद्य वैरायते ।।९५।।११।।

श्रीराधिका—(सक्षोभम्) सहि ! सच्च कवेसि । अम्हाण वइरिणी सवुत्ता दारुणि वसिअ । ता उवालहिस्सम् । [सखि ! सत्य कथयसि । अस्माक वैरिणी सवृत्ता दारुणा वशिका । तदुपालप्स्ये ।] (इति सस्कृतेन)

सूतिस्ते धनुषश्च वशवरतो वन्दे तयोरन्तिम
विद्धो येन जनस्तनु विरहयन्नान्तश्चिर ताम्यति ।

करने मे सामिधेनी मन्त्र के समान । आत्मा और परमात्मा के एकोकरण मे अर्थात् प्रेम मूर्छा उत्पन्न करने मे उपनिपद्मयो अर्थात् तत्त्वमसि वाक्यमयी हो रही है । इसलिए यह वशी-ध्वनि आज तुम्हारे प्रति वैरता विधान कर रही है ॥

[इस श्लोक का तात्पर्य इस प्रकार है—*मानो श्रीराधा जी की* लज्जा को मारने या नाश करने के लिए एक अभिचार यज्ञ (तन्त्रोक्त मरण-मोहन-उच्चाटन करने का अनुष्ठान) वशी द्वारा अनुष्ठित किया जा रहा है । उस अनुष्ठान मे यह वशी-ध्वनि अथर्ववेद के मन्त्रो के समान है । (अथर्व-वेद मे प्राय अभिचार यज्ञो के मन्त्रो का उल्लख है) और यज्ञो मे सामिधेनी मन्त्रो के द्वारा अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है । उसी प्रकार श्रीराधा जी मे कामाग्नि उत्पन्न करने के लिए वशीध्वनि मानो सामिधेनी मन्त्र का काम कर रही है । और उपनिषत् मे 'तत्त्वमसि' वाक्य जैसे जीव के अस्तित्व को लोप करने वाला है, उसके स्वरूपानुबन्धिधर्म कृष्ण-सेवा को लुप्त कर देता है । उसी प्रकार मानो वशी-ध्वनि भी श्रीराधा को प्रेम-मूर्छा के द्वारा वेसुद्ध एव कर्त्तव्य शून्य कर रही है—इस प्रकार यह वशी मानो श्रीराधा से दुशमनी कर रही है ॥] ।।९५।।११।।

श्रीराधिका—(क्षोभ सहित) सखि ! तू सच कह रही है, दारुण वशी ही हमारी दुशमन है, तभी तो मैं उसकी निन्दा किया करती हू—

हे क्रूर वशि ! तुम्हारा और धनुष का एक हो वश से जन्म हुआ है । परन्तु मैं धनुष को नमस्कार करती हूँ । क्योकि धनुष से जिसका शरीर घायल होता है, उसे फिर शरीर त्यागने की दुख यातना नही भोगनी पडती—

विद्धानां हृदि मारपत्रिविषमैर्ध्वनिवुभिर्नस्त्वया
क्रूरे वशि न जीवनं न च मृतिर्घोराविरासीद्दशा ॥९६॥१२॥

श्रीकृष्ण:—(पुरो विलोक्य सानन्दम् ।)

भविता सविधेऽत्र राधिका, यदियं रिङ्गति रङ्गिणी पुरः ।
मृगलाञ्छनलेखयेव या, मृगमूर्त्तिर्न तया वियुज्यते ॥९७॥१३॥

(पुनर्निरूप्य) सखे ! ज्ञात ज्ञातम् । नासौ राधिकान्यङ्कु: यदयं निरङ्को नेदीयानिन्दु. । (इति विस्मयमभिनीय) ॥९८॥

अङ्कात्परित्यज्य पुर कुरङ्ग, शङ्के सुधांशुर्भुवमाससाद ।

(पुनर्निभाल्य)

आ ज्ञातमुत्फुल्लविलासवृन्दैरानन्दि राधावदनं चकास्ति ।.९९॥१४॥

(इत्यग्रे सरति)

मधुमङ्गलः—(सपरिहासम्) भो वअस्स ! मा धाव । लहु लहु जाहि।

वह तत्काल मर जाता है, किन्तु तुम्हारे ध्वनिरूप कामवाणो से घायल होकर हमारे हृदयो की जो घोर दुखमयी अवस्था हो रही है, न तो उससे हमारा मरण ही होता है और न हम जीवित रह सकती है ॥९६॥१२॥

श्रीकृष्ण—(सामने देखकर आनन्द पूर्वक) जब यह रङ्गिणी नामक हरिणी आगे आ रही है, तब निश्चय ही जान पडता है कि राधा भी अवश्य • यहाँ कही आस-पास घूम रही है । क्योकि मृग-मूर्ति के बिना जैसे मृग-छाया सम्भव नही है, उसी प्रकार यह रङ्गिणी हरिणी श्रीराधा के बिना नहीं रह सकती ॥९७॥१३॥

(फिर देखकर) हे सखे ! मैं जान गया, जान गया, यह राधिका की हरिणी नही है यह तो निष्कलङ्क चन्द्र ही है । (इतना कहकर आश्चर्य प्रकट करते हैं) ॥९८॥

यह तो ऐसा मालूम होता है, अपने अङ्ग से मृग को आगे छोडकर चन्द्रमा ही पृथ्वी पर आ रहा है । (फिर देखकर) ओ ठीक है, अब जान गया, विशाल विलास-राशि से परिपूर्ण राधा का ही मुख प्रकाशित हो रहा है । (इतना कहकर आगे बढते है) ॥९९॥

मधुमङ्गल—(मुस्कराते हुए) हे मित्र ! दौड मत, धीरे-धीरे चल ।

अहवा तुम किं ति दूसिज्जसि, जं धुत्तकिसोरीहिं दुट्ठमन्तेण उम्मादिदोसि । ता इमस्सिं जोग्गे ओसरे तुम णिवारिअ सिणेहस्स णिक्किदिं करिस्सम् । [भो वयस्य ! मा धाव । लघु लघु याहि । अथवा त्वं किमिति दूष्यसे, यद्-धूर्तकिशोरीभिर्दुष्टमन्त्रेणोन्मादितोऽसि । तदस्मिन्योग्येऽवसरे त्वां निवार्य स्नेहस्य निष्कृतिं करिष्यामि । (इति पाणिमाददाति) ॥१००॥

श्रीकृष्ण —सखे ! साधु चेष्टसे, यदद्य राधिकोपसर्पणे कम्पेन कृत-विघ्नस्य मे दत्तहस्तावलम्बोऽसि । (इति परिक्रम्य) ॥१०१॥

इयमतितृषित वरानुरागोज्ज्वलसुमना कमनीयपत्रलेखा ।
मम वरतनुराकर्षं चिरा, मधुपमशोकलतेव पुष्पिताग्रा ॥१०२॥१५॥

श्रीराधिका—(कृष्णमपाङ्गेन विलोक्य स्वगतम् संस्कृतेन)

नवमनसिजलीलाभ्रान्तनेत्रान्तभाज,
स्फुटकिसलयभङ्गीसङ्गिकर्णाञ्चलस्य ।

परन्तु तुम्हारा भी दोष क्या है ? इस धूर्त किशोरियों ने ही दुष्ट मन्त्र द्वारा तुम्हें पागल कर रखा है । इसलिए इस उपयुक्त अवसर पर तुम्हें रोककर प्रेम को ही तोड दूँगा । (*यह कहकर श्रीकृष्ण का हाथ पकडता है*) ॥१००

श्रीकृष्ण—सखे ! तुमने अच्छा किया है, आज राधा के पास जाते समय मुझे कम्प विघ्न कर रहा था, तुमने मुझे हाथ का सहारा दे दिया है। (*यह कहकर पीछे मुडते हैं*) ॥१०१॥

—*जैसे फूलों से खिली हुई अशोक-लता मधुकर को आकर्षित करती* है, उसी प्रकार उत्कृष्ट नवीन अनुराग से सुशोभित मन वाली एवं चित्र-विचित्र पत्रावली से रंजित उत्तमाङ्गी श्रीराधा आज अति तृषातुर मेरे चित्त को आकर्षण कर रही है ॥१०२॥१५॥

श्रीराधिका—(नेत्र-कोण से श्रीकृष्ण को देखकर मन ही मन में) नवीन कन्दर्प-लीला के कारण जिनके नेत्र-कोण भ्रान्त हो रहे हैं, जिनके कानों में सुन्दर गुच्छों की रचना सुशोभित है, तथा जिनके सिर पर मालती

मिलितमृदुलमौलेर्मालया मालतीनां,
मदयति मम मेधां माधुरी माधवस्य ॥१०३॥१६॥

विशाखा—(विहस्य संस्कृतेन)

वशीचक्रे कृष्णस्तव परिमलैरेव वलिभि-
विलासानां वृन्दं कथमिव मुधा कन्दलयसि ?
जये पाणौ दत्ते रणपटुभिरग्रेसरभटैः
स्वयं को विक्रान्ति पुनरिह जिगीषुः प्रणयति? ॥१०४॥१७॥

श्रीराधिका—अइ दुम्मुहि! एत्तिअम्मि संकडे मं आरोविअ अज्जवि ण विस्सन्तासि ? ता णिक्किवहिअअं तुमं उज्झिअ अहं सिणिद्धं पिअसहीं ललिदं सरणं पविसामि। [अयि दुर्मुखि ! एतावति सकटे मामारोप्याद्यापि न विश्रान्तासि ? तन्निष्कृपहृदयां त्वामुज्झित्वाहं स्निग्धां प्रियसखीं ललितां शरणं प्रविशामि।] (इति तथा कृत्वा संस्कृतेन) ॥१०५॥

अत्रायान्तं चलमपि हरिं लोकयन्ती वलिष्ठां
त्वामालम्ब्य प्रियसखि घने नास्मि कुञ्जे निलीना।

माला द्वारा मुकुट सजा हुआ है, उन श्रीमाधव की माधुरी मेरी बुद्धि को उन्मत्त कर रही है ॥१०३॥१६॥

विशाखा—(हंसकर) हे राधे ! तुम्हारी अङ्ग सौरभ ने श्रीकृष्ण को वशीभूत कर लिया है, फिर तुम व्यर्थ किस लिए विव्वोक-विभ्रमादि विलासों को प्रकाशित कर रही हो? रण में आगे-आगे रहने वाले निपुण योद्धागणों के हाथ मे जय शत्रु जय या आत्म समर्पण कर देता है, फिर ऐसा कौन जय चाहने वाला योद्धा है जो अपने आप पराक्रम दिखाता है ? ॥१०४॥१७॥

श्रीराधिका—अरी दुर्मुखि ! मुझे आज सकट में डालकर अभी भी तू विश्राम नहीं ले रही है। इसलिए तुझ निर्दय हृदयवाली को छोड़कर मैं कृपालु हृदयवाली अपनी प्रिय सखी ललिता की शरण लेती हूं। (इतना कहकर ललिता का आश्रय ग्रहण करते हुए कहती है) ॥१०५॥

हे प्रिय सखि ! चञ्चल हरि यहां मेरे पीछे आ रहे हैं, इसी आशंका से तुम्हें बलवती जानकर तुम्हारा आश्रय लेकर इस घनी कुञ्ज में छिप जाती हूँ। (आधा श्लोक कहने पर बीच में राधाजी कहती हैं)—

ललिता—(सनर्मस्मितम् संस्कृतेन)

अस्मान्मुग्धे हृदयनिहितादद्य पीताम्बरात्ते
शक्तो नान्यः कुचपरिचये गत्पुरो मा व्यथिष्ठाः ॥१०६॥१८॥

श्रीकृष्णः—(सानन्दम्) कल्याणि ! काले लब्धासि। (इति राधामनुसर्पति) ॥१०७॥

ललिता—(साटोपं परिक्रम्य कृष्णं वारयन्ती) छइल्ल ! ण हु ण हु एसा तुम्ह परिहासजोग्गा अम्हाणं पिअसही। ता अवेहि अवेहि। [विदग्ध! न खलु न खल्वेपा तव परिहासयोग्या अस्माक प्रियसखो। तदपेहि अपेहि]

श्रीकृष्णः—(सस्मितम्) ललिते नेद गोष्ठाङ्गनम्। पश्य वृन्दाटवी कुक्षिरसौ। तत्रेह वः प्रभविष्णुता ॥१०८॥

ललिता—कण्ह ! अण्णाओ ताओ क्खु मुद्धिआओ जाओ तुअत्तो वि

ललिता—(परिहास पूर्वक मुस्कराते हुए) हे मुग्धे ! आज तुम्हारे हृदय-स्थित पीताम्बर को छोड़कर और अन्य कोई भी व्यक्ति मेरे सामने तुम्हारे वक्षस्थल का परिचय प्राप्त करने मे समर्थ नही होगा। इसलिए भय मत करो ॥१०६॥१८॥

(श्लेपार्थ—हे राधे ! आज तुम्हारे हृदय मे अवस्थान करने वाले श्रीकृष्ण को छोड़कर और अन्य कोई भी व्यक्ति मेरे सामने तुम्हारे वक्षस्थल का आलिगन करने में समर्थ नही होगा, इसलिए तुम भय मत करो।)

श्रीकृष्ण—(आनन्द पूर्वक) हे कल्याणि ! ठीक समय पर मैं तुम्हें मिला हूँ। (यह कहकर श्रीराधा के निकट जाते हैं) ॥१०७॥

ललिता—(पीछे हटकर, श्रीकृष्ण को गर्व के साथ रोकते हुए) ओ नागर ! नही, नही, यह हमारी प्रिय सखी तुम्हारे परिहास करने योग्य नहीं है। अतः तुम यहा से हट जाओ, चले जाओ ॥१०८॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कराते हुए) ललिते ! यह गोष्ठांगन है, देख यह वृन्दावन का मध्य स्थान है, यहा तुम्हारी प्रभुताई नही है ॥१०९॥

ललिता—कृष्ण ! जो कोई मुग्धा रमणी होगी, वही तुमसे भली

सुट्ठु भाएन्ति। एसम्हि पसिद्धा ललिदा [कृष्ण! अन्यास्ताः खलु मुग्धिकाः याः त्वत्तोऽपि सुष्ठु बिभ्यति। एषास्मि प्रसिद्धा ललिता] ॥११०॥

(राधिका चलापाङ्गेन कृष्णं विलोक्य कम्पं नाटयति)

ललिता—राहे ! कीस सज्झसेण कम्पसि, जं एसा जीअदि ललिदा ? [राधे ! कस्मात्साध्वसेन कम्पसे, यदेषा जीवति ललिता?] ॥१११॥ .

श्रीराधिका—ललिदे ! गहीदाइं बन्धूगपुप्फाइं। ता एहि कालिन्दी-तीरं गच्छम्ह। [ललिते ! गृहीतानि बन्धूकपुष्पाणि। तदेहि कालिन्दीतीरं गच्छामः] ॥११२॥

श्रीकृष्णः—कठोरे ! कथमाहृतबन्धुजीवा दूरं गन्तुमुद्युतासि ? (इति पन्थानमावृण्वन्) ॥११३॥

परीतं शृंगेण स्फुटतरशिलाश्यामलरुचं
चलद्वेत्रं वंशव्यतिकरलसन्मेखलममुम्।

प्रकार भयभीत होंगी। देखो, मैं हूँ वह प्रसिद्ध ललिता ॥११०॥

[श्रीराधा चञ्चल नेत्र-कोणों से श्रीकृष्ण को देखकर कांपने लगती है]

ललिता—राधे ! क्यों डर से कांप रही हैं ? जब यह तुम्हारी ललिता जीवित है ॥१११॥

श्रीराधिका—ललिते! बन्धूक-पुष्प हमने सब ले लिए हैं। आओ, हम कालिन्दी तीर पर चलें ॥११२॥

श्रीकृष्ण—अरी कठोरे ! तुम बन्धु-जीवन को लेकर क्यों दूर जाने की चेष्टा कर रही हो ? (इतना कहकर रास्ता रोकते हैं) ॥११३॥

—हे राधे ! जो शृंगों से आवृत है, जिसकी उज्ज्वल शिलाओं की श्याम कान्ति है, जिसमें वेत्र चञ्चल हो रहे हैं, एवं वंश वृक्ष मेखला के रूप में सुशोभित हो रहे हैं, ऐसे सामने उपस्थित धरणीधर का उल्लंघन कर तुम कैसे सूर्यकन्या कालिन्दी के किनारे जा सकती हो ?

(पक्षान्तर में—जिसके हाथ में शृंग है और जिसकी उज्ज्वल शिला की भांति श्याम-कान्ति है, जो वेत को हाथ में लिए चला आ रहा है एवं

अतिक्रम्योत्तुङ्गं धरणिधरमग्रे कथमित-
स्त्वया गन्तुं शक्या तरणि दुहितुस्तीरसरणिम् ॥११४॥१९॥

श्रीराधिका—(वक्रं विलोक्य हुं कुवती) णाअर मह दोसो णत्थि। दाणि एसा गोउलेसरिं अणुसरिस्सम्। [नागर ! मम दोषो नास्ति। इदानीमेषा गोकुलेश्वरीमनुसरिष्यामि।] ११५॥

श्रीकृष्ण—राधे ! किं विभीषिकया ? काम गम्यताम्। तद्भुजमूलस्थ पीतदुकूलमेव ममानुकूलम्। (इति राधां दिधीर्षति) ॥११६॥

श्रीराधिका—(भ्रूकुटीमाबध्य सस्कृतेन)
साध्वीनां धुरि धार्यां ललितासङ्गेन गर्विता चास्मि।
हितमालपामि माधव, पथि माद्य भुजङ्गतां रचय ॥११७।२०॥

श्रीकृष्ण—ललिते ! किमश्रावि वाग्भङ्गिरस्याः ? तदहं नापराध्यामि। (इति भुजदण्डावुद्दण्डयति) ॥११८॥

वंशी के सहित छोटी छोटी घण्टिकाओं से सुशोभित है ऐसे सामने खडे हुए मुझ गोवर्धनधारी कृष्ण से बचकर तुम कैसे कालिन्दी तीर पर जा सकती हो ? ॥११४॥१९।

श्रीराधिका—(टेढी दृष्टि से देखकर अहंकार करती हुई) हे नागर ! मेरा कोई दोष नहीं है। अब मैं गोकुलेश्वरी—श्रीयशोदा के पास जाऊँगी॥

श्रीकृष्ण—राधे ! डराने की क्या बात है ? बडी खुशी से जा सकती हो। तुम्हारी भुजाओं में लिपटा पीताम्बर ही मेरी अनुकूलता करेगा (यह कहकर श्रीराधा को पकडने लगते हैं) ॥११६॥

श्रीराधिका—(भृकुटी तानकर) हे माधव ! मैं साध्वीगणों में अग्रगण्या हूँ और ललिता का साथ पाकर गर्व रखती हूँ। इसलिए तुम्हारे हित की बात कह रही हूँ कि रास्ते में तुम कामुकता मत करो—अथवा मुझे भुजाओं में मत भरो ॥११७॥२०॥

श्रीकृष्ण—ललिते ! सुन रही हो तुम क्या इसकी वाग्भङ्गि ? अब मेरा कोई अपराध नहीं है (यह कहकर भुजाओं को उठाते हैं) ॥११८॥

ललिता—(राधां पृष्ठतः कृत्वा) कण्ह ! सव्वलोअ सलाहणिज्जगुणोवि तुमं गोउलिन्दस्स णन्दणोसि । ता णेदं दे दुल्लीललणं अम्हेसु जोग्गम् । [कृष्ण ! सर्वलोक-श्लाघनीयगुणोऽपि त्वं गोकुलेन्द्रस्य नन्दनोऽसि । तन्नेदं ते दुर्लीलत्वमस्मासु योग्यम्] ॥११९॥

मधुमङ्गलः—अइ गव्विदे ! किं त्ति वुन्दाअणं विद्धंसिअ तुम्हेहिं अम्ह-पिअवअस्सस्स पुप्फाइं हरिज्जन्ति ? [अयि गर्विते ! किमिति वृन्दावनं विध्वंस्य युष्माभिरस्मत्प्रियवयस्यस्य पुष्पाणि ह्रियन्ते ?] ॥१२०॥

श्रीकृष्णः—सखे ! तूर्णं गणयासां पुष्पाणि, यथा तत्संख्यया कण्ठतो हारमणीनाहरामि ॥१२१॥

मधुमङ्गलः—पिअवअस्स ! किद गणणं । ता रत्ताणं पुप्फाणं परिवट्टेण पउमरागाइं गेण्ह । पण्डुराणं उण हारमोत्तिआइं । [प्रिय वयस्य ! कृत गणनम् । तद्रक्तानां पुष्पाणां परिवर्तेन पद्मरागाणि गृहाण । पाण्डुराणां पुनर्हारमौक्तिकानि ।] ॥१२२॥

श्रीकृष्ण.—सखे! पर्यालोचयम् । नामूनि पुष्पमूल्यतुल्यानि रत्नानि, ततः कथमेभिरेव पर्याप्तिः ? ॥१२३॥

ललिता—(श्रीराधा को पीछे करके) कृष्ण ! सब लोग ही तुम्हारे गुणो की प्रशंसा किया करते हैं और तुम गोकुलेन्द्र-नन्दराज के पुत्र हो। इसलिए तुम्हारा हमारे प्रति इस प्रकार का दुर्नितिपूर्ण आचरण उपयुक्त नही है ॥११९॥

मधुमङ्गल—अरी अभिमाननी ! तुम वृन्दावन को बिगाड़ कर क्यो मेरे प्रिय मित्र के फूलो को चुरा रही हो ? ॥१२०॥

श्रीकृष्ण—मित्र ! तुम शीघ्र इनके चुराये हुए फूलों की गिनती करो। मैं उतनी ही मणिया इनके गले के हारो की छुड़ा लूंगा ॥१२१॥

मधुमङ्गल—हे प्रिय सखे ! मैंने गिन लिये हैं। लाल रंग के पुष्पो के बदले पद्मराग मणिया तथा पीले पुष्पो के बदले पीले रंग के हीरा और मोती इनके सब छुड़ा लो ॥१२२॥

श्रीकृष्ण—मित्र मैंने विचार किया है। इनकी मणिया और हीरे मेरे वृन्दावन के फूलो की समानता नही कर सकते, इनसे हमे क्या मिलेगा ? ॥

मधुमङ्गल —(सकाकुप्रपञ्चम्) वअस्स ! एसो अणुगदो बम्हणो अब्भत्थेदि । ता इमेहिं जेव्व सतुट्ठो होहि । [वयस्य ! एषोऽनुगतो ब्राह्मणोऽभ्यर्थयति ।तदेभिरेव सतुष्टो भव ।] ॥१२४॥

श्रीकृष्ण —यथा ब्रवीति वयस्य ॥१२५॥

ललिता—(विहस्य) अज्ज ! सामिणो जोग्गो जेव्व अमच्चोसि । [आर्य ! स्वामिनो योग्य एवामात्योऽसि] ॥१२६॥

विशाखा—(सालीकसम्भ्रमम्) कण्ह ! दूरे चिट्ठेहि । [कृष्ण ! दूरे तिष्ठ] ॥१२७॥

श्रीकृष्ण —कुटिले! किमिति ? ॥१२८॥

विशाखा—पेक्ख, सरम्भेण सगर गमिदा चन्दहास उल्लासेदि अम्हपिअसही राहा [प्रेक्षस्व ! सरम्भेण सगर गमिता चन्द्रहासमुल्लासयत्यस्मत्प्रियसखी राधा ।] ॥१२९॥

मधुमङ्गल—(विनय-अनुनय करते हुए) मित्र ! यह तुम्हारा दास ब्राह्मण प्रार्थना करता है । तुम इस मे ही सन्तोष कर लो ॥१२४॥

श्रीकृष्ण—तू जैसे कह मित्र ॥१२५॥

ललिता—(हसकर) आर्य ! स्वामी के योग्य ही मन्त्री है ॥१२६॥

विशाखा—(अकारण सम्भ्रम प्रकाश करते हुए) कृष्ण ! तुम दूर रहो ॥१२७॥

श्रीकृष्ण—अरी कुटिले ! ऐसा क्यो ? ॥१२८॥

विशाखा—देख, हमारी प्रिय सखी राधा क्रोध मे भरकर युद्ध करने के लिए चन्द्रहास(खडग) निकाल रही है ।

(पक्षान्तर मे—देख हमारी प्रिय सखी राधा रसावेश में तुम्हारे साथ सम्मिलित होने के लिए उत्कण्ठित होकर चन्द्र के समान हास्य प्रकाश कर रही है) ॥१२९॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कराकर) अरी मुग्धे ! देख मैं भी विस्तृत रोमाञ्च-

श्रीकृष्ण—(स्मित्वा) मुग्धे ! पश्य । अहञ्च प्रपञ्चितगाढ़रोमाञ्च-कञ्चुकोऽस्मि । तयत्नं रामारत्नं हरिष्यामि । (इति राधामनुसर्पति) ॥१३०॥

ललिता—(सरम्भमभिनीय) कण्ह ! पेक्खामि दे साहसं । राहीए छाअं पि तुमं प्फसेहि । [कृष्ण ! पश्यामि ते साहसम् । राधायाश्छायामपि त्व स्पृश] ॥१३१॥

श्रीकृष्ण—सखे ! नूनं ललितारूपेण महाभैरवीयं प्रादुर्भूता ॥१३२॥

श्रीराधिका—हला ! कल्लाणी होहि । [हला ! कल्याणी भव ।] (इति ललिता साकूतमालिङ्गति) ॥१३३॥

श्रीकृष्णः—(जनान्तिकम्) ललिते ! विमुञ्च काठिन्यम् ॥१३४॥

ललिता—उक्कोअं मे देहि । [उत्कोचं मे देहि] ॥१३५॥

श्रीकृष्ण—(स्मित्वा) ललिते, सत्यं ब्रवीमि ते राधामपि विप्रलभ्य सायमनङ्गसंगरे त्वामेव प्रतिवीरयिष्ये ॥१३६॥

जाल रूपी कवच को धारण कर रहा हू । इसलिए बिना यत्न मैं रामारत्न हरण करूंगा (यह कहकर श्रीराधा के निकट जाते हैं) ॥१३०॥

ललिता—(क्रोध प्रकाश करती हुई) कृष्ण ! मैं देखूं तुम्हारा साहस । तुम एक बार तो राधा की छाया का स्पर्श करो ॥१३१ ।

श्रीकृष्ण—सखे ! निश्चय ही यह ललिता तो महा भैरवी उत्पन्न हुई है ॥१३२॥

श्रीराधा—सखि ! तेरा कल्याण हो । (यह कहकर अभिलाषपूर्वक ललिता का आलिंगन करती है) ॥१३३॥

श्रीकृष्ण—(कान मे धीरे से) ललिते ! कठोरता को छोड़ दे ॥१३४॥

ललिता—मुझे दो कुछ रिश्वत ॥१३५॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कराकर) ललिते ! तुम्हें सत्य कहता हूँ, राधा को भी वञ्चना कर मैं सन्ध्याकाल मे अनङ्ग-युद्ध मे तुम्हे ही अपना प्रतियोद्धा बनाऊँगा ॥१३६॥

ललिता—(सरोष परावृत्य) अवेहि, विदूसअ अवेहि [अपेहि, विदूषक! अपेहि ।] ॥१३७॥

श्रीकृष्ण.—कथयोत्कोचं यत्र ते तुष्टि. ॥१३८॥

ललिता—णाअर ! पुप्फमग्गणरङ्गेण वुन्दावणं भम्मन्ती दूएदि मे सही । ता दिव्व-पुप्फेहिं ण अलकदुअ सुहावेहि । [नागर ! पुष्पमार्गण-रङ्गेण वृन्दावन भ्रामयन्ती दूयते मे सखी । तद्दिव्यपुष्पैरेनाम अलङ्कृत्य सुखय ।] ॥१३९॥

श्रीकृष्ण—(स्मित्वा) यथाभिरोचते तुभ्यम् । (इति परिक्रम्य दर्पारभटी नाटयन्)ललिते, बाढं विक्रुश्यताम्, न त्वां तृणाय मन्ये (इति राधिकाहारमाक्रष्टुं कर प्रसारयति) ॥१४०॥

ललिता—(वाम विलोक्य सस्मितम्) छइल्ल ! सूरदेअपूआकिदे किदसिणाए पिअसही अकिदसिणाणो क्खु तुम मा प्फसेहि । [विदग्ध! सूर्यदेवपूजाकृते कृतस्नाना प्रियसखीमकृतस्नानः खलु त्व मा स्पृश] ॥१४१॥

श्रीकृष्ण:—अयि मदान्धे ! समन्तादुल्लासिति प्रस्वेदाम्बुपूरे मयि कथं कृतमहाभिषेक न पश्यसि ? ॥१४२॥

ललिता—(क्रोध मे पीछे हटकर) दूर रह रे कामुक ! दूर रह ॥१३७

श्रीकृष्ण—तुम ही बोलो, किस रिश्वत मे तुम सन्तुष्ट होओगी ? ॥

ललिता—नागर ! फूल चुनने की अभिलाषा से वृन्दावन मे भ्रमण करते करते हमारी प्रिय सखी राधा थक गई है। इसलिए तुम दिव्य पुष्पो से इसको अलकृत कर इसे सुखी करो ॥१३९॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कराकर) जैसे तुम्हारी इच्छा हो। (यह कह पीछे हटकर और अति गर्व प्रकाशित करते हुए) ललिते ! तू बहुत भारी क्रोध करती है। परन्तु मैं तुम्हे तृण के समान भी नही समझता हू। (यह कह श्री राधा का हार खीचने के लिए हाथ बढाते हैं) ॥१४०॥

ललिता—(टेढी दृष्टिपूर्वक मुस्कराते हुए) नागर ! सूर्यदेव की पूजा करने के लिए प्रियसखी राधा स्नान कर चुकी है, तुम अभी नहाए नहीं हो। अत. इसे मत छुओ ॥१४१॥

श्रीकृष्ण—अरी मदान्धे ! मेरा तो सारा शरीर पसीने से तरबतर हो रहा है, मैं तो महाभिषेक किए हुए हू—तुम्हें नही दीखता है क्या ? ॥

ललिता—(राधामन्तरयन्ती समान्यर्यम्) हला ! उद्दण्डकालतमाल-मण्डलघोलेण वणखण्डेण इमस्स पअण्डदा दूसहा किदा। ता अम्हे हार रक्खिदु क्खणं सोम्मा होम्ह। [हला ! उद्दण्डकालतमालमण्डलघोरेण वनखण्डेनास्य प्रचण्डता दु सहा कृता।] ॥१४३॥

विशाखा—कीदिस सोम्मा होमुह ? [कीदृश सोम्या भ ाम ?] ॥

मधुमङ्गल—ही, ही णिज्जिदाओ गव्विदगोविआओ। [ही ही, निर्जिता गर्वितगोपिका ।] (इति नृत्यति) ॥१४५॥

श्रीराधिका—अइ मुद्धे ललिदे ! भअवन्तस्स उवासणं तुए अज्ज कि विसुमरिदम् ? [अयि मुग्धे ललिते ! भगवत उपासन त्वयाद्य किं विस्मृतम्।]

मधुमङ्गल—देइ राहिए ! केअलं तुम्हे जेव्व उवासणं करेव त्ति मा गव्वाएध अम्हे वि उवासणं करेम्ह। [देवि राधिके ! केवल यूयमेव-मुपासन कुरुथेति मा गर्वायध्वम्, यद्वयमप्युपासन कुर्मः] ॥१४७॥

विशाखा—अज्ज ! कीदिस तम् ? [आर्य ! कीदृश तद्] ॥१४८॥

ललिता—(श्रीराधा को छिपाते हुए धीमी आवाज मे) हे सखि ! उद्दण्डकाल स्वरूप तमाल वृक्ष से ढके हुए इस घोर वन मे श्रीकृष्ण की प्रचण्डता अतिशय असह्य हो रही है, इसलिए हम हार को रक्षा के लिए कुछ देर तक सौम्य—शान्त हो जाती हैं ॥१४३॥

विशाखा—कैसे सौम्य हो सकती हैं ? ॥१४४॥

मधुमङ्गल—ही-ही, अभिमान-भरी गोपिका हार गई (यह कहकर नाचने लगता है) ॥१४५॥

श्रीराधिका—अरी मुग्धे ललिते ! क्या तू आज भगवान् सूर्यदेव की उपासना भूल रही है ? ॥१४६।

मधुमङ्गल—देवि राधिके ! तुम ही केवल उपासना करती हो—इस गर्व को छोड़ दो, हम भी उपासना करते हैं ॥१४७॥

विशाखा—आर्य वह कैसे ? ॥१४८॥

मधुमङ्गल—भोदि विसाहे ! सुणाहि। गन्धपुप्फपुरस्सर णिउञ्जवेदिआमज्झे उज्जाअरणभूइट्ठं तदेकग्गचित्तदाए कङ्कणणेउराण सद्दोवासणम्। [भवति विशाखे ! शृणु। गन्धपुष्पपुरःसरं निकुञ्जवेदिकामध्ये उज्जागरणभूयिष्ठं तदेकाग्रचित्ततया कङ्कणनूपुराणां शब्दोपासनम्।] ॥१४९॥

(सर्वाः स्मयन्ते)

मधुमङ्गल —(सश्लाघम् संस्कृतेन)

आडम्बरोज्ज्वलगतिर्वरकुञ्जरक्तः,
स्वैरी परिस्फुरितपुष्करचारुहस्तः।
धन्यासि सुन्दरि यया मृदुलं हसन्त्या,
बन्दीकृतस्तरलबल्लवकुञ्जरोऽयम् ॥१५०॥२१॥

श्रीकृष्ण —प्रिये !

रुचिरसहचरीणां वीथिभिः सेव्यमाना,
मदमृदुलमरालीरम्यलीलागतिश्री।

मधुमङ्गल—हे विशाखे ! सुनो, गन्ध-पुष्पमयी निकुञ्ज वेदिका में जाकर अतिशय जागरण करके वहाँ एकाग्रचित्त से कङ्कण-नूपुरों की उपासना किया करते हैं ॥१४९॥

(यह सुनकर सब हँस पड़ते हैं)

मधुमङ्गल—(प्रशंसा सहित) घमण्ड से जिनकी गति उज्ज्वल है, जो कुञ्जगृह में घिरी हुई हैं और स्वेच्छाचारी हैं एवं जिनके हाथ में लीला कमल सुशोभित है, हे सुन्दरि ! ऐसी आप धन्य हैं। क्योंकि मृदुल हास्य द्वारा इस चञ्चल प्रियतम गजराज को तुमने बाँध लिया है अथवा इसे बन्दीजन—स्तुति करने वाला बना लिया है ॥१५०॥

श्रीकृष्ण—हे प्रिये ! हे चन्द्रवदनि ! तुम मनोहर सखियों के यूथ में सेवित होकर मतवाली हंसी की भाँति रमणीय लीला-गति की शोभा विस्तार कर रही हो। जिससे मेरी निद्रा उचाट हो चुकी है और तुम शरद् ऋतु की भाँति सब लोकों की अथवा नेत्रों की सम्पत्तिशोभा प्रसारित कर रही हो। इस

शशिमुखि गतनिद्रं कुर्वती मामिदानीं,
शरदिव भवतीयं लोकलक्ष्मीं तनोति ॥२२॥

तदर्वाचीनेन हारिण वन्यभृङ्गारेण भवतीमलंकुर्वाणः शारदीं श्रियमवन्ध्ययामि ॥१५१॥

मधुमङ्गलः—(संस्कृतेन)

बलानुज कलापिनामवकलय्य कालज्ञतां,
मनः किल बलीयसी मम बिभर्ति विस्मेरताम् ।
यदद्य शरदागमे तव विलोक्य लीलोत्कतां,
किरन्ति रुचिमण्डलीजुषममी शिखण्डावलीम् ॥१५२॥२३॥

श्रीकृष्णः—सखे ! साधु लक्षितं तन्मौलिकल्पनाय चन्द्रकानाहरामि । (इति वटुना सह तथा करोति) ॥१५३॥

श्रीराधिका—सहि ललिदे ! जस्थ दिण्णभारा अहं णिच्चिन्तम्हि, सा तुमं जइ सोम्मासि, तदो जाव कण्हो दूरे गदो दाव कङ्केल्लिकुडङ्गं पवेसिस्सम् । [सखि ललिते ! यत्र दत्तभाराह निश्चिन्तास्मि, सा त्वं यदि सौम्यासि, ततो यावत्कृष्णो दूरे गतः, तावत्कङ्केलिकुञ्जं प्रवेक्ष्यामि । (इति तथा स्थिता) ॥१५४॥

लिए नवीनतम मनोहर वन्य-वेश द्वारा तुम्हें अलंकृत कर मैं शरद् कालीन शोभा की सफलता विधान करता हूँ ॥१५१॥

मधुमङ्गल—हे कृष्ण ! मोरों की समय के अनुसार कर्त्तव्य-बुद्धि को देखकर मेरे मन को बरबश अचम्भा हो रहा है । क्योंकि आज शरद् ऋतु के आने पर तुम्हारी क्रीड़ा उत्सुकता देखकर इन समस्त मोरों ने परम शोभामय अपनी पुच्छ-श्रेणी को फेंक दिया है । १५२॥

श्रीकृष्ण—मित्र तुमने ठीक देखा है, आओ चलें, मुकुट बनाने के लिए मोर-चन्द्रिकाओं को ले आवें । (यह कहकर मधुमङ्गल के साथ मोर-चन्द्रिका चुनने लगते हैं) ॥१५३॥

श्रीराधिका—सखि ललिते ! मैं जिस पर भार अर्पण कर निश्चिन्त हो रही हूँ । यह तुम यदि सौम्य हो रही हो तो कृष्ण जब तक दूर चले गए हैं तब तक चलो हम भी अशोक कुञ्ज में चलती हैं ॥ (यह कहकर अशोक-कुञ्ज में जाकर छिप जाती हैं ।) ॥१५४।

श्रीकृष्ण —सखे ! निर्मित प्रचलाक-शलाकाभि किरीटं खञ्जरीट-नेत्राया सीमान्तसीमनि विन्याससौभाग्यमालम्बताम् । (इति परिक्रम्य) ललिते! क्व सा ते प्रियसखा ? ॥१५५॥

ललिता—अत्तणो घर गदा । (आत्मनो गृह गता) ॥१५६॥

श्रीकृष्ण —निष्ठुरे ! तिष्ठ तिष्ठ, तूर्णमद्य ते धूर्तताग‌र्वमपहरामि । (इति समन्तात्पश्यन् सहर्षम्) वयस्य! पश्य, सहसैयमवाप्ता गौराङ्गी प्रिया । (इत्युपसर्पति) ॥१५७।

मधुमङ्गल —(विहस्य) भो वअस्स ! चक्कवादेण तिणावट्टेण भामिदस्स दे अज्जवि णूणं भमो ण गदो । पेक्ख, एसा पीदपराअपुञ्जपिञ्जरिदा थलणलिणी । [भो वयस्य ! चक्रवातेन तृणावर्त्तेन भ्रामितस्य तेऽद्यापि नून भ्रमो न गत । प्रेक्षस्व एषा पीतपरागपुञ्जपिञ्जरिता स्थलनलिनी ।]

श्रीकृष्ण —(निरूप्य) सखे! सत्य ब्रवीषि ।(इत्यग्रतो गत्वा) भो सखे!

श्रीकृष्ण—सखे ! मोर चन्द्रिकाओ से मुकुट तो मैंने बना लिया है, अब तुम उस खञ्जनाक्षी राधा के सीमान्त मे इसे सजाकर शोभा सम्पादन करो। (यह कहकर लौट आते है) ललिते ! तुम्हारी प्रिय सखी कहा है ? ॥

ललिता—वह अपने घर चली गई है ॥१५६॥

श्रीकृष्ण—अरी निष्ठुरे ! ठहर जा, अभी तुम्हारी धूर्तता का अभिमान चूर्ण करता हूँ । (यह कहकर चारो ओर देखकर आनन्द सहित) मधुमङ्गल ! देख, यह मिल गई वह प्रिया गौराङ्गी । (यह कहकर निकट जाते है) ॥१५७॥

मधुमङ्गल—(हँसकर) अरे मित्र ! चक्रवात रूप तृणावर्त्त दैत्य ने जो तुम्हे चक्र दिया था, अभी तक वह चक्कर तेरा नष्ट नहीं हुआ है । देख तो सही, यह पीले रग की पराग पुञ्ज से आवृत्त स्थल-नलिनी है, (न कि राधा) ॥१५८॥

श्रीकृष्ण—(ध्यानपूर्वक देखकर) सखे ! तू सत्य कहता है । (यह कहकर आगे जाते हैं) हे मित्र यहाँ देख, अब तो मैंने निश्चय ही राधा को प्राप्त

पश्य कुङ्कुमाङ्गी निष्टङ्कितमिदानीमेव लब्धा। (इति दिधीर्षुः प्रधावति)॥

मधुमङ्गल:—(सहस्ततालमुच्चैर्विहस्य) भो पिअ वअस्स ! एत्थ तुज्झ अवराहो णत्थि। किंतु पेम्मलहरीए जेव्व, जाए सव्वा वुन्दाडई राहिआ णिम्मिदा। [भो प्रिय वयस्य ! अत्र तवापराधो नास्ति, किंतु प्रेमलहर्या एव, यया सर्वा वृन्दाटवी राधिका निर्मिता।] ॥१६०॥

श्रीकृष्ण:—(सवैलक्ष्यं विलोक्य) कथमुत्फुल्लेयं सहचरी ? (पार्श्वतो-विलोक्य) ललिताङ्गि ललिते ! इतो वाम्यपर्वतादवरोहन्ती कान्तारमितस्य दवस्व मे हस्तावलम्बम् ॥१६१॥

ललिता—(स्मित्वा) सुन्दर! विसाहं पुच्छेहि। एसा क्खु णं जाणादि। [सुन्दर ! विशाखां पृच्छ। एषा खल्वेनां जानाति] (इति संज्ञा नाटयति) ॥

श्रीकृष्ण:—(सहर्षमपवार्य) सखे ! पश्य विशाखायाः परोक्षं किंचि-त्तिरोऽवलम्ती ललिता भ्रूसंज्ञया कदम्बकुञ्जं सूचयति। तदत्र नास्ति मना-

---

कर लिया है। (ऐसा कहकर पकड़ने के लिये दौड़ते हैं) ॥१५६॥

मधुमङ्गल—(ताली बजाकर जोर से हँसते हुए) अरे प्रिय मित्र ! तुम्हारा इसमें कुछ दोष नहीं है, दोष है प्रेम की तरङ्गों का। जो यह समस्त वृन्दावन तुम्हें राधा का ही बना हुआ दीख रहा है-सर्वत्र राधा ही राधा दीख रही है ॥१६०॥

श्रीकृष्ण—(विस्मयपूर्वक देखकर) यह क्या ! सहचरी (पीली कट-सरैया) प्रफुल्लित हो रही है ! (पार्श्व में देखकर) हे मनोहराङ्गि ललिते ! तुम प्रतिकूलता रूपी पर्वत से नीचे उतर आओ और मुझ प्रिया-विहीन को प्रिया को खोजने में हाथ बटाओ ॥१६१॥

ललिता—(मुसकराकर) हे सुन्दर ! विशाखा से पूछो, यह यही जानती है (यह कहकर हाथ का इशारा देती है) ॥१६२॥

श्रीकृष्ण—(हर्ष पूर्वक हाथ की ओट में) मित्र ! देख, विशाखा से छिपाकर ललिता टेढ़ी चाल में भृकुटी के इशारे से कदम्ब कुञ्ज बता रही है। इसलिये इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। (घूमकर गर्व सहित मुसकराते

गपि सदिग्धता। (इति परिक्रम्य सदर्पस्मितम्) प्रिये! विलोकितासि निष्क्रम्यताम्। (इत्युद्ग्रीविकां कृत्वा सहासम्) ललिते! साधु साधु. जातं तव धूर्त्तता-लतिकायाः साफल्यमिदम् ॥१६३॥

मधुमङ्गल—वअस्स! एसा मए जेव्व लद्धा तुह राहा। (वयस्य! एषा मयैव लब्धा तव राधा) ॥१६४॥

श्रीकृष्ण.—(सकौतुकम्) वयस्य! ललितेव कच्चिद विश्रम्भणीयभणितिर्नासि ॥१६५॥

मधुमङ्गल:—गाअत्तीए सवामि। [गायत्र्यै शपामि] ॥१६६।

श्रीकृष्ण.—(सविश्रम्भम्) सखे! क्व सा क्व सा? दर्शय शीघ्रम् ॥

मधुमङ्गल.—तुम्ह हत्थगद जेव्व एणं करोमि। ता देहि मे पारितोसिअम्। [तव हस्तगतामेवैना करोमि। तद्देहि मे पारितोषिकम्] ॥१६८॥

(कृष्ण सश्लाघ मालतीमालया मण्डयति।)

मधुमङ्गल—घेप्पिज्जउ एसा। (गृह्यतामेषा) (इति राधा' इति वर्णद्वयीभाज पत्रलेखामर्पयति) ॥१६९॥

हुए) प्रिये मैंने तुझे देख लिया है, बाहर निकल आओ। (यह कहकर गर्दन ऊँची उठाकर हँसते हुए) ललिते! ठीक है, ठीक है, तुम्हारी धूर्त्तताबेलि में फल लगा है ॥१६३॥

मधुमङ्गल—मित्र! यह ले मैंने तुम्हारी राधा को ढूण्ढ लिया है ॥

श्रीकृष्ण—(कौतुकपूर्वक) सखे! ललिता की तरह तू अविश्वस्त वादी मत होना ॥१६५॥

मधुमङ्गल—गायत्री की शपथ खाता हूँ ॥१६६॥

श्रीकृष्ण—(विश्वास सहित) मित्र! कहा है, कहाँ है? जल्दी दिखा।

मधुमङ्गल—तुम्हारे हाथो मे देता हू। ला कुछ पारितोषिक (इनाम) दे ॥१६८॥

(श्रीकृष्ण प्रशंसा करते हुए मालती माला से मधुमङ्गल को सजाते हैं)

मधुमङ्गल—लो पकड़ो। (यह कहकर "राधा' यह दो वर्ण लिखा हुआ एक पत्र हाथ मे देता है) ॥१६९॥

श्रीकृष्ण —(स्मित्वा) सखे ! सत्यमनेनापि भवदर्पितेन तर्पितोऽस्मि । यत,

क्रमादक्ष्णोः पक्ष्मणोः परिसरभुव या श्रवणयो-
मनागध्यारूढ प्रणयिजन-नामाक्षरपदम् ।
कमप्यन्तस्तोष वितरदविलम्बादनुपद
निसर्गाद्विश्वेषा हृदयपदवीमुत्सुकयति ॥१७०॥

(इति परावृत्य दक्षिणतो विकसन्तमशोकमवलोक्य सविस्मयम्)—

शङ्के सकुलितान्तराद्य निबिडक्रीडानुबन्धेच्छया
कुञ्जे वञ्जुलशाखिन शशिमुखी लीना वरीवर्त्ति सा ।
नो चेदेष तदङ्घ्रिसङ्गमविनाभावादकाले कथ
पुष्पामोदनिमन्त्रितालिपटलीस्तोत्रस्य पात्रीभवेत् ? ॥

इति परिक्रामन्नुद्ग्रीविकया राधा दृष्ट्वा सानन्दम्) प्रिये ! कथ्यतामिदानीं का वार्त्ता ? ॥१७१॥२५॥

श्रीकृष्ण—(मुसकराकर) ठीक है तुम्हारे द्वारा दी हुई इस वस्तु से मैं परितृप्त हो गया हू क्योंकि—

सखे! प्रेमीजनो के नामाक्षर नेत्रो और कानो से देखने-सुनने से तत्क्षण किस की सन्तोष वृद्धि नही होती है ? अधिक क्या कहूँ, प्रेमीजनो के नामाक्षर स्वभावत समस्त जगत् के हृदय स्थल को उत्सुकता प्रदान करते हैं ।।

(यह कहकर घूमते हुए दक्षिण दिशा मे अशोक वृक्ष को प्रफुल्लित देखकर आश्चर्यपूर्वक कहते हैं)—

मैं समझता हू आज चन्द्रवदनी श्रीराधा रहस्यमयी क्रीडा करने की इच्छा से व्याकुल चित्त होकर अशोक-कुञ्ज मे छिप रही हैं । यदि ऐसा न होता तो राधा के चरणो के स्पर्श के बिना यह अशोक वृक्ष कैसे अपनी पुष्प सौरभ के भ्रमरो के झुण्डो को आमन्त्रित कर रहा है और उनके द्वारा कैसे प्रशसनीय हो रहा है ।।

(यह कह घूमकर और गर्दन को ऊँचा उठाकर श्रीराधा को देखते हुए आनन्दपूर्वक कहते है) हे प्रिय ! कहो अब क्या बात है ? ।।१७१।।

श्रीराधिका —(सप्रणयेर्ष्यम्) तुअतो भएण जेव्व पलाईदम्हि। एत्थ वि म विडम्बेदुं लद्धोसि ? [त्वत्तो भयेनैवपलायितास्मि। अत्रापि मा विडम्बयितुं लब्धोऽसि ?] ॥१७२॥

श्रीकृष्ण —(सात्मश्लाघम्) दृष्टा मे गभीर पाटवारभटी। यत्तिरोधानविद्यापहारेण निर्जिता यूयम् ॥१७३।

ललिता —(सस्कृतेन) हन्त भो व ड्गात्मजितश्लाघिन्!

अस्मिन्नेकपरोजसम्भवकृतस्तोत्रोऽसि वृन्दावने
राधा भूरिहिरण्यगर्भरचितप्रत्यङ्गकान्तिस्तवा।
हस्तोदस्तमहीधरस्त्वमसकृत्प्रान्तभङ्गिच्छटा-
कृष्टोच्चैर्धरणीधरा मम सखी तद्वीर माहङ्कृथा ॥१७४॥२६॥

श्रीकृष्ण —(सस्मित) ललिते! निलीने मयि विलोकिते नात्थ्यमद्य विकत्थनं भवतीनां निराकरवाणि। १७५॥

श्रीराधिका- (प्रणय ईर्ष्या सहित) मैं तुम्हारे भय से ही भाग आई थी तुम यहां भी मेरी विडम्बना करने आ गये हो ?। १७२॥

श्रीकृष्ण—(अपनी प्रशसा सहित) देखा है तुमने मेरी निपुणता का गम्भीर बल, जिससे छिपने की विद्या को अपहरण कर मैं ने तुम्हे पराजित कर दिया है ॥१७३॥

ललिता—ओहो! तुम कथन मात्र से ही अपनी प्रशसा कर रहे हो—

देखो, इस वृन्दावन मे केवल एक ब्रह्मा ने तुम्हारी स्तुति की है, जिससे तुम्हे इतना अहकार हो रहा है। किन्तु अनेक अनेक ब्रह्मा हमारी श्रीराधा के अङ्ग प्रति अङ्ग की कान्ति की स्तुति किया करते है तुम एक बार मात्र हाथ पर गोवर्धन धारण कर अभिमान कर रहे हो, परन्तु तुम गोवर्धनधारी को हमारी सखी श्रीराधा ने अपने नेत्र कोण से कितने बार आकर्षित किया है। अतएव हे वीर! और अधिक गर्व न करो ॥१७४॥

श्रीकृष्ण—(मुसकराते हुए) ललिते! मैं अब तुम्हारी दृष्टि से दूर हो जाता हू, और तुम्हारे सामने मिथ्या अहकार नही करता हू ॥१७५॥

सर्वाः—एव्वं होदु [एव भवतु।] ॥१७६॥

श्रीकृष्ण—(तिरोभवन् स्वगतम्) इयमुत्तरेतश्चञ्चरीकसंचयरोचिरुल्लासि-श्यामलपलाशगुच्छा दूरतस्तापिच्छविच्छोलि। तदेषां सवर्णतया सखीभावरागा मामत्र सगोपयिष्यति (इति सवयस्यो निष्क्रान्त.।) ॥१७७॥

ललिता:—हला राहे! कण्हस्स अदसणेण मा उत्तम्म। णं दिट्ठं जेव्व जाणेहि। ता विजुत्ता अम्हे आलम्बदो उपसप्पम्ह। [हला राधे! कृष्णस्यादर्शनेन मोत्ताम्य, एन दृष्टमेव जानीहि, तद्वियुक्ता वय सर्वत उपसर्पाम] ॥

श्रीराधिका—जधा भणादि पिअसही। [यथा भणति प्रियसखी ॥

(इति तिस्रस्तथा कुर्वन्ति।)

श्रीराधिकाः—(उत्तरा वनलेखामासाद्य सविमर्शम्)णूणं कण्हो एत्थ पत्तो हुविस्सदि, जं जं पेक्खन्तो दक्खिणं पइट्ठो। [नून कृष्णोऽत्र प्राप्तो भविष्यति, यन्मा प्रेक्षमाणो दक्षिण प्रविष्ट ।] (इति परिक्रम्य सस्कृतेन) ॥१८०॥

सब सखी कहती हैं—ठीक है ऐसा ॥१७६॥

श्रीकृष्ण—(छिपकर मन ही मन मे) यह जो उत्तर दिशा मे भ्रमरो की कान्ति सदृश काले वर्ण के पत्रो वाले तमाल वृक्ष हैं, जिन्होने मेरी तरह काला वर्ण ग्रहण कर मानो मेरे साथ सख्य भाव प्राप्त किया है, ये मुझे छिपा सकते हैं। (यह कहकर मधुमङ्गल के साथ चले जाते है) ॥१७७॥

ललिता—हे राधे! श्रीकृष्ण को न देखकर आतुर मत हो, वह तो देखे हुये ही जान। इसलिए हम अभी जाकर वन मे चारो तरफ उन्हे ढूण्ढ लाती हैं ॥१७८॥

श्रीराधिका—जैसे तू कहे प्रिय सखि ॥१७६॥

(यह कहकर तीनो श्रीकृष्ण को ढूण्ढने लगती है)

श्रीराधिका—(उत्तर दिशा मे वन की ओर जाकर मन-मन मे सोचने लगती हैं) निश्चय ही श्रीकृष्ण यहा प्राप्त होंगे, क्योकि मुझे देखकर वे दक्षिण दिशा को गये थे। (ऐसा कहकर लौटते हुए कहती हैं)—॥१८०॥

स हरिरिति भवतीभि स्वा तहारी हरिण्यो
हरिरिह किमपाङ्गातिथ्यसङ्गी व्यधायि।
यदनुरजितवशीकाकलीभिर्मुखेभ्य
सुखतृणकवला व सामिलीढा स्खलन्ति? । १८१। २७॥

(पुरोऽभ्युपेत्य समन्तात्पश्यन्ति सस्कृतेन)

यदगलितमरन्द वर्त्तते शखिवृन्द
मिलति च यदलब्धप्रेमघूर्णा खगाली।
तदिह न हि शिखण्डोत्तसिनी सा प्रविष्टा,
निखिलभुवनचेतोहारिणी कापि विद्या ॥१८२॥२८॥

(इति सभ्यत पारिक्रम्य सस्कृतेन)

विघूर्णन्त पीप्य न मधु लिहतेऽमी मधुलिह
शुकोऽय नादत्ते कलितजडिमा दाडिमफलम्।
विवर्णा पर्णाग्र चरित हरिणीय न हरित
पथानेन स्वामी तदिभवरगामी हरिरगात् ॥१८३॥२९॥

हे हरिणिगण ! क्या आपने इस तरफ मनोहारि श्रीकृष्ण को अपने नेत्रो का अतिथि किया है-अपने नेत्रा से उन्हें देखा है ? क्योकि मनाहर वशी ध्वनि से तुम्हारे मुँह से तृण ग्रास अधूरे चर्वित होकर गिर पड हैं।१८१ २७।

(आगे जाकर चारा ओर देखते देखते)

जब इन समस्त वृक्षो से मकरन्द नही झर रहा है और पक्षीगण भी प्रेमाविष्ट न होकर परस्पर मिल बैठे हैं तब निखिल विश्वमोहनकारिणी मोरमुकुट धारिणी कोई एक अनिर्वचनीय विद्या (अर्थात् कृष्ण) ने इस तरफ प्रवेश नही किया है ॥ (यह कहकर वाम दिशा मे घूम जाती हैं) ॥१८२-२८।

जब ये समस्त मधुकर घूर्णित चित्त होकर पुष्प मकरन्द पान नही कर रहे हैं और यह शुक पक्षी भी स्तम्भित दशा को प्राप्त हो रहा है एव दाडिम फल को नहीं खा रहा है तथा हरिणी विवर्ण होकर इन हरी हरी कोपला को नही भक्षण कर रही हैं, तब निश्चय ही मत्त गजेन्द्रगति-गामी मेरे स्वामी इसी मार्ग से गये हैं ॥१८३॥२९॥

(पुरो गत्वा) एसा वामदो कालो तमालाअली दीसइ [एपा वामत. काली तमालावली दृश्यते] (इति साचिकधर निभाल्य सस्फुलेन)

नैसर्गिकाण्यपि निरर्गलचापलानि,
हित्वाद्य संकुलतनुः पुलकाङ्कुरेण।
दृष्टिं चिरेण परिरब्धतमालशाखा.
शाखामृगीततिरियं किमधस्तनोति? ॥३०॥

ता एसा मञ्जुला ताविञ्छणिउञ्जसालिआ पेक्खिदव्वा। [तदेषा मञ्जुला तापिच्छनिकुंजशालिका प्रेक्षितव्या] ॥१८४॥

(प्रविश्य)

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्) सत्यमस्याश्चित्तचत्वरसंगत्वरी प्रेमावलिरेव मदुद्देशदूती, यदविलम्बितं विज्ञातभूयिष्ठोऽस्मि सखरा., ततः स्थाणुरिव निश्चलस्तिष्ठामि। (इति तथा स्थितः) ॥१८५॥

श्रीराधिकाः—(मूर्धानमानमय्य कृष्ण पश्यन्ती सव्याजम्, एत्थ कण्हो णत्थि। [अत्र कृष्णो नास्ति] ॥१८६॥

(आगे जाकर) बाईं दिशा मे ये सब तमाल वृक्षावलि दीख रही है, (यह कहकर बाईं ओर देखकर)—

वन्दर अपनी स्वाभाविक अखण्ड चपलता को छोडकर एव पुलकित होकर तथा अपने अङ्गो को सकुचित कर तमाल की शाखाओं को आलिङ्गन करते हुए न जाने आज क्यो नीचे को नेत्र झुकाये हुए है ? इस मनोहारिणी तमाल कुञ्जशालिका को देखना चाहिये ॥१८४॥३०॥

(श्री कृष्ण प्रवेश करते है)

श्रीकृष्ण—(अपने मन मे) यह सत्य है कि श्रीराधा के अतिशय चातुर्यपूर्ण हृदय को मिलाने वाली प्रेमावली ही मेरे उद्देश्य की दूती है, जिसके द्वारा शीघ्र ही मैंने बहुत कुछ चतुराई सीखी है। अब मैं शाखाहीन वृक्ष (ठोठ) की तरह निश्चल भाव से बैठ जाता हूँ। (यह कहकर निश्चल भाव से अवस्थान करते है) ॥१८५॥

श्रीराधिका—(श्रीकृष्ण को देखते हुए मस्तक झुकाकर छल सहित)—यहाँ तो कृष्ण नही हैं ॥१८६॥

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्) दिष्ट्या न दृष्टोऽस्मि ॥१८७॥

श्रीराधिका:—(सस्मितम्) एसो णीलमणिकीलो जेव्व रेहदि। [एष नीलमणिकील एव राजते] ॥१८८॥

श्रीकृष्णः—नूनं घनान्धकारतो नाहं प्रत्यभिज्ञातः ॥१८६॥
श्रीराधिका:—अम्महे, उज्जलदा इन्दणीलकीलस्स ! [अहो, उज्ज्वलतेन्द्रनीलकीलस्य !] ॥१९०॥

श्रीकृष्णः—(सहर्षमपवार्य)

रे ध्वान्तमण्डलसखे शरणागतोऽस्मि
विस्तारयस्व तरसा निजवैभवानि।
अभ्यासमभ्युपगतापि मुहुर्यथासौ,
नावैति मां नवकुरङ्गतरङ्गनेत्रा ॥१९१॥३१॥

श्रीराधिका—(स्मित्वा) अच्छरिअं अच्छरिअम्। इमस्स णीलोवलस्स अन्तराले पडिविम्बिदा चन्दाअली लक्खीअदि। [आश्चर्यमाश्चर्यम्। अस्य नीलोपलस्यान्तराले प्रतिबिम्बिता चन्द्रावली लक्ष्यते] ॥१९२॥

श्रीकृष्ण— मन मन मे) अच्छा हुआ राधा ने मुझे नहीं देखा ॥१८७

श्रीराधिका—(मुसकराते हुए) यह तो नीलमणि की लाठी पड़ी है ॥

श्रीकृष्ण—निश्चय ही घोर अन्धकार के कारण मैं इसमे पहचाना नहीं गया हूं ॥१८९॥

श्रीराधिका—अहो! इन्द्रनीलमणि की लाठी की कैसी उज्ज्वलता है? ॥१९०॥

श्रीकृष्ण—(हर्ष सहित हाथ की ओट मे) हे अन्धकार मण्डल सखे! मैंने तुम्हारी शरण ली है। तुम अपने वैभव (गाढ अन्धकार) का शीघ्र विस्तार करो। जिससे नवीन मृगलोचन राधा बारम्बार निकट आकर भी मुझे पहचान न सके ॥१९१॥

श्रीराधिका—(मुसकराकर) यह कैसा आश्चर्य? कैसा आश्चर्य!! इस नीलमणि मे चन्द्रावली प्रतिबिम्बित हो रही है ॥१९२॥

श्रीकृष्णः—(स्मितं कृत्वा स्वगतम्) कथं संविदाना खलु नर्मालिनोति ? (इत्युत्थाय प्रकाशम्) प्रिये, सत्यमात्थ। यदयं त्वदास्यचन्द्रो मे हृद्‌वृत्तितरङ्गेषु बिम्बितश्चन्द्रावली बभूव ॥१९३॥

श्रीराधिका:—अम्महे, कथं तुमं जेव्व ? तदो णेदं अच्चरिअम् ॥ [अहो, कथं त्वमेव ? ततो नेदमाश्चर्यम्] ॥१९४।

श्रीकृष्णः—विलासिनी ! किमनेन विश्लेषसंपाद्येन केलिनर्मणा ? तदेहि, दानगन्धिना कुसुमवृन्देन पूर्णमूर्धनि सप्तपर्णकुञ्जे क्षणं विश्रामसौख्यमनुभवावः ॥१९५॥

(इति तथा स्थितौ)

ललिता—विसाहे ! पेक्ख, कण्हेण संगदा पिअसही, जं तस्स पदेहिं सम्मिलिदाइं एदाए पदाइं दीसन्ति। [विशाखे ! प्रेक्षस्व, कृष्णेन संगता प्रियसखी, यत्तस्य पदैः सम्मिलितान्येतस्याः पदानि दृश्यन्ते] ॥१९६॥

श्रीकृष्ण—(मुसकराते हुए मन ही मन में) कैसे जान-बूझकर यह परिहास कर रही है ? (यह विचार खड़े होकर स्पष्ट बोले)—हे प्रिये ! तुमने सच कहा है। तुम्हारा मुखचन्द्र ही मेरी चित्त-वृत्ति रूप तरङ्गों में प्रतिबिम्बित होकर चन्द्रावली हो रहा है ॥१९३॥

श्रीराधिका—अहो ! क्या तुम हो ? फिर तो कोई आश्चर्य नहीं ॥

श्रीकृष्ण—हे विलासिनी ! इस विच्छेद-जनक केलि-परिहास का क्या प्रयोजन ? आओ, हस्ति-मद सुगन्धि के समान सौरभ-शाली, कुसुमों से सुशोभित मस्तकवाली सप्तपर्ण कुंज में चलकर थोड़ी देर सुखानुभव करें।।

(यह कहकर दोनों वहां चले जाते हैं)

ललिता—विशाखे ! देखो, प्रियसखी श्रीराधा श्रीकृष्ण के साथ मिली हैं, क्योंकि कृष्ण के पद चिन्हों के साथ साथ प्रियसखी के पदचिन्ह दीख रहे हैं ॥१९६॥

विशाखा—(पदाङ्कानुसृत्य सस्कृतेन)

प्रियसखि परिरम्भानाभिनुत्यानुबन्धा-
दसहृशदिनिवेशास्रमर्मलौल्योज्झितानि ।
इयमविषमनन्दन्यासतो जल्पगोष्ठीं,
पदनतिरिह राधाकृष्णयोरातनोति ॥१६७। ३२॥

श्रीकृष्ण —प्रिये ! नातिदूरे कोमलोऽय काञ्चीध्वनिरुदञ्चति, तत-स्तूष्णीं शृणुव ॥१६८॥

विशाखा—हला ! विटियण्णवल्लिमण्डलकुण्डलिदे वि वणखण्डे पिअ-सहीए कध कण्हो तुरिद लद्धो ? [हला ! विस्तीर्णवल्लिमण्डलकुण्डलितेऽपि वनखण्डे प्रियसख्या कथ कृष्णस्त्वरित लब्ध ?] ॥१६६॥

ललिता—
गरुअ रमई जहिं जो, ण तस्स सो होइ दुल्लहो भुअणे ।
मउलंतम्मिरसाले, कलकण्ठी तक्खण मिलइ ॥
[गुरु रमते यत्र यो तस्य स भवति दुर्लभो भुवने ।
मुकुलायमानरसा न कलकण्ठी तत्क्षण मिलति] ॥२००॥३३॥

विशाखा—(पदचिन्हो का अनुसरण करत हुए) हे प्रिय सखि ! इन पदचिन्हो से श्रीराधा-कृष्ण का आलिङ्गन सूचित हो रहा है । क्योकि ये पदचिन्ह एक दूसरे के आमने-सामने दिखाई दे रहे है । यहा नही दिखाई दे रहे हैं, इसलिये परिहास चपलता द्वारा पराजय का ज्ञान होता है और यहाँ बिलकुल स्पष्ट मन्द-मन्द पद-विन्यास हो रहा है जिससे परस्पर कथोर-कथन प्रकाशित होता है ॥१६७॥३२॥

श्रीकृष्ण —हे प्रिये ! यहाँ देखो, पास ही मन्द मन्द किङ्किणी की ध्वनि सुनाई दे रही है । अतः हम इसे चुपचाप होकर सुने ॥१६८॥

विशाखा—हे ललिते ! यह वन-खण्ड विस्तीर्ण लता-जाल से आवृत्त हो रहा है, प्रिय सखी राधा ने कैसे यहा श्रीकृष्ण को इतनी जल्दी पा लिया है ? ॥१६६॥

ललिता—सखि ! जिस स्थान पर जो व्यक्ति अधिरूढ से विचरण करता है, वह स्थान जगत् मे उस व्यक्ति के लिये दुर्गम नहीं हुआ करता । देखो, आम के मुकलित होते ही कोयलें वहाँ झट पहुँच जाती हैं ॥२०० ॥३३॥

श्रीकृष्णः—प्रिये ! प्रत्यासन्ने तव सख्यौ। तदुभे परिहसिष्यन्नन्तरितो भवामि (इति तथा स्थितः) ॥२०१॥

ललिता—(परिक्रम्य पुरो राधामालोक्य च सहर्षम्) हला ! कुदो सो णाअरो ? [हला ! कुतः स नागरः ?] ॥२०२॥

श्रीराधिका—(सस्मितम्) का क्खु तं जाणादि ? [का खलु तं जानाति ?] ॥२०३॥

ललिता—(सनर्मस्मितं संस्कृतेन)

कचा मुक्ता मुक्तावलिरपि ययौ निर्गुणदशां
विशुद्धं ते दन्तच्छदयुगमशुद्धान्तहृदये ।
अबन्धासीत्काञ्ची तदिह सखि युक्तासि हरिणा
सतीनां वः कृत्यं किमुचितमिदं गोकुलभुवाम् ? ॥२०४-३४॥

श्रीकृष्णः—(पुरोऽनुसृत्य) ललिते ! नाहमपराध्यामि सख्यै । ते संगोपितोऽस्मि ॥२०५॥

श्रीकृष्ण—प्रिये ! देखो, तुम्हारी दोनों सखियां निकट आ पहुंची हैं अतः उनके साथ परिहास करने के लिये मैं छिप जाता हू। (ऐसा कहकर श्रीकृष्ण वहां छिपकर अवस्थान करते हैं) ॥२०१॥

ललिता—(घूमकर सामने श्रीराधा को देखकर आनन्दपूर्वक कहती है)—कहां है वह नागर ? ॥२०२॥

श्रीराधिका—(मुसकराकर) कौन जानता है, उसे ? ॥२०३॥

ललिता—(परिहास पूर्वक मुसकराते हुए) हे दान्तहृदये ! (*गाढालिगन द्वारा समर्दन-प्राप्त हृदये !*) तुम्हारे सब केश खुल रहे हैं और मुक्तावलि भी टूट रही है। तुम्हारे दोनों अधरोष्ट ताम्बूल की लाली से रहित दीख रहे हैं एवं कटि मे काञ्ची भी बन्धन रहित हो रही है इसलिए हे सखि! मालूम होता है तुम श्रीकृष्ण से सम्मिलित हुई हो। कुछ भी हो, गोकुलवासिनी तुम जैसी सती-स्त्रियों के लिए ऐसा करना उचित है क्या ? २०४-३४

श्रीकृष्ण—(आगे आकर) ललिते ! मेरा कुछ दोष नही है, तुम्हारी सखी ने ही मुझे छिपा रखा है ॥२०५॥

ललिता—किंत्ति पिअसहीए सगोवणिज्जो तुमम् ? [किमित प्रिय-सख्या संगोपनीयस्त्वम् ?] ॥२०६॥

श्रीकृष्ण.—सुन्दरि ! निजकन्दर्पकला-प्रागल्भ्यस्यापलापाय । (इत्यङ्गुल्या दर्शयन्) पश्य पश्य,

कठोरग्रं मूं यो व्रणमजनयद्वक्षसि नखै-
बलादाक्रामन्ती व्यकिरदपि मां पिञ्छरचनाम् ।
विकृष्य छिन्नाङ्गीमकृतवनमालां च रुचिरा-
मिदानीं जानीते न किमपि पुरस्ते प्रियसखी ॥२०७॥३५॥

श्रीराधा—(सापत्रपम्) हुं, अप्पणा कदुअ परं दूसेदुं पण्डिदोसि । [हुँ, आत्मना कृत्वा परं दूषयितुं पण्डितोऽसि] ॥२०८॥

जड़िला फुडमञ्जरीहिं—[स्फुटमञ्जरीभिः] (इत्यर्धोक्ते) ॥२०९॥

श्रीराधिका-(सत्रासम्)ललिदे ! अह्माहिदं अह्माहिदम्। भअकरी बुड्ढिआ। ता तुरिद पलाएम्ह । [ललिते ! अत्याहितमत्याहितम् । भयंकरी वृद्धा,

---

ललिता—हमारी प्रिय राधा तुम्हें छिपायेगी क्यों ? ॥२०६॥

श्रीकृष्ण—सुन्दरि ! अपने कन्दर्प-विलास को छिपाने के लिए। (यह कहकर अगुली से दिखाते हैं) देख,देख; तुम्हारी प्रिय सखी ने अपने कठोर नखाग्रों से मेरे वक्षस्थल को अतिशय क्षत-विक्षत कर दिया है एव बलपूर्वक आक्रमण कर मेरा मोरपुच्छ-मुकुट दूर फेंक दिया है। मनोहर वनमाला खींचकर तोड डाली है। कैसा आश्चर्य है ? अभी तुम्हारे आगे तुम्हारी प्रिय सखी कह रही थी—"मैं कुछ जानती नही हूँ" ॥२०७॥३५।

श्रीराधिका—(निर्लज्ज होकर) अच्छा ! स्वय करके दूसरों को दोष लगाने मे चतुर बन रहे हो ॥२०८॥

(नेपथ्य से आवाज आती है)

प्रफुल्लित मञ्जरियों द्वारा जटिला—(इतना आधा वचन सुनकर—)॥

श्रीराधिका—(भयभीत होकर) ललिते ! बहुत बुरा ! महा विपद ! भयंकरी वृद्धा आ रही है, शीघ्र भाग चलें। (यह कहकर श्रीराधा ललिता-

तत्त्वरितं पलायामः ।] (इति सखीभ्यां सह निष्क्रान्ता) ॥२१०॥

(पुनर्नेपथ्ये)

……………विहूदिमन्तो पराअपुञ्जेण ।
हरभत्ता विअ सरए प्फुरन्ति सत्तच्छदप्पअरा ।
[………… विभूतिमन्त. परागपुञ्जेन ।
हरभक्ता इव शरदि स्फुरन्ति सप्तच्छन्दप्रवरा] ॥२११॥३६॥

श्रीकृष्णः—(सवैलक्ष्यम्) हन्त हन्त, सप्तपर्णं वर्णयता जटिलेति कटूद्गारेण बटुना कर्वायतोऽस्मि । तदग्रे सुहृन्मण्डलमेव प्रयामि ॥२१२॥

(इति निष्क्रान्ता सर्वे)

इति श्री श्रीविदग्धमाधवनाटके शरद्विहारो नाम षष्ठोऽङ्कः ॥६॥

विशाखा के साथ भाग जाती हैं) ॥२१०॥

[पुनः वेशगृह से आवाज आती है]

पराग-पुञ्ज से शोभायमान हर-भक्तो की भाँति शरत् काल मे सप्तच्छद कुसुमो मे विराजमान हो रही है ॥२११॥३६॥

श्रीकृष्ण—(विस्मित होकर) हाय ! हाय !! जटिला ने सप्तपर्ण वर्णक लाने को कहा था—मधुमङ्गल द्वारा इस कटु-वचन से मुझे धोका लगा है। जो भी हो सामने मित्र मण्डली के पास चलता हू ॥२१२॥

[यह कहकर सब चले जाते है]

इस प्रकार श्रीश्यामदासानुवादित श्रीविदग्धमाधव नाटक का 'शरद्-विहार' नामक छटा अङ्क समाप्त हुआ ॥६॥



सप्तमोऽङ्कः ।

(ततः प्रविशति वृन्दा)

वृन्दा—(समन्तादवलोक्य)

कदम्बालीजृम्भाभरपरिमलोद्‌गारपवना
स्फुटद्यूथी यूथीकृतमधुपगानप्रणयिनी ।
नटत्केकिस्तोमा मृदुलयवसश्यामलितभू-
स्तपान्तेऽद्य स्वान्तं मम रमयति द्वादशवनी ।।१।।१।।

(नेपथ्ये दृष्टिं निक्षिप्य) कथमसौ पौर्णमासी निजपर्णकुटीरोपान्तवाटिकाया-मभिमन्युना सह संकथयन्ती वर्त्तते ? तदहं क्षणमत्रैव तिष्ठेयम् ।।२।।

सातवां अङ्क

[छः ऋतुओं में कामोद्दीपन करने में वसन्त, शरद् तथा वर्षा की प्रबलता मानी गयी है । इनमें क्रमशः उत्कृष्टता होने के कारण पहले वसन्त, फिर शरद् का सक्षेप से लीलोद्देश वर्णन किया जा चुका है । अब श्रावण की पूर्णिमादि की लीला को प्रकाशित करने के लिए वर्षा का वर्णन करते हैं]

[उसके बाद वृन्दा प्रवेश करती है ।]

वृन्दा—(चारों तरफ देखकर) आहा ! पवन प्रवाहित होकर मानो जम्हाई लेते हुए प्रफुल्लित कदम्बों की सौरभ उद्‌गारित कर रही है । प्रफुल्लित जूही पंक्तिबद्ध मधुकरों की प्रेम-पात्री हो रही है । मोरवृन्द नृत्य कर रहे हैं तथा कोमल कोमल नवीन तृणों से समस्त पृथ्वी हरित वर्णा हो रही है । इस प्रकार ग्रीष्म ऋतु के बाद आज ये द्वादश वन मेरे हृदय को सुख प्रदान कर रहे हैं ।।१।।

[वेशगृह की तरफ देखकर]

—यह क्या ! पौर्णमासी अपनी पर्णकुटि के निकट उद्यान में अभिमन्यु के साथ क्या बात कर रही है ?—थोड़ी देर मैं यहां ही रहती हूँ ।।२।।

(प्रविश्य तथाभूता पौर्णमासी)

पौर्णमासी—वत्साभिमन्यो ! किमर्थं त्वया प्रातरेवाहमुपसादितास्मि?

अभिमन्युः—भअवदि ! तुज्झं आणं गेण्हिदुम् [भगवति ! तवाज्ञां ग्रहीतुम्] ॥४॥

पौर्णमासी—कस्मिन्नर्थे ? ॥५॥

अभिमन्युः—वारिसहाणुईए मयुरापत्थाणे । [वार्षभानव्या मथुराप्रस्थाने] ॥६॥

पौर्णमासी—(सव्यथम्)कस्तत्र हेतुः ? ॥७॥

अभिमन्युः—दोण्हं राहामाहवाणं चावलं जेव्व । [द्वयो राधामाधवयोश्चापलमेव] ॥८॥

पौर्णमासी—वीर ! केन तवेदं वर्णितम् ॥९॥

अभिमन्युः—पिअवअस्सेण गोअड्ढणेण । [प्रियवयस्येन गोवर्धनेन] ॥

पौर्णमासी—वत्साभिमन्यो ! चतुरम्मन्योऽपि न त्वमार्यबुद्धिरसि, येन

[अभिमन्यु से बात करती हुई पौर्णमासी प्रवेश करती है]

पौर्णमासी—बेटा अभिमन्यु ! आज प्रातःकाल मेरे पास कैसे आए हो ? ॥३॥

अभिमन्यु—भगवति ! तुम्हारी आज्ञा लेने के लिए ॥४॥

पौर्णमासी—किस विषय मे ? ॥५॥

अभिमन्यु—वृषभानुनन्दिनी को मथुरा ले जाने के विषय में ॥६॥

पौर्णमासी—(दुखी होकर) किस लिये ? ॥७॥

अभिमन्यु—राधा एवं माधव दोनो की चपलता के कारण ॥८॥

पौर्णमासी—हे वीर ! तुमको किसने ऐसा कहा है ? ॥९॥

अभिमन्यु—मेरे प्रिय सखा गोवर्धन ने ॥१०॥

पौर्णमासी—बेटा अभिमन्यु ! तू अपने को बहुत चतुर मानता है,

भोजेन्द्रवल्लभस्य गोवर्धनमल्लस्य कौटिल्यचक्रेण विभ्राम्यसे ॥११॥

अभिमन्युः—असिपसिद्धा एसा पउत्ती केण वा ण कहिज्जइ ? [अति प्रसिद्धा प्रवृत्तिः केन वा न कथ्यते ?] ॥१२॥

पौर्णमासी—पुत्र ! नूनं कर्णजपानामुपजापेन लुप्तविवेकोऽसि । तदाकर्णय ॥१३॥

अभिमन्युः—आणवेहि । [आज्ञापय] ॥१४॥

पौर्णमासी—वत्स ! येन लावण्यगन्धलवलुब्धेन कंसशार्दूलेन स्वयमेव राधामृगो मृग्यते, तस्य दारुणस्य हस्तोपरि न्याय्यः कथमस्याः प्रक्षेपः ? ॥

अभिमन्यु—भअवदि ! तत्थ का चिन्ता ? सो क्खु कुसली होदु सुहित्तमो मे गोअड्ढणो, जेण विज्जामाहुरीहिं महुरिन्दो वसीकिओ । [भगवति ! तत्र का चिन्ता ? स खलु कुशली भवतु सुहृत्तमो मे गोवर्धनः, येन विद्यामाधुरीभिर्मधुरेन्द्रो वशीकृतः] ॥१६॥

परन्तु तुम में बुद्धि नही है, क्योंकि कंस के प्रिय गोवर्धन की कुटिलता के चक्कर में घूमते हो ॥११॥

अभिमन्यु—यह बात तो प्रसिद्ध हो चुकी है, यह कौन नही कहता? ॥

पौर्णमासी—पुत्र ! निश्चय ही दुष्टों ने तुम्हारे कानों में यह बात भर कर तुम्हारे विवेक को लुप्त कर दिया है । इसलिए तू मेरी बात सुन ॥

अभिमन्यु—भगवति ! आज्ञा करो ॥१४॥

पौर्णमासी—बेटा ! जिसकी लावण्यता की गन्धमात्र में लुब्ध होकर कंस-व्याघ्र स्वयं उस राधा-हरिणी की खोज कर रहा है, उस अति निर्दयी के हाथों मे श्रीराधा को डालना कैसे उपयुक्त है ? ॥१५॥

अभिमन्यु—भगवति ! इस बात की क्या चिन्ता है ? मेरा परम सुहृद गोवर्धन कुशलपूर्वक रहे । उसने अपने विद्या-माधुर्य से राजा कंस को वशीभूत कर रखा है ॥१६॥

पौर्णमासी—(सखेदम् क्षणमनुध्याय) हंहो, धन्यानां मूर्धन्य ! गोविन्द-मातुर्मातुलेयोऽसि । कथमल्पायुषां गोकुलद्वेषिणां मण्डलपातितामालम्बसे ? तदद्य कयापि मर्यादया त्वां पर्यायितुमिच्छामि ॥१७॥

अभिमन्यु—आणवेदु तत्थहोदी । [आज्ञापयतु तत्रभवती] ॥१८॥

पौर्णमासी—वत्स ! सा काचिन्मत्सरकल्पितापि किंवदन्ती यदि त्वया नातथ्यतया प्रतीयते, ततः स्वयमेव चक्षुषोरपरोक्षीकृत्य यथेष्टं चेष्टनीयम् ॥

अभिमन्युः—(सप्रश्रयम्) भअवदि! सिरोगहीदं दे णिदेसकुसुमम् । [भगवति, शिरोगृहीत ते निदेशकुसुमम्] ॥२०॥

पौर्णमासी—(सानन्दम्) सोमानन! गोपानत्र भूयाः ॥२१॥

अभिमन्युः—भअवदि ! अम्बा मं पुणो पुणो भणादि—'पुत्त! चन्दा-अलीचण्डिअसुणेण गोअङ्गणो जहत्थणामा संवुत्तो, ता वहूड़िआ वि तत्थ

पौर्णमासी—(खेद सहित कुछ देर तक सोचकर) अहा-हा ! समस्त धन्यपुरुषों में शिरोमणि ! गोविन्द की माता यशोदा के मामा का तू पुत्र है । किसलिए तू अल्पायु एवं गोकुल के विद्वेषीजनों का पक्षपात कर रहा है ? मैं आज किसी मर्यादा द्वारा तुम्हें रोकना चाह रही हूँ ॥१७॥

अभिमन्यु—पूज्यतमे ! आज्ञा करें न ॥१८॥

पौर्णमासी—हे पुत्र ! (राधा-माधव की चपलता की जो बात तुमने कही है) वह किसी ईर्ष्यालु व्यक्ति की बताई हुई बात है । यदि तुम उसे सत्य ही जान रहे हो, तो तुम स्वयं एक बार अपनी आखों से देखो और फिर तुम्हारी जैसी इच्छा हो करो ॥१६॥

अभिमन्यु—(विनयपूर्वक) भगवति ! मैं तुम्हारी आज्ञा को सिर पर धारण करता हूँ ॥२०॥

पौर्णमासी—(आनन्दपूर्वक) चन्द्रमुख ! तुम्हारी गो-वृद्धि हो ॥

अभिमन्यु—भगवति ! मेरी मां जटिला ने मुझे अनेक बार कहा है कि चन्द्रावली चण्डिका की पूजा करती है, इसलिए ही उसके पति का नाम

दिक्खा किज्जउति । [भगवति ! अम्बा मां पुन- पुनर्भणति—'पुत्र ! चन्द्रावलीचण्डिकार्चनेन गोवर्धनो यथार्थनामा संवृत्तः, तस्माद्वधूरपि तत्र दीक्षाक्रियेतामिति] ॥२२॥

पौर्णमासी:—मङ्गलमते ! सर्वमङ्गलाराधने दीक्षितामविलम्बमेव वर्षभानवीं विद्धि ॥२३॥

अभिमन्युः—भअवदि ! अणुकम्पिदो म्हि । [भगवति ! अनुकम्पितोऽस्मि] (इति निष्क्रान्तः) ॥२४॥

वृन्दा—(परिक्रम्य) वन्दे भगवतीम् ॥२५॥

पौर्णमासी—(विलोक्य शुभाशोभिरभिनन्द्य च) वत्से! कामं कृतार्थासि । तदावेदय राधामाधवयोर्निकुञ्जकेलिमाधुरीम् ॥२६॥

वृन्दा—

सर्वस्वं प्रथमरसस्य यः प्रयोऽन्कसारेरुदयति राधया विलासः ।
वक्तुं को विरमति त जन. समन्तादानन्दस्तिरयति चेद्गिरा न वृत्तिम्? ॥२७

गोवर्धन मल्ल सार्थक हुआ है (अर्थात् उसी पूजन से वह बड़ा भारी शूरवीर बन गया है) इसलिए आप मेरी बहू—राधा को भी ऐसी दीक्षा—सलाह प्रदान करो ॥२२॥

पौर्णमासी—हे शुभमते ! सर्व मङ्गलमय की आराधना मे वृषभानुनन्दिनी को तुम शीघ्र ही दीक्षित हुआ जानो ॥२३॥

अभिमन्यु—भगवति ! अनुगृहीत हुआ आज मैं ॥ (यह कहकर चला जाता है) ॥२४॥

वृन्दा—(पास आकर) भगवति! आपको प्रणाम है ॥२५॥

पौर्णमासी—(देखकर शुभाशीर्वाद से अभिनन्दन करते हुए) पुत्रि ! तुम सर्वथा कृतार्थ हो । मुझे राधा-माधव की निकुंजकेलि-माधुरी तो सुनाओ ॥२६॥

वृन्दा—श्रीराधा के सहित श्रीकृष्ण का शृंगाररस विषयक जो समस्त विलास प्रकाशित हो रहा है, यदि आनन्द समस्त वाक्-वृत्ति को

पौर्णमासी—(सानन्दम्) पुत्रि वृन्दे !

हरिरेष न चेदवातरिष्यन्मथुरायां मधुराक्षि राधिका च ।
अभविष्यदियं वृथा विसृष्टिर्मकराङ्कस्तु विशेषतस्तदात्र ॥३॥

तदद्य गोष्ठमध्ये तवोपसत्तिर्मां विस्मापयते ॥२८॥

वृन्दा—भगवति ! त्वरते कोऽपि मां गरीयानार्थः । तदत्र ललिता-मवेक्षमाणास्मि ॥२९॥

पौर्णमासी—कीदृशोऽयम् ? ॥३०॥

वृन्दा—पूर्वेद्यु रदिष्टास्मि गोविन्देन । यथा—

आ॒र· गौरीतीर्थे मधुरश्रियं तत्र रन्तुमिच्छामि ।
पद्मावलम्बिकरया प्रियया पद्मावतंसिकया ॥३१-४॥

पौर्णमासी -युक्तमादिष्टं, यदद्य सौभाग्यपूर्णिमा ; तथाहि—

अवरुद्ध न करे तो कौन व्यक्ति है जो उसे वर्णन करने मे पीछे हटेगा ॥२७॥

पौर्णमासी—(आनन्द सहित) पुत्रि वृन्दे ! श्रीहरि और मधुराक्षि श्रीराधिका, यदि ये दोनों मथुरा मण्डल मे अवतीर्ण न होते, तो विधाता की यह विश्वसृष्टि तथा विशेषत: इस वृन्दावन मे कन्दर्प की कुछ सार्थकता न रहती—॥३॥

कुछ भी हो तुम्हारा यहा आना मुझे विस्मित कर रहा है ॥२८।

वृन्दा—भगवति ! मैं एक महान् प्रयोजन के लिये जल्दी मे हूँ । इस लिए यहां ललिता की इन्तजार कर रही हू ॥२६॥

पौर्णमासी—वह क्या ? ॥३०॥

वृन्दा—कल श्री गोविन्द ने मुझे आदेश दिया था कि—

तुम जाकर गौरीतीर्थ पर वसन्त-शोभा सम्पादन करो, वहां कमलों को हाथ एव कानो मे धारण करने वाली (पद्मा का हाथ पकडे हुए कानों मे कमल धारण करने वाली—चन्द्रावली) प्रिय राधा के संग रमण करने को मेरी इच्छा है ॥३१॥४।

पौर्णमासी—ठीक कहा है उन्होने, क्योकि आज सौभाग्य पूर्णिमा है। कहते हैं—

प्रसूनैरद्भुतैः कान्ता कान्तेन श्रावणीदिने ।
प्रसाधिता प्रसिद्धेन सौभाग्येन विवर्धते ॥३२॥५॥

ततस्ततः ?

वृन्दा—ततश्च तद्वृत्ते शारिकामुखतः सखीसंसदि संचारिते पद्मार्थतर्कितराधार्थसिद्धिरपि पद्मा ललितां कटाक्षयन्ती हठादवादीत्—

उत्फुल्लमूर्तेः समुल्लसन्त्याश्चन्द्रावलेश्चन्द्रकमण्डलेन ।
म्लापयन्ति सौभाग्यभरप्रभाभिर्गर्वान्धगोपीवदनाम्बुजानि ॥३३॥६॥

पौर्णमासी—(विहस्य) ततस्ततः ? ॥३४॥

वृन्दा—ततश्च स्मेरया दृष्टिमुद्रयैव त्वामधीरामवधीरयन्ती ललिता मया सह राधामुपसाद्य कल्ये प्रस्थानाय तामतिसंभ्रमं लम्भयामास । पश्य वृत्तोऽप्यद्य यामे सेय नाजगाम ॥३५॥

श्रावणी पूर्णिमा के दिन जो कान्ता, अपने कान्त के साथ अद्भुत कुसुमों द्वारा विभूषित होती है, उसका सौभाग्य बढा करता है ॥३२॥५॥

—फिर आगे ?

वृन्दा—उसके बाद सारिका के मुख से "आहर गौरीतीर्थं" श्लोक का तात्पर्य अर्थात् "तुम जाकर गौरी तीर्थ पर बसन्त शोभा सम्पादन करो"—इत्यादि की आलोचना सखी-सभा मे होने लगी । पद्मा ने श्रीराधा की अभीष्ट सिद्धि की विवेचना करते हुए एकदम ललिता के प्रति कटाक्ष करते हुए कहा—

आज चन्द्र मण्डल द्वारा उल्लसित प्रफुल्लित मूर्त्ति चन्द्रावली की सुशोभित प्रभा द्वारा गर्वान्ध गोपियों के मुख को मलिन करूँगा—(ऐसा श्रीकृष्ण ने कहा है) ॥३३॥६॥

पौर्णमासी—(हँसते हुए) फिर क्या हुआ ? ॥३४॥

वृन्दा—उसके बाद कुछ मुसकराते हुए नेत्रों द्वारा पद्मा को अधीर हुआ जानकर ललिता ने मेरे साथ श्रीराधा के पास चलकर प्रातः काल आने की बात कही और पद्मा को सम्भ्रम में डाल दिया । परन्तु देखो, एक पहर निकल गया है फिर भी ललिता अभी तक नही आई ॥३५॥

(प्रविश्य)

ललिता—सहि वुन्दे! जुत्तं गव्वाइदं पउमाए, दाणि जाणिदम् । तत्थ पत्थाणे कुदो अम्हाणं जोग्गदा ? । [सखि वृन्दे ! युक्तं गर्वायितं पद्मया, इदानी ज्ञातम् । तत्र प्रस्थाने कुतोऽस्माक योग्यता ?] ॥३६॥

पौर्णमासी—पुत्रि, कथमेवम् ? ॥३७॥

ललिता—भअवदि ! तुम्ह पुरदो अम्हाणं तिणादोहग्गसल्लेण किं उग्घाडिदेण ? । [भगवति ! तव पुरतोऽस्माकं तेन दौर्भाग्यशल्येन किमुद्घाटितेन ?] ॥३८॥

पौर्णमासी—वत्से ! शुश्रूषुरस्मि, वर्ण्यताम् ॥३९॥

ललिता—(सास्रम्) अज्जे ! गोरपट्टसुत्तेण गण्ठिदा एक्का दिव्वमाला पिअसहीए कण्हस्स दिण्णा, सा अम्मेहिं पउमिआ धम्मिल्ले तक्कालं जेव्व दिट्ठा । [आर्ये ! गोरपट्टसूत्रेण ग्रथितका दिव्यमाला प्रियसख्या कृष्णाय दत्ता, सास्माभिः पद्मा धम्मिल्ले तत्कालमेव दृष्टा ।] ॥४०॥

पौर्णमासी—स्थाने ग्लानिरियम्, बाढ़मसांप्रतमेतद्गोविन्दस्य ॥४१॥

[ललिता प्रवेश करती है]

ललिता—सखि वृन्दे ! मैं अब समझ पाई हूं, पद्मा का इतराना युक्त ही था । वहां चलने की योग्यता हम में कहां है ? ॥३६॥

पौर्णमासी—बेटी ! ऐसा क्यो ? ॥३७॥

ललिता—भगवति ! आपके सामने अब अपनी दुर्भाग्यता को प्रकट करने का प्रयोजन नहीं दीखता ॥३८॥

पौर्णमासी—पुत्रि ! मुझे सुनने की इच्छा है, कहो तो सही ॥३९॥

ललिता—(आँसु बहाते हुए) आर्ये ! प्रिय सखी राधा ने सफेद वर्ण के रेशमी तागे से एक अति सुन्दर माला बनाकर श्रीकृष्ण को प्रदान की थी, उसी दिन ही हमने वही माला पद्मा के जूड़े में बँधी देखी ॥४०॥

पौर्णमासी—तुम्हारा दुख करना युक्त ही है और ऐसा करना गोविन्द की ज्यादती है ॥४१॥

वृन्दा—शान्तममङ्गलम् ॥४२॥

पौर्णमासी—वृन्दे ! कथ्यतां किं नामेदम् ॥४३॥

वृन्दा—वर्णित मे मनुष्यवाक्यया तया कक्खटिकया—
'कदम्बशाखायां मालामालम्ब्य कालिन्दीमवगाढे वनमालिनि, सप्रवृत्ते च केतकीपरागचक्रचण्डे मरुन्मण्डले पद्मा किलेमां जहार। मारुतस्तुमुधा कलङ्कं जगामेति ॥४४॥

ललिता—धुत्ते ! मुञ्च णं वञ्चणम्। [धूर्त्ते ! मुञ्चेनं वञ्चनम्] ॥

वृन्दा—पुष्पमञ्जरीभ्य शपे ॥४६॥

ललिता—(विश्रम्य)हला ! सञ्च सञ्चम्। ज अम्ह पुरदो अप्पणो सोहग्ग विक्खेये ती पउमिआ माल विवरेदि, कण्हमित्ताए अग्गदो उण ण सवरेदि। [हला ! सत्य सत्यम्। यदस्मत्पुरत आत्मन सौभाग्य विख्यापयन्ती पद्मा माला विवृणोति। कृष्णमित्राणामग्रत पुनरेना संवृणोति] ॥४७॥

वृन्दा—अमङ्गल शान्त हो ॥४२॥

पौर्णमासी—वृन्दे ! कहू तो सही यह हुआ कैसे ? ॥४३॥

वृन्दा—हमे तो यह बात कक्खटी वन्दरीने मनुष्यकी बोलीमे यूँ बताई कि—वनमाली कृष्ण उस माला को जब कदम्ब की डाली पर रखकर यमुना मे स्नान करने गए तो उसी समय प्रवल आधी चल पडी। केतकी पुष्पो की पराग उडने लगी। उसी समय पद्मा ने वह माला चुरा ली, किन्तु पवन को मिथ्या वदनाम होना पडा ॥४४॥

ललिता—धूर्ते ! वस वञ्चना को छोड ॥४५॥

वृन्दा—मुझे पुष्प मञ्जरियो की शपथ, (मैं झूँट नही कहती हू) ॥

ललिता—(विश्वास पूर्वक) सखि सत्य है तू सत्य कहती है, अपने सौभाग्य को जनाते हुए पद्मा ने हमे माला दिखाई थी। किन्तु कृष्ण के सखाओ से वह माला को छिपाती है, अभी तक उसने उन्हें नही दिखाई ॥

पौर्णमासी—पुत्रि ललिते ! स्फुटमत्र पूर्णिमायां युष्माकमनुद्यमाय पद्मया तां छद्मचातुरीं प्रसार्य गौरीतीर्थं चन्द्रावली लम्भिता ॥४८॥

वृन्दा—युक्तमाह भगवती; तदद्य गौरीतीर्थे राधिकोपनीतिः कल्याणी न मे प्रतिभाति ॥४९॥

(प्रविश्य)

विशाखा—वुन्दे ! 'कल्याणी पड़िभादि' त्ति भणाहि। [वृन्दे ! 'कल्याणी प्रतिभाति' इति भण] ॥५०॥

वृन्दा—कथमेवम् ? ॥५१॥

विशाखा—गोउलेसरीमुहादो अज्ज सोहग्गपुण्णिमं सुणिअ करालाए चन्दाअली अप्पभत्तुणो मल्लस्स पासे पत्थावीअदि । [गोकुलेश्वरीमुखतोऽद्य सौभाग्यपूर्णिमा श्रुत्वा करालया चन्द्रावली आत्मभर्तु र्मल्लस्य पार्श्वे प्रस्थाप्यते] ॥५२॥

ललिता—(सहर्षम्) विसाहे ! इट्ठदेओ सरोअणाहो दे पसीददु, ता तुवरीअदु । [विशाखे! इष्टदेव-सरोजनाथस्ते प्रसीदतु, तत्त्वर्यताम्]॥५३॥

पौर्णमासी—पुत्रि ललिते ! यह बात स्पष्ट है कि इस सौभाग्य पूर्णिमा पर तुमको उद्यमरहित करने के लिये पद्मा ने यह झूठी चतुरता फैलाई है और यह चन्द्रावली को गौरी तीर्थ पर ले जावेगी ॥४८॥

वृन्दा—भगवती ! ठीक कह रही हैं, इसलिए आज गौरी तीर्थ पर श्रीराधा को ले जाना मुझे मङ्गलमय नहीं लगता ॥४९॥

विशाखा—वृन्दे ! 'मङ्गलमय लगता है' ऐसा कहो ॥५०॥

वृन्दा—यह कैसे! ॥५१॥

विशाखा—गोकुलेश्वरी के मुख से आज सौभाग्य पूर्णिमा है—यह बात सुनकर, कराला ने चन्द्रावली को अपने पति गोवर्धन मल्ल के पास भेज दिया है ॥५२॥

ललिता—(हर्ष सहित) विशाखे ! इष्टदेव सूर्यदेव तुम पर प्रसन्न हों। अब जल्दी करो। ५३॥

पौर्णमासी—पुत्रि वृन्दे ! कामप्यद्यतनीमभिमन्योर्दारुणा दुर्मन्त्रितमुद्रां राधायामावेद्य मयाप्यस्या शङ्कापङ्कावली-सक्षालनाय गौरीतीर्थे भवितव्यम्॥

वृन्दा—भगवति ! पूर्वेण गौरीतीर्थं लवङ्गकुडङ्गस्य प्राङ्गणे सविशाखया राधया सार्धं साधयतु तत्र भवती । तावदावां माधवमासादयाव ॥५५

(पौर्णमासी विशाखया सह निष्क्रान्ता)

ललिता—(वृन्दया सह परिक्रम्य) हला पेक्खोअदु, डाहिणे एसा दूरदो सेव्वाए सम जप्पन्ती पउमा । [हला ! प्रेक्ष्यताम् दक्षिणे एषा दूरतः शैब्यया सम जल्पन्ती पद्मा] ॥५६॥

वृन्दा—सखि ! नासगत व्याहरेद्विशाखा (इत्यग्रतो गत्वा सविमर्शम्) सखि ! परमोत्सुक्यसम्भूतेन भूरिणा सम्भ्रमेण सभेदिते राधिकाविजयमनिधार्य तूर्णमावां विदूरमागते । तदत्र मानस गङ्गापारे पौर्णमासीं क्षणं प्रतिपालयाव (इति निष्क्रान्ते) ॥५७॥

पौर्णमासी—पुत्रि वृन्दे ! अब मैं अभिमन्यु की कोई भयानक दुर्मन्त्रणा श्रीराधा को जताकर, एव उसकी शङ्का-मलिनता को धोने के लिए गौरी तीर्थ पर जाऊँगी ॥५४॥

वृन्दा—भगवति ! आप पहले विशाखा के साथ श्रीराधा को लेकर गौरीतीर्थ की निकटवर्ती लवङ्गकुञ्ज मे चलो । मैं ललिता सहित श्रीमाधव को वहाँ ले जाऊँगी ॥५५॥

[पौर्णमासी विशाखा के साथ वहा से चली जाती हैं]

ललिता—(वृन्दा के साथ लौटकर) देखो दक्षिण दिशा की ओर दूर से शैब्या के साथ पद्मा बातें करती आ रही है ॥५६॥

वृन्दा—सखि ! विशाखा अयुक्त बात नही कहती थी । (यह कहकर आगे बढ़कर परामर्श सहित) हम परम उत्साह जन्य भारी सम्भ्रम सहित श्रीराधा के जाने की बात को समझकर जल्दी से दूर आ गई हैं । इसलिए इस मानसी गङ्गा के पार चलकर पौर्णमासी की कुछ देर इन्तजार करती हैं , यह कहकर चली जाती हैं) ॥५७॥

(ततः प्रविशत पद्माशैव्ये)

पद्मा—सहि सेव्वे ! मा क्खु दुम्मणा होहि [सखि शैव्ये ! मा खलु दुर्मना भव] ॥५८॥

शैव्या—पउमे ! परमाहिट्ठस्स अलाहेण सलाहव चित्त समाधादुं ण क्खमम्हि। [पद्म ! परमाभीष्टस्यालाभेन सलाघव चित्त समाधातु न क्षमास्मि] ॥५६॥

(नेपथ्ये)

पउमे ! चन्दाअली आणिज्जउ गोअड्ढणस्स पासम्मि झत्ति।
णिव्वट्टइ वच्छा जह कुसुमेहिं सुवेवच्छा ॥
[पद्मे ! चन्द्रावली अनीयतां गोवर्धनस्य पार्श्वे झटिति।
निर्वर्त्तते वत्सा यथा कुसुमैः सुनेपथ्या] ॥६०॥७॥

शैव्या—पउमे ! सुद ज अज्जिआ कराला त जेव्व जप्पगरल पुणो उग्गिरदि। [पद्मे ! श्रुत यदार्या कराला तमेव जल्पगरल पुनरुद्गिरति] ॥

पद्मा—हला ! अमिअ क्खु एद, ज पिविअ उवलद्धबलम्हि जादा। [हला ! अमृत खल्वेतत्, यत्पीत्वा उपलब्धबलास्मि जाता] ॥६२॥

[तब पद्मा व शैव्या प्रवेश करती हैं]

पद्मा—सखि शैव्ये ! चित्त मे खेद मत करो ॥५८॥

शैव्या—पद्मे परम अभीष्ट को न पाने के कारण चित्त का शीघ्र समाधान नहीं कर पा रही हूँ ॥५६॥

[वेशगृह से आवाज आती है]

पद्मे ! शीघ्र ही चन्द्रावली को गोवर्धन के पास ले जाओ। वत्सा का यथायोग्य कुसुमो द्वारा श्रृंगार पूरा हो चुका है ॥६०॥७॥

शैव्या—पद्मे ! सुन रही हो तो ? आर्या कराला फिर उसी वाक्यमय विष को उगल रही है ॥६१॥

पद्मा—सखि ! यह विष नहीं है। अमृत है, जिसे पीकर मैं अतिशय बलवती हो उठी हूँ ॥६२॥

शव्या—(सवैलक्ष्यम्) हला ! कधं विअ । [हला! कथमिव?] ॥६३॥

पद्मा—मुद्धिए ! गोअद्धणस्स गिरिणो पासे जेव्व तं गोरीतित्थम् । [मुग्धे ! गोवर्धनस्य गिरेः पार्श्वे एव तद्गौरीतीर्थम्] ॥६४॥

शैव्या—(सहर्षम्) हला ! सअलत्थपण्डिदासि । ता उट्ठेहि । चन्दाअलिअं तत्थ णेम्ह । [हला ! सकलार्थपण्डितासि । तदुत्तिष्ठ । चन्द्रावली तत्र नयामः] ॥६५॥

पद्मा—पढमं ज्जेव चन्दाअली मए चालिदा । ता तुवरेहि । एणं अणुसरम्ह । [प्रथममेव चन्द्रावली मया चालिता । तत् त्वरस्व । एनामनुसरामः ।] ॥६६॥

(इत्युभे परिक्रमातः)

शैव्या—पउमे ! गोरीकिदे जो क्खु संपादिदो, सो कहिं उवहारो ? [पद्मे ! गौरीकृते यः खलु सपादितः, स कुत्रोपहारः] ॥६७॥

पद्मा—महुमङ्गलहत्थे समप्पिदोत्थि । [मधुमङ्गल हस्ते समर्पितोऽस्ति] ॥६८॥

शैब्या—(विस्मय सहित) वह कैसे ? ॥६३॥

पद्मा—अरी मुग्धे ! गोवर्धन गिरि के पास ही वह गौरीतीर्थ है ॥६४

शैब्या—(हर्ष सहित) सखि ! सब विषय में बड़ी चतुर हो । उठ, चन्द्रावली को वहां ले चलेंगी ॥६५॥

पद्मा—मैंने पहले ही चन्द्रावली को भेज दिया है । चलो जल्दी ही उसका अनुगमन करती हैं ॥६६॥

[दोनों पीछे लौटती हैं]

शैब्या—पद्मे ! गौरी के लिए जो सब उपहार सामग्री सजाई थी, वह सब कहां है ? ॥६७॥

पद्मा—मधुमङ्गल के हाथों में देदी थी मैंने ॥६८॥

शैव्या—विवक्खउलस्स उक्करिसं तक्किअ उत्तम्मामि। [विपक्ष-कुलस्योत्कर्षं तर्कयित्वोत्ताम्यामि] ॥६९॥

पद्मा—मा क्खु उत्तम्म। ज एताए मालाए दंसिदाए णिरज्झवसाओ किदो मए विवक्खपक्खो। [मा खलुत्ताम्य। यदेतया मालया दर्शितया निरध्यवसायः कृतो मया विपक्षपक्षः।] ॥७०॥

(शैव्या सहर्षं पद्मामालिंगति)

पद्मा—

सोहग्गपुण्णिमाहे, गोरीतित्थम्हि फुल्लिदे महुणा।
अज्ज रमन्तीं हरिणा, मुहेण चन्दाअलीं पेक्ख॥

[सौभाग्यपूर्णिमाहे गौरीतीर्थे फुल्लिते मधुना।
अद्य रममाणां हरिणा सुखेन चन्द्रावली पश्य॥] ॥७१॥८॥

(नेपथ्ये 'सोहग्गपुण्णिमाहे' इत्यादि पठ्यते)

शैव्या—(साद्भुतं विलोक्य) हला! इमाए मुहं वङ्कीकदुअ बीहच्छसरेण पढ़न्तीए कक्खडिआए अम्हे उवहसिज्जम्ह। [हला! एतया मुख वक्रीकृत्य बीभत्सस्वरेण पठन्त्या कक्खटिकया वयमुपहस्यामहे] ॥७२॥

शैव्या—पद्मे! मैं विपक्ष कुल का उत्कर्ष विवेचना कर उत्कण्ठित हो रही हू ॥६९॥

पद्मा—उत्कण्ठित मत हो, मैने उसी माला को दिखाकर विपक्षियों को निरुत्साहित कर दिया है ॥७०॥

[शैव्या हर्षपूर्वक पद्मा का आलिङ्गन करती है]

पद्मा—आज सौभाग्य पूर्णिमा का दिन है। इस वसन्तकाल मे गौरी-तीर्थ पर पुष्प प्रफुल्लित हो रहे हैं। अतएव आज श्रीकृष्ण के साथ सुखपूर्वक विहार करते हम चन्द्रावली के दर्शन करेगी ॥७१॥८॥

[वेशगृह मे "आज सौभाग्य पूर्णिमा है"—इसका पाठ होने लगता है]

शैव्या—(आश्चर्यपूर्वक देखकर) सखि यह बन्दरी मुँह बनाकर घृणित स्वर मे आज "आज सौभाग्य पूर्णिमा है"—बोल बोल कर हमारा उपहास कर रही है ॥७२॥

पद्मा—(सस्मितम्) दुट्ठे मक्कडि! तुण्डं दे डहिस्सम् । [दुष्टे मर्कटि! तुण्डं ते धक्ष्यामि ।] ॥७३॥

(नेपथ्ये)

पउमिए ! चिट्ठ चिट्ठ । सुण्णं तुज्झ घरं गदुअ णअणीआइं गिलिस्सम् ।
[पद्मे ! तिष्ठ तिष्ठ । शून्यं तव गृहं गत्वा नवनीतानि गिलिष्यामि] ॥७४

शैव्या—हला ! सच्चं गिलिस्सदि, जं एसा तं जेव्व पढ़न्ती धाइदा ।
[*हला ! सत्यं गिलिष्यति, यदेषा तदेव पठन्ती धाविता*] ॥७५॥

पद्मा—मा चिन्तेहि । घरे अज्जिआ कराला चिट्ठदि [मा चिन्तय, गृहे आर्या कराला तिष्ठति] (इति परिक्रम्य सस्कृतेन) पश्य पश्य ॥

साचीकृताङ्गमिह सव्यकरेण यष्टिं,
विष्टभ्य वृत्तसरलामुपकक्षकूपम् ।
तिष्ठन्नधो विटपिनः पशुवृन्दचारी,
रोरीति गीतिमधुना सुबलस्तनोति ॥७६॥८॥

शैव्या—(*परिक्रम्य*) हला पुव्वेण संकरिसणकुण्ड चन्दाअली दीसइ ।
[हला ! पूर्वेण सकर्पणकुण्ड चन्द्रावली दृश्यते ।] ॥७७॥

पद्मा— (मुस्करा कर) दुष्ट बन्दरी ! जला दूँ तेरे मुँह को ॥७३॥

[*वेशगृह से आवाज आती है*]

पद्मे ! ठहर जा, ठहर जा, तेरे सूने घर मे जाकर अभी तेरा सारा माखन खा जाती हूँ ॥७४॥

शैव्या—सखि ! सचमुच, सचमुच, यह तो खा जायेगी । देख, वह कहकर भागी जा रही है ॥७५॥

पद्मा—तू चिन्ता मत कर। घर मे आर्या कराला बैठी हुई है । (यह कहकर घूमते हुए) देख, देख—

बाएं हाथ में लाठी लिये कक्ष के पास वृक्ष के नीचे सहारा लिये बैठा हुआ गोचारणकारी सुबल री-री ध्वनि करते हुए गान कर रहा है ॥७६॥

शैव्या—(घूमकर) सखि ! सामने सङ्कर्षण कुण्ड पर चन्द्रावली दीख रही है ॥७७॥

पद्मा—(सहर्षं संस्कृतेन)

अयं पुरः स्मेरमुखारविन्दः, प्रयाणलीलाकृतकुम्भिनिन्दः ।
कलेवरद्योतिहृताक्षितन्द्रश्चन्द्रावलीं विन्दति कृष्णचन्द्रः ॥७८॥१०॥

(ततः प्रविशति कृष्णश्चन्द्रावली च)

श्रीकृष्ण—(वर्त्मावरुध्य) प्रिये ! दिष्टयाद्य सौन्दर्यमकरन्दभृङ्गारायितासि ममाक्षिभृङ्गयोः ॥७९॥

चन्द्रावली—मुञ्च मग्गम् । जं गोरीतीत्थं गदुअ कच्चाअणिअं अच्चिस्सम् । [मुञ्च मार्गम् । यद्गौरीतीर्थं गत्वा कात्यायनीमर्चिष्यामि ।] ॥

श्रीकृष्ण—(सस्मितम्)

लब्धं मामवलोक्य तन्वि पुरतो रोमालिरभ्युद्गता
नेत्रे पाद्यविधि क्षरज्जलभरैः प्रीत्यार्घ्यमाश्चक्रतुः ।
वक्षश्च स्खलदुत्तरीयमदिशद्दिव्यासनं संभ्रमाद्-
वामायास्तव दक्षिणः परिकरो दिष्टयाद्य वृत्तो मयि ॥८१॥११॥

पद्मा—(हर्षपूर्वक मुसकराते हुए मुखकमल वाले, चलन से गजेन्द्र गति को भी निन्दित करने वाले एव जिनकी अङ्गकान्ति द्वारा नेत्रों में चकाचौंध पड़ती है, सामने वही श्रीकृष्णचन्द्र चन्द्रावली से मिलित हो रहे हैं ॥

[तब वहाँ श्रीकृष्ण एवं चन्द्रावली प्रवेश करते हैं]

श्रीकृष्ण—(रास्ता रोककर) प्रिये ! बड़े सौभाग्य की बात है कि आज मेरे नेत्र-मधुकरों के लिए सौन्दर्य-मकरन्द पान करने का तुम विशेष पात्र बनी हो ॥७९॥

चन्द्रावली—मेरा रास्ता छोड़ो, मैं गौरी-तीर्थ जाकर कात्यायिनी की अर्चना करूँगी ॥८०॥

श्रीकृष्ण—(मुसकरा कर) हे कृशाङ्गि ! मुझे देखकर तुम्हारी समस्त रोमावली खड़ी हो रही है, तुम्हारे नेत्र आनन्द सहित प्रवाहित जलधारा द्वारा मुझे पाद्य अर्पण कर रहे हैं एवं तुम्हारा वक्षस्थल उत्साहपूर्वक उत्तरीय वस्त्र को संचालित कर मुझे दिव्य आसन प्रदान कर रहा है। अतएव हे प्रिय ! तुम्हारे प्रतिकूल होते हुए भी तुम्हारा सब परिकर सौभाग्यवश मेरे अनुकूल हो रहा है ॥८१॥११॥

सखी—(उपसृत्य) सहि ! सन्ति भूरिणो मग्गा। ता एक्कंसिः णिरुद्धे णिरुद्धा ण होम्ह। [सखि ! सन्ति भूरयो मार्गाः। तदेकस्मिन्निरुद्धे निरुद्धा न भवामः।] ॥८२॥

चन्द्रावली—(साचिग्रीवमवलोक्य) हला ! दिट्ठिआ तुम्मेहिं सहिदम्हि संवुत्ता। [हला ! दिष्ट्या युष्माभिः सहितास्मि संवृत्ता] ॥८३॥

श्रीकृष्ण—(स्वगतम्) कथमद्य राधामभिसिसारयिषोर्ममान्तिके चन्द्रावलिरुपस्थिता ? ॥८४॥

पद्मा—(जनान्तिकम्) चन्द्रमुह ! पउमावलम्भिअकराए त्ति तुज्झ मणोरधं सुणिअ छलेण मए चन्दाअली लम्भिदा। [चन्द्रमुख ! पद्मावलम्बिकरयेति तव मनोरथं श्रुत्वा छलेन मया चन्द्रावली लम्भिता।] ॥८५॥

श्रीकृष्ण—(स्वगतम्) आं ज्ञातम्। पद्ममण्डनमभिलष्यता मयैव दत्तान्तरासि, किं ते दूषणम्। (प्रकाशम्) सखि, प्रसिद्धैव पद्मायाः पद्मनाभपक्षपातिता ॥८६॥

शैव्या व पद्मा—(निकट आकर) सखि ! अनेक रास्ते हैं, एक रास्ता बन्द होने पर हम रुक नही जायेंगी ॥८२॥

चन्द्रावली—(बायीं ओर गर्दन फेर कर देखते हुए) सखियो ! बड़े सौभाग्य हैं, तुम्हारा जो मिलन हो गया ॥८३॥

श्रीकृष्ण—(मन में) मैं तो आज श्रीराधा के अभिसार का अभिलाषी था। चन्द्रावली कैसे आ उपस्थित हुई ? ॥८४॥

पद्मा—(धीरे से कान में) हे चन्द्रवदन ! "पद्मावलम्बि करया"—(श्लोक—४) अर्थात् आपने कहा था ('कमलों को धारण करने वाली—पक्षान्तर में)पद्मा के हाथ का अवलम्बन लेकर आने वाली'—इस प्रकार के आपके मनोरथ को सुनकर मैं ही चन्द्रावली को ले आई हूं ॥८५॥

श्रीकृष्ण—(मन ही मन में) ठीक, मैं समझ गया। पद्मद्वारा अलङ्कृत प्रिय की इच्छा जनाकर मैंने ही इसे ऐसा अवसर दिया है। तुम्हारा क्या दोष है ? (स्पष्ट कहते हैं) सखि ! पद्मा का तो कृष्ण-पक्षपात प्रसिद्ध ही है (अर्थात् लक्ष्मी तो सदा श्रीकृष्ण का ही पक्षपात करती है)॥८६॥

पद्मा—अदो तुरिदं गोरीतित्थं लम्भेहि चन्दाअलीअम् । [अतस्त्वरितं गौरीतीर्थं लम्भय चन्द्रावलीम्] ॥८७॥

श्रीकृष्ण—(स्वगतम्) चन्द्रावलेरागतिरेव राधिकोद्यमप्रतिबन्धिनी वृत्ता । तदेनामेव निर्व्यलीकभावां तावत्प्रमोदयन्स्वं मनो विनोदयामि ॥८८॥

(प्रकाशम्)

घृतपद्मोत्सवसंततिरस्वदोषोदया सदा स्फुरती ।
सखि कृष्णपक्षपूर्णा, चन्द्रावलिरद्भुता त्वमसि ॥१२॥

(इत्यग्रे परिक्रम्य) कुरङ्गाक्षि, पश्य काननस्य कमनीयताम् ॥८६॥

पद्मा—हला ! एसो पुरदो सुरङ्गणामा कण्हस्स कुरङ्गो। जस्स घरिणी सा किविदित्थि रङ्गिणी णाम कुरङ्गी। [हला ! एषः पुरतः सुरङ्गनामा कृष्णस्य कुरङ्गः। यस्य गृहणि सा कृतास्ति रङ्गिणी नाम कुरङ्गी]॥

श्रीकृष्ण—(सचकित नेपथ्ये कर्ण दत्त्वा स्वगतम्) नुनमागता राधा, यदय रङ्गिणीकण्ठध्वनिर्दरोदञ्चति ॥६१॥

पद्मा—इसलिए शीघ्र ले चलो गौरी तीर्थ पर चन्द्रावली को ॥८७॥

श्रीकृष्ण—(मन मे) चन्द्रावली का यहा आना ही राधा के उद्यम मे प्रतिबन्ध है—अर्थात् वह वहा नही आ पायेगी। इसलिए अकपट भाव से चन्द्रावली को हर्षित करते हुए अपने मन को आनन्दित करता हूँ ॥८८॥

(स्पष्ट कहते हैं)—हे सखि ! तुम पद्मा के सब आनन्द को धारणकर दोष समूह से शून्य हो और मुझ कृष्ण के पक्ष मे सर्वदा पूर्णभाव से स्फुरित होती हो। अतएव तुम अद्भुत चन्द्रावली हो।

(यह कहते हुए आगे बढ़कर) हे मृगाक्षि ! देखो तो कानन की शोभा ॥८६॥

पद्मा—सखि ! सामने देख, श्रीकृष्ण के सुरङ्ग नामक हरिण ने रङ्गिणी नाम्नी हरिणी को अपनी सहधर्मिणी कर लिया है ॥६०॥

श्रीकृष्ण—(चकित होकर वेशगृह की ओर कान देकर मन ही मन मे) निश्चय हो राधा आ गई है, क्योंकि रङ्गिणा की कण्ठध्वनि सुनाई दे रही है ॥६१॥

पद्मा—कध एसो सुरङ्गो दक्खिणाहिमुह धाइदो ? [कथमेष सुरङ्गो दक्खिणाभिमुख धावित] ॥९२॥

श्रीकृष्ण- (पुनरात्मगतम्) निश्चितमेव रङ्गिणीकण्ठशब्देनाय-माकृष्ट सुरङ्गो गौरीतीर्थं जगाम । तदस्यामेव सङ्कर्षणतीर्थतीरवनलेखाया बिलम्बमान क्षणमुदर्कं तर्कयामि ॥९३॥

पद्मा—

णअपउमिणीसहस्स, अहमहण रसुत्तरङ्गवित्थारि ।
उअ गोउल विअ पुरो, सरोअर रेहई प्फारम् ॥'

[नवपद्मिनीसहस्रमघमथनरसोत्तरङ्गविस्तारि ।
पश्य गोकुलमिव पुर सरोवर राजते स्फारम्] ॥९४॥१३॥

श्रीकृष्ण—प्रिये पश्य पश्य ।

मित्र विचित्रमनुरागभर वहन्ती
सर्वाधितालिनिकरा स्वरसोदयेन ।

पद्मा—यह सुरङ्ग नामक कुरङ्ग दक्षिण की ओर क्यो भाग रहा है ? ॥९२॥

श्रीकृष्ण(पुन अपने मन मे) निश्चय ही रङ्गिणी की कण्ठध्वनि म आकर्षित होकर यह सुरङ्ग गौरीतीथ पर चला गया है । इसलिए इस सङ्कर्षण तीर्थ की वनभूमि म थोडी देर ठहर कर देखता हूँ कि आगे क्या होता है ? ॥९३॥

पद्मा—देखो, पाप विमोचनी जल तरङ्गो का विस्तार करने वाली नवीन सहस्र सहस्र पद्मनियो से युक्त गोकुल की भाति सामने विशाल सरोवर शोभित हो रहा है ॥९४॥

श्रीकृष्ण—हे प्रिय ! देखो देखो—

यह सरोजनी अपनेमित्र सूय म विचित्र अनुराग करती हुई अपने मकरन्द का विस्तार कररही है और मधुकरा को सम्मोहित करती हुई उत्कृष्ट

सत्कर्णिकोज्ज्वलरुचिर्भुवने समन्तात्-
लक्ष्मीं तनोति भवतीव सरोजिनीयम् ॥९५॥१४॥

शैव्या—एणं मणोहरं पउमिणीं कीस कलाणिहि मलाणं करेदि ? ॥
[एना मनोहरा पद्मिनी कस्मात्कलानिधिर्म्लाना करोति ?] ॥९६॥

पद्मा—(चन्द्रमपदिश्य साकूतम्)

सूराणुरत्तहिअआ इअं पउमिणी पसारिदामोआ ।
इह ण तुमं क्खणराओ तराहीस खिवेहि करम् ॥
[सूर्यानुरक्तहृदयेय पद्मिनी प्रसारितामोदा ।
इह न त्वं क्षणरागस्ताराधीश क्षिप करम्] ॥९७॥१५॥

कर्णिका से उज्ज्वल शोभाशालिनी होकर सर्वतो भाव से तुम्हारी तरह जल मे शोभा विस्तार कर रही है ।

(पक्षान्तर मे)—यह पद्मनी रमणी मुझमे विचित्र अनुराग करती हुई-श्रृंगार रस का विस्तार कर रही है और सखी समूह को सम्बधित करती हुई—सुन्दर कर्णालकारो से उज्ज्वल शोभाशालिनी होकर सर्वतोभाव से तुम्हारी तरह लोक मे शोभा विस्तार कर रही है ॥९५॥

शैव्या—इस मनोहारिणी पद्मनी को कलानिधि (कृष्ण-चन्द्र) क्यो मलिन कर रहा है (अर्थात् श्रीराधा को प्रिय मानकर इसकी उपेक्षा क्यो कर रहे हैं ?) ॥९६॥

पद्मा—(चन्द्र को उद्देश्य कर अभिलाषा जनाते हुए) हे ताराधीश (चन्द्र) ! यह पद्मिनी सूर्य के प्रति अनुरक्त हृदय होकर सुगन्धि विस्तार कर रही है । इसलिये क्षणमात्र की लाली युक्त अपनी किरणें तुम इस पर निक्षेप न करो ।

(पक्षान्तर—यह पद्मिनी सूर्य अर्थात् गोवर्धन मल्ल के प्रति अनुराग युक्त हृदय होकर आनन्द विस्तार कर रही है (ता राधीश) इसलिये हे राधापति ! इस चन्द्रावली को तुम हाथ मत लगाओ क्योंकि तुम तो कुछ क्षण के लिये इससे अनुराग करने वाले हो) ॥९७॥

श्रीकृष्ण—पद्मे ! नात्र तारापतिरपराध्यति। यदियं पद्मिनो चञ्चलया पद्मया सायं मुच्यमाना म्लायति ॥९८॥

चन्द्रावली—(सस्मितं पुरो विलोक्य संस्कृतेन)

> समदमधुपलोल्योत्सेकमालोक्य शङ्के,
> विहसति लतिकाली पुष्पशोभाभरेण।
> विसृजति मकरन्दच्छद्मना बाष्पबिन्दू-
> निय्मतिमृदुरेका स्नेहतः स्वर्णयूथी ॥९९॥१६॥

श्रीकृष्ण—(स्मित्वा) प्रिये, पश्य पश्य।

> अयमुच्चशिराः कदम्बराज. स्फुटदिन्दिन्दिरवृन्दवन्दिगीतः।
> सुरभीकुलपुच्छचामरालीमरुदावीजितविग्रहश्च कास्ति ॥१००॥१७॥

चन्द्रावली—अम्महे, ललिदा वुन्दावणलच्छी। [अहो ! ललिता वृन्दावनलक्ष्मीः] ॥१०१॥

श्रीकृष्ण—पद्मे ! इस तारापति (कृष्णचन्द्र) का अपराध नही है। क्योकि यह पद्मिनी सायकाल चञ्चल शोभा को त्यागकर मलिन हो जाती है।

(पक्षान्तर—हे पद्मे, इसमे राधापति-मेरा कुछ अपराध नही है। क्योकि पद्मिनी (चन्द्रावली) चञ्चला पद्मा के साथ सायकाल को छोडकर—अर्थात् भागकर चली जाती है। अभिसार नहीं करती है) ॥९८॥

चन्द्रावली—(मुसकराते हुए सामने देखकर) मैं समझती हू मदमत्त मधुकर (श्रीकृष्ण) की अतिशय चञ्चलता को देखकर ये लतायें (सखीवृन्द) पुष्पोंके बहाने हँस रही हैं। किन्तु अति मृदुल यह एक स्वर्णमुखो(चन्द्रावली) स्नेहवश मकरन्द के बहाने नेत्रो से आँसू बहा रही है अर्थात् अन्यान्य गोपियों से मेरा श्रीकृष्ण मे अत्यधिक स्नेह है ॥९९॥

श्रीकृष्ण—(मुसकरा कर) प्रिय ! देखो, देखो—यह अति उच्च सिर वाला कदम्बराज स्पष्टरूप से मधुकर रूप वन्दीजनो द्वारा स्तुत्य होने से तथा गौओ के पुच्छरूप चामरो को पवन से पराजित या वशीभूत हुआ दीखता है। अर्थात् मैं स्पष्ट रूप से तुम्हारे वशीभूत हो रहा हूँ ॥१००॥

चन्द्रावली—आहा ! श्री वृन्दावन की कैसी ललिता—मनोहारिणी शोभा है ॥१०१॥

(तत प्रविशति ललिता वृन्दा च)

ललिता—(पुरो दृष्ट्वा सम्भ्रमम्) हला ! कक्खड पुरदो सकड एदम् । [हला कक्खट पुरत सकटमेतत् ।] ॥१०२॥

वृन्दा—हन्त दुर्लङ्घ्यशासना किल कराला । तत्कथमद्य पद्मयात्र चन्द्रावलिरुपनीता ? ॥१०३॥

ललिता—हला ! सअलविज्जाविअड्ढासि । तां कड्ढेहि इदो क्ष्ण्हम् । [हला ! सकलविद्या विदग्धासि । तत्कपय इत कृष्णम्] ॥१०४॥

वृन्दा—स्वस्य प्रेममणोना, गौरवभाजामिय वरा पात्री ।
हरिणा परिहरणीया कथ नु चन्द्रावली भविता ? ॥१०५॥१८॥

ललिता—(सस्कृतेन)

यस्मोपचम्य ग ध, गौववकुलमाशु चौरवद्द्रवति ।
उद्भटमनुरागभट, त रञ्जितनागर नौमि ॥१०६॥१९॥

[उसी समय ललिता और वृन्दा प्रवेश करती हैं]

ललिता—(सामने देखकर दुख पूर्वक) सखि ! सामने बडा भारी सकट विद्यमान है ॥१०२॥

वृन्दा—हाय ! कराला का शासन ही भारी ज्वरदस्त है । फिर भी आज चन्द्रावली पद्मा के साथ यहा कैसे ? ॥१०३॥

ललिता—सखि ! तुम तो समस्त विद्याओ मे चतुर हो । श्रीकृष्ण को इस ओर आकर्षित करो ॥१०४॥

वृन्दा—चन्द्रावली श्रीकृष्ण के गौरवास्पद प्रेम-मणि की श्रेष्ठ पात्र है । फिर श्रीकृष्ण इसे कैसे परित्याग कर सकते हैं ? ॥१०५॥१८॥

ललिता—श्रीराधा,क मधुर स्नेहमय अनुराग योद्धा की गन्ध मात्र से गुरुजनो का पथ या मर्यादा चोर की तरह झट भाग जाती है और जिस अनुराग योद्धा न श्रीकृष्ण को शोभित कर रखा है । उस (अनुराग योद्धा) को मैं नमस्कार करती हू ॥१०६॥१९॥

वृन्दा—सखि ! युक्तं ब्रवीषि । किंतु दाक्षिण्यमुद्रेयं चन्द्रावल्यां कृष्णस्य, ततः खल्वमुं दूराकर्षं कथयामि ।।१०७।।

ललिता—वुन्दे ! सच्चं भणासि । ता इमस्सि अच्चाहिदे किं सरणम् ? [वृन्दे ! सत्य भणसि । तदस्मिन्नत्याहिते किं शरणम्] ।।१०८।।

वृन्दा—प्रथमं गोष्ठीमाविश्य तत्त्वमवधारयाव. ।।१०९।।

(इत्युभे परिक्रामत.)

शैव्या—(विलोक्य जनान्तिकम्) हला पउमे ! हन्त णूणं गौरीतित्थे राही सगदा । पेक्ख, तद्दिसादो ललिदा मिलदि । [हला पद्मे ! हन्त नून गौरीतीर्थे राधा सगता । पश्य, तद्दिशातो ललिता मिलति] ।।११०।।

पद्मा—का णो हाणी, ज हरिणा दुप्परिहरा पिअसही ? [का नो हानिर्यद् हरिणा दुष्परिहरा प्रियसखी]।।१११।।

वृन्दा—सखि ! तू ठीक कहती है । किन्तु श्रीराधा की इस प्रकार चन्द्रावली के प्रति आसक्ति को मैं निश्चय उसी का दुराकर्ष ही कहती हूँ । उसने इन्हें जबरदस्ती खीच रखा है ।।१०७।।

ललिता—वृन्दे ! तू सच कहती है । परन्तु अब इस अमगल से बचने का क्या उपाय है ।।१०८।।

वृन्दा—पहले आओ, गोष्ठी मे चलकर तत्व-तथ्य का निश्चय करेंगी ।।१०९।।

[यह कहकर दोनों लौट जाती हैं]

शैव्या—(देखकर कान मे धीरे धीरे) सखि पद्मे ! हाय निश्चय ही गौरीतीर्थ पर राधा आ चुकी है । यह देख ललिता उसी ओर जा रही है ॥

पद्मा—हमारी इसमे क्या हानि है ? कृष्ण के लिये हमारी प्रिय सखी चन्द्रावली को त्यागना मुश्किल है ।।१११।।

ललिता—(उपसृत्य) हला चन्दाअलि ! वल्लहासिणेहाणहिण्णस्स कुरङ्गीसङ्गभुअङ्गस्स कुरङ्गस्स घरे ण क्खु अम्हेहिं रङ्गिणी वासणिज्जा। जं इमिणा मासब्भन्तरे वि स कालसारकुमारी ण सुमरीअदि, ता एत्थ तुमं सक्खिणीं काडुं आअदम्हि। [हला ! चन्द्रावलि ! वल्लभास्नेहानभिज्ञस्य कुरङ्गीसङ्गभुजङ्गस्य कुरङ्गस्य गृहे न खल्वस्माभो रङ्गिणी वासनीया। यदनेन मासाभ्यन्तरेऽपि सा कालसारकुमारी न स्मर्यते, तदत्र त्वां साक्षिणीं कर्तुमागतास्मि।] ॥११२॥

(चन्द्रावली स्मयते)

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्)हन्त, मदर्थमागता ललिता। चन्द्रावली विलोक्य छलमालम्बते। (प्रकाशम्) ललिते ! हृदयेङ्गितमविज्ञाय मुधा सुरङ्गमुपालभसे। तदेव संदेशस्त्वया तस्यामावेद्यताम् ॥११३॥

हरिणाभिलष्यमाणा, सारङ्गरमणि सदा त्वमत्रासि।
तदमुं त्वद्वशहृदय, हृदयंगमलोचने विद्धि ॥११४॥२०॥

पद्मा—(जनान्तिकम्) कण्ह ! अप्पणो पिअजणं लद्धोसि। ता जुत्तं

ललिता—(निकट जाकर) हे चन्द्रावलो ! प्रियतमा के स्नेह को न जानने वाले, कुरङ्गी-सङ्ग कामुक कुरङ्ग के घर मे हम रङ्गिणी कुरङ्गी को नहीं वसने दगी। क्योकि वह एक मास मे भी कृष्णसार कुमारी को याद नही करता है। इसलिए तुमको साक्षी करने के लिए मैं यहा आई हूँ॥

[चन्द्रावली हँसने लगती है]

श्रीकृष्ण—(अपने मन मे) हाय ! ललिता तो मेरे लिए ही यहां आई थी, किन्तु चन्द्रावली को देखकर वात को घुमा गई है। (स्पष्ट कहते हैं—) हे ललिते ! हृदय के भाव को न जानकर तू वृथा सुरङ्ग का तिरस्कार कर रही है। इसलिए तुम इस समय उसको इस प्रकार कहना—॥११३॥

हे सारङ्गरमणि ! हरिण तो सदा तुम्हारी अभिलाषा किया करता है। इसलिये हे शोभनलोचने ! इस हरिण को तुम अपने वशीभूत-हृदय हुआ जानना ॥११४॥

पद्मा—(हाथ की ओट मे) कृष्ण ! तुम्हें अब अपने प्यारे जन मिल

अजोग्गाएं अम्हाणं विसज्जणम्। [कृष्ण! आत्मनः प्रियजनं लब्धोऽसि, तद्युक्तमयोग्यानामस्माकं विसर्जनम्।

श्रीकृष्ण—

करवाणि हन्त दिव्यं, दिव्याङ्गि मदोन्नतासु गोपीषु।
अनुरागिता सखि वंधे राधागन्धिषु न वामासु। ११६॥२१॥

पद्मा—(सदर्पस्मितम्) सहि ललिदे! अच्चारिअं अच्चारिअं। तुमं क्खु अणुराहा भणिज्जसि। ता कोस अज्ज राहाए उअअ विणा उइदासि? [सखि ललिते! आश्चर्यमाश्चर्यम्। त्वं खल्वनुराधा भण्यसे। तत्कस्मादद्य राधाया उदयं विनोदितासि? ॥११७॥

ललिता—(संस्कृतेन)

रोलम्बीनिकुरम्बं, चुम्बति गण्डं पिपासया यस्य।
सरति तृषार्त्तः सरसीं, स करीन्द्रस्तं पुनर्न हि सा ॥११८॥२२॥

गए है। इसलिए हम आयाग्य-पात्रों को त्याग देना ही तुम्हारे लिए उचित है॥११५॥

श्रीकृष्ण—आहा कैसा आश्चर्य! दिव्याङ्गि सखि! मैं तुम्हारी प्रीति की शपथ खाकर कहता हूँ, परमाकर्षक मधुर स्नेहवती श्रीराधा-सौरभ के प्रतिकूल चलने वाली समस्त गोपियों के प्रति मैं कभी भी प्रेम नहीं करता हूं॥११६॥

पद्मा – (गर्व पूर्वक मुसकराते हुए) सखि ललिते! आश्चर्य है! अति आश्चर्य है!! तुम्हें तो सदा अनुराधा (राधा के पीछे चलने वाली) कहा जाता है, फिर आज तुम कैसे श्रीराधा के विना यहा उपस्थित हुई हो॥

ललिता—देखो समस्त भ्रमरीवृन्द (मकरन्द पान को) पिपासा से आतुर होकर हाथी के कपोलों का जाकर बार-बार चुम्बन करती हैं। (और वह हाथी उद्वेगपूर्वक अपने कानों से उनकी ताड़ना करता रहता है) परन्तु जब हाथी प्यासा होता है तो वह स्वयं सरोवर पर भाग-भाग कर जाता है (एवं वहा सुख प्राप्त करता है) सरोवर कभी हाथी के पास नहीं जाता॥

पद्मा—एक्कं धीमदि सेव्वे, पहेलिअं मे सहि जाणेहि।
चित्तफलअम्मि लिहिदा, का रेहई माहवस्सदा ?
[एकां धीमति शैव्ये प्रहेलिकां मे सखि जानीहि।
चित्तफलके लिखिता का राजते माधवस्य सदा] ॥११९॥२३॥

शैव्या—सहि चन्दाअली [सखि चन्द्रावली] ॥१२०॥

वृन्दा—(सस्मितम्) साधु विज्ञातम्। चन्द्रमण्डलावलिमण्डनेन चित्रं खलु रमापतेः फलकं शतचन्द्रमाचक्षते ॥१२१॥

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्) अवदातशीलेयम् ॥१२२॥

(चन्द्रावली सलज्जमपसव्ये प्रयाति)

(अर्थात्, तुम कामातुर होकर पुनः पुनः निरादृत होकर भी श्रीकृष्ण के पास भाग-भागकर जाती हो जिससे श्रीकृष्ण को कुछ प्राप्त नहीं होता बल्कि उद्वेग ही होता है। परन्तु श्रीकृष्ण जब तृषातुर होते हैं तो वे स्वयं ही हमारी प्रिय सखी श्रीराधा के पास गमन करते हैं। जिससे श्रीकृष्ण का सर्वसुख सम्पादित होता है। अतः श्रीराधा के यहां आने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता) ॥११८॥२२

पद्मा—हे बुद्धिमते शैव्ये ! मेरी एक प्रहेलिका है, उसका अर्थ तो बता। श्रीकृष्ण के हाथ में चित्तफलक पर लिखा हुआ कौन सदा विराजमान रहता है ॥११९॥२३

शैव्या—सखि ! चन्द्रावली ॥१२०॥

वृन्दा—(मुसकरा कर) ठीक बूझा हैं तूने। जिस चन्द्रमण्डल—चन्द्रावली द्वारा लक्ष्मीपति का चित्त-फलक बना हुआ है उसे शतचन्द्र अर्थात् ढाल कहते हैं ॥१२१॥

श्रीकृष्ण—(अपने मन में) विशुद्ध स्वभावा है यह ॥१२२॥

[चन्द्रावली लज्जित होकर दाईं ओर चली जाती है]

ललिता—मह वाहरेहि वुन्दे, पहेलिअं दिव्वपहेलिविण्णाणे।
पिअसहि किमिहिक्खाए, लक्खिज्जइ माहवो भुअणे ? ॥
[मम व्याहर वृन्दे प्रहेलिकां दिव्यप्रहेलिविज्ञाने।
प्रियसखि किमभिख्यया लक्ष्यते माधवो भुवने ?] ॥१२३॥२४॥

वृन्दा—सखि ! राधाभिख्यया ॥१२४॥

श्रीकृष्णः—युक्तमिदं यद्वैशाखपर्यायौ माधवराधौ ॥१२५॥

पद्मा—सेव्वे ! अलं पहेलिआपसङ्गेण। सुहावेहि कमलिक्खणरसेहिं अत्ताणअम्। [शैव्ये ! अलं प्रहेलिकाप्रसङ्गेन। सुखय कमलेक्षणरसैरात्मानम्] ॥१२६॥

शैव्या—(कमलाकरं विलोक्य)
भमरस्स ताव पमदं, पदोसमुदिदा कुमुद्दी कुणइ।
जाव इअ पउमाली, विन्दई ण हु दिट्ठिमेदस्स ॥

ललिता—हे प्रेहिलकाओ को बूझने मे अति श्रेष्ठ वृन्दे ! वता किसके नाम से माधव (श्रीकृष्ण) सुशोभित होते हैं ॥१२३॥

वृन्दा—सखि राधा नाम से। (राधया माधवो देवो……वेद ॥)

श्रीकृष्ण—ठीक कहा है, क्योंकि वैशाख मास के पर्याय भी माधव एवं "राध" हैं। (वैशाख के दूसरे नाम हैं माधव एवं राध) ॥१२५॥

पद्मा—शैव्ये ! अब प्रहेलिका का प्रसंग वन्द करो। अब तो कमलेक्षण—कमलों का दर्शनरस आस्वादन करो। (अथवा कमलेक्षण—श्रीकृष्ण का दर्शन करो) ॥१२६॥

शैव्या—(कमलों को देखकर) भ्रमर को उसी समय तक विकसित कुमुदिनी प्रदोपकाल मे आनन्द प्रदान करती है, जब तक उनकी दृष्टि कमल-श्रेणी पर नहीं जाती ॥

(श्लेषार्थ मे—भ्रमर-कामुक श्रीकृष्ण को रात्रि के वास मे मुदिता अर्थात् प्रकृष्ट दोपयुक्ता कुमुद्वती—विकसित आनन्ददात्री अर्थात् राधा तब

[भ्रमरस्य तावत्प्रमद प्रदोषमुदिता कुमुद्वती कुरुते ।
यावदिय पद्माली विन्दति न हि दृष्टिमेतस्य ॥१२७॥२५॥

पद्मा—हला ! सच्चं भणासि । तथा हि ।

विज्जोदन्ति राहा पेक्खिज्जइ ताव तारआलीहिम् ।
गअणे तमालसामे, ण जाव चन्दाअली फुरइ ॥

[हला ! सत्य भणसि । तथा हि ।
विद्योतमाना राधा प्रेक्ष्यते तावत्तारकालीभि ।
गगने तमालश्यामे न यावच्चन्द्रावलि स्फुरति ॥] ॥१२८।२६

ललिता—(विहस्य सस्कृतेन)

सहचरि वृषभानुजया प्रादुर्भावे वरत्विषोपगते ।
चन्द्रावलीशतान्यपि, भवन्ति निर्धूतकान्तीनि ॥१२६॥२७॥

श्रीकृष्ण—(स्मित्वा) कि वाचाटतया ? सन्निकृष्टस्य सुरभे सौरभ्यमनुभूयताम् ॥१३०॥

तक आनन्द देती है, तब तक उस श्रीकृष्ण की दृष्टि पद्माली—जिस की पद्मा सखी है अर्थात् चन्द्रावली पर नहीं पडती) ॥१२७॥

पद्मा—सखि ! तूने सच कहा है, देख—तमाल की भांति श्याम वर्ण आकाश मे तारावली के साथ राधा नक्षत्र (वैसाखा) तभी तक प्रकाशित होता है, जब तक चन्द्रावली प्रकाशित नही होती ।

(श्लेषार्थ—तारावली अथात् विशाखादि सखियो के साथ श्रीराधा तब तक शोभित होती है जब तक चन्द्रावली नहीं आती ॥१२८॥२६॥

ललिता—(हँसकर) हे सहचरि । वृषभानुजा अर्थात वृषराशि स्थित सूर्य जनित उत्कृष्ट कान्ति (श्रीराधा कान्ति) से सौ-सौ तारागणों (चन्द्रावली) की शोभा कान्ति मलिन हो जाती है ॥१२६॥

श्रीकृष्ण—(मुसकराकर) अधिक वाचालता का क्या प्रयोजन है ? यहाँ उपस्थित वसन्त की सौरभ का अनुभव करो ॥१३०॥

वृन्दा—(सस्मितम्)

उल्लसति फुल्लगात्री, का वल्ली नात्र माधवेऽभ्युदिते ?
तन्नामतः प्रसिद्धां, तथापि तां माधवीं नौमि ॥१३१॥२८॥

श्रीकृष्णः—(सवैमनस्यं परिक्रम्योच्चैः) हला चन्दावलि ! धुत्तगोट्ठीरङ्गे संगमिअ विग्घेसजणणीपूअणे कीस सिढिलासि ? [हला चन्द्रावलि ! धूर्तगोष्ठीरङ्गे सगम्य विघ्नेशजननीपूजने कस्माच्छिथिलासि ?] ॥१३२॥

श्रीकृष्णः—(सोपालम्भम्)

चन्द्रावलीं मामनुरुध्यमानां रुणाद्धि पद्मे भवती बलेन ।
मल्लीं तमालाभिमुखं मिलन्तीं, हिन्त्रेव वल्ली पुरतः कराला ॥

(प्रविश्य)

कराला—चिट्ठध रे, चिट्ठध, दिट्ठिआ मग्गे च्चेअ लद्धात्थ । [तिष्ठत, रे तिष्ठत । दिष्टया मार्ग एव लब्धा. स्थ ॥१३४॥

वृन्दा - (मुसकान पूवक) (मा वसन्त व श्रीकृष्ण) के उपस्थित होने पर कोनसो लता (रमणो) है जिसके अग प्रफुल्लित नही हो उठते हैं ? अर्थात् सभी प्रफुल्लित हो उठतो हैं। तथापि माधव के नाम से प्रसिद्ध माधवी लता (श्रीराधा) को मैं प्रणाम करती हू ॥१३१॥२८॥

पद्मा—(लज्जा सहित घूमकर ऊँची आवाज मे) सखि चन्द्रावलि ! धूर्त-गोष्ठी के सग मे पडकर गणेश-जननि (श्रीगौरी) के पूजन मे क्यो शिथिल हो रही हो ? ॥१३२॥

श्रीकृष्ण—(तिरस्कार सहित) पद्मे ! जैसे तमाल वृक्ष (मुझ कृष्ण) को मिलाने के लिये उसकी ओर जाने वाली मल्ली-लता को कराला हिन्त्रलता (कठोर लता) रोक लेती है, उसी प्रकार तू मेरे मे अनुरक्त चन्द्रावलि का बलपूर्वक रोक रही है ॥१३३॥

[कराला प्रवेश करती है]

कराला—ठहर जा रे, ठहर जा, सौभाग्य से आज तू रास्ते में ही मिल गया है ॥१३४॥

(सर्वाः परावृत्य संभ्रमं नाटयन्ति)

शैब्या—(अपवार्य) पउमे ! हद्धी हद्धी । कधं एत्थ अम्हे विण्णादा बुड्ढिआए ? [पद्मे ! हा धिक् हा धिक् । कथमत्र वयं विज्ञाता वृद्धया] ॥

कराला—अम्मो सच्चं ज्जेअ जप्पिदं ताए णवणीअलम्पडाए बुड्ढमक्कडीए । [अम्मो! सत्यमेव जल्पितं तया नवनीत लम्पटया वृद्धमर्कट्या]॥

(पद्मा सखेदं शैब्यामुखमीक्षते)

ललिता—(स्वगतम्) बुड्ढमक्कडि कक्खडिए! सक्करामक्खिदं मक्खणं दे दाइस्सम् । [वृद्धमर्कटि कक्खटिके ! शर्करात्रक्षितं नवनीतं ते दास्यामि]

श्रीकृष्णः—(अपवार्य) प्रिये तिरोधानाय स्थानमपि न ते पश्यामि । यतः,

सव्ये गिरिः स्फुरति दुर्गमतुङ्गशृङ्गो,
गाः पालयत्यहह दक्षिणतस्तथार्यः ।

[सब घूमकर हड़बड़ी प्रकाशित करती हैं]

शैब्या—(हाथ की ओट करके) पद्मे ! हाय धिक्कार है धिक्कार ! इस वृद्ध को कैसे पता लग गया कि हम यहां हैं ? ॥१३५॥

कराला—ओ मां ! उस माखन चोरनी वृद्ध वानरी ने सत्य ही कहा था ॥१३६॥

[पद्मा खेदपूर्वक शैब्या के मुँह की ओर देखती है]

ललिता—(अपने मन में) हे वृद्धा वानरी कक्खटिके ! तुमको मिश्री मिला माखन दूँगी ॥१३७॥

श्रीकृष्ण—(हाथ की ओट में) हे प्रिये ! तुम्हें छिपाने की भी तो कोई जगह नहीं देख पा रहा हूँ—

बायीं ओर अत्युच्च चोटियों वाला गोवर्धन पर्वत है, दक्षिण में बड़े भाई श्रीबलदेव गौ-चारण कर रहे हैं, पीछे की ओर कोई आवरण नहीं है

क्रूः पृष्ठतो विरहिता वृतिभिः पुरस्तात्-
क्रूरा विवेष जरती कतमात्र युक्ति ? ॥१३८॥३०॥

चन्द्रावली—(स्वगतम्) हन्त हन्त । अकण्डे कक्कसाए भविदव्वदा चण्डालीए चण्डिमा । [हन्त हन्त, अकाण्डे कर्कशाया भवितव्यता चण्डाल्याश्चण्डिमा] ॥१३६॥

कराला—(सरम्भमभिनीय) पेच्छध भो पेच्छध, इमस्स कुसुम्भतेल्लकज्जलजालकालस्स कालभुअङ्गभअंकरलोअणञ्चलस्स चञ्चलस्स भुअङ्गत्तणम्, जं वारहमग्गं गमिदो इमिणा सअलाएं गोउलङ्गलङ्गणाएं मङ्गलो कुलधम्मो-(इति सशिरः कम्पं दृशो विस्फार्य) अरे सामलआ ! कस्स एसा जाआ त्ति जाणसि ? सुणाहि रे, णीसङ्कं सुणाहि, जो वखु भोइन्दस्स दुदिओ अप्पा तस्स महामल्लस्स । [प्रेक्षध्व भो प्रेक्षध्व, अस्य कुसुम्भतैलकज्जलजालकालस्य कालभुजङ्गभयकरलोचनाञ्चलस्य चञ्चलस्य भुजङ्गत्वम्, यद्द्वादशमार्ग गमितोऽनेन सकलाना गोकुलकुलाङ्गनाना मङ्गल कुलधर्मः । अरे श्यामल ! कस्यैषा जायेति जानासि ? शृण रे, नि.शङ्क शृणु , य. खलु भोजेन्द्रस्य द्वितीयात्मा तस्य महामल्लस्य ।] ॥१४०॥

श्रीकृष्ण.—करालिके ! तत् किम् ? ॥१४१॥

और सामने क्रूर स्वभावा वृद्धा कराला आ रही है । यहा क्या युक्ति हो सकती है? ॥१३८॥३०॥

चन्द्रावली—(अपने मन मे) हाय ! हाय !! सम्पूर्ण कठोर स्वभावा चण्डालिन की कैसी प्रचण्ड भवितव्यता चण्डिमा है ॥१३६॥

कराला—(क्रोध प्रकट करते हुए) देखो रे लोगो देखो, कौसुम्भ-तैल को जलाकर बनी काजल राशि की तरह काले सर्पवत् भयकर नेत्रो वाले इस चञ्चल कृष्ण के कामुकत्व को, जिसने समस्त गोकुल की कुलाङ्गनाओं के समस्त मङ्गल-कुलधर्म को बारहो द्वार बाहर निकाल फेंका है । (इतना कहते हुए सिर को कम्पाती हुई एव नेत्रो को फाडती हुई) अरे श्यामा ! जानता है तू यह किसकी नारी है ? सुन रे सुन जरा निशङ्क होकर । राजा कस की द्वितीयात्मा महा मल्ल गोवर्धन की पत्नि है यह ॥१४०॥

श्रीकृष्ण—हे करालिके ! इससे क्या होगा ॥१४१॥

करला—(सक्रोधम्) सच्चं सच्चं तुमं वणमज्झे अप्पाणं दुदिअं राआणं जाणसि। सो च्चेअ राअउलगामी गोट्ठणाहो अप्पणो लनाडं ताडिस्सादि। [सत्यं सत्यम् त्वं वनमध्ये आत्मानं द्वितीयं राजानं जानासि। स एव राजकुलगामी गोष्ठनाथ आत्मनो ललाटं ताड़यिष्यति-] ॥१४२॥

श्रीकृष्णः—कराले ! तुभ्यं शपे। चन्द्रावलीं विलोक्य साध्वसं गतोऽहमुद्वेगमासादयामि ॥१४३॥

करला—(चन्द्रावली विलोक्य सामर्षम्) हा णिउञ्जुज्जाअरिणी ! आकोमारसिक्खिदकण्हहिसारकोसले ! संरम्भुण्णद्धगोविआसहस्सुच्छिट्ठाहरबिम्बतिण्हामेत्तविद्धंसिदकुलव्वदे! चिट्ठ चिट्ठ। किं दाणिं भाएसि? [हा निकुञ्जोज्जागररिणि ! आकौमार-शिक्षित-कृष्णाभिसार-कौशले ! संरम्भोन्नद्ध-गोपिकासहस्रोच्छिष्टाधर-बिम्बतृष्णामात्रविध्वंसितकुलव्रते ! तिष्ठ-तिष्ठ। किमदानीं बिभेषि ?] ॥१४४॥

करला—(क्रोधपूर्वक) ठीक है, ठीक है, तू अपने को इस वन में दूसरा राजा समझता है। वह राज-कुलगामी गोष्ठनाथ नन्दराज ही अपना माथा पीटेंगे॥ (अर्थात् राजा कंस को सभा में जब यह तुम्हारी करतूत कही जावेगी और कंस के कर्मचारी तुम्हें पकड़ने आवेंगे, तो राजदण्ड के भय से तू तो वन में छिप जायेगा परन्तु तुम्हारे पिता नन्दराज को पकड़कर ले जाया जायगा। वहां नन्दराज —"हाय ! ऐसा पुत्र क्यों पैदा हुआ, कहकर माथा पीटेंगे) ॥१४२॥

श्रीकृष्ण—हे कराले ! मैं चन्द्रावली को देखकर भयभीत हो रहा हूं एवं बड़ा दुखी हो रहा हूं ॥१४३॥

करला—(चन्द्रावली को देखकर क्रोधपूर्वक) हा निकुञ्जों की उज्जागरिणि ! कौमारवयस से ही शिक्षित कृष्णाभिसार-कौशले ! क्रोधपूरित सहस्र सहस्र गोपियों ने जिस कृष्ण के अधर बिम्ब को झूठा किया है केवल उसी की तृष्णा में ही अपने कुलव्रत को नाश करने वाली ! ठहर जा तू, ठहर, अब डर क्यों रही है ? ॥१४४॥

ललिता—अज्जे ! को क्खु दोसो जीअणणाहाणुगदाए पच्छिमदिसाए, को वा दोसावहारिणो सूरस्स ? किंतु एदाण आरूढराआण दोण्ण राअ उप्पादिअ संगमकारिणीए सञ्झाकुट्टिणीए ज्जेअ पदोसाणुवन्धिदा। [आर्ये ! क खलु दोषो जीवननाथानुगताया पश्चिमदिश.। को वा दोषापहारिणः सूर्यस्य ? किंत्वेतयोरारूढ रागयोर्द्वयो रागमुत्पाद्य संगमकारिण्या सन्ध्या-कुट्टिन्या एव प्रदोषानुबन्धिता] ॥१४५॥

कराला—जादे ! सच्चं कधेसि (इति प्रौढमाटोपं नाटयन्ती) हञ्जे पउमिए ! परघरविघट्टिणि ! कुट्टिणीकम्मलम्पडे धिट्ठ ! मण्डलचक्कवट्टिणि ! मह हत्थादो कह मुक्किस्ससि ? [जाते ! सत्य कथयसि हञ्जे पद्मिके ! परगृह-विघट्टिनि, कुट्टिनीकर्मलम्पटे ! धृष्टामण्डलचक्रवर्तिनि ! मम हस्तात् कथ मोक्ष्यसि ?] (इति यष्टिमुद्यच्छते) ॥१४६॥

पद्मा—(परावृत्य) अज्जे ! ण जाणे कीस खिज्जसि। ज अम्हेहिं तुज्झ सासणं ज्जेअ किज्जन्त अत्थि। आर्ये ! न जाने कस्मात्खिद्यसे। यदस्माभिस्तव शासनमेव क्रियमाणमस्ति] ॥१४७॥

ललिता—आर्ये ! जीवननाथ (वरुण) का अनुगमन करने वाली पश्चिम दिशा का क्या दोष है ? और दोषापहारी—(रात्रि को नाश करने वाले) सूर्य का ही क्या दोष है ? किन्तु परस्पर अनुरक्त इन दोनो का अनु-राग उदित कर सङ्गम कराने वाली रात्रि से पहले आने वाली कुटिला सध्या का ही दोष है। (अर्थात् इसमे न तो चन्द्रावली का दोष है न श्री-कृष्ण, का दोष है इस पद्मा का जो इन दोनों को लाकर सगम कराती है)।

कराला—पुत्रि ! तूने सत्य कहा है। (यह कहकर अतिशय क्रोध दिखाते हुए) अरी चेटकि पद्मे ! परगृह-नाशिनि ! स्त्री-कुल नाशकारिणि लम्पटे ! धूर्त्तमण्डल चक्रवर्त्तिनि ! तू मेरे हाथ से कैसे बचेगी ? (यह कह-कर मारने के लिये लाठी उठाती है) ॥१४६॥

पद्मा—(पीछे हटकर) आर्ये ! न जाने आप इतना दुख क्यों मान रही हैं। हम तो आपकी आज्ञा के अनुसार ही सब कर रही हैं ॥१४७॥

वृन्दा—(स्वगतम्) नूनं धूर्त्तया शब्दच्छलमालम्बितं पद्मया। (प्रकाशम्) आर्ये, शैलमल्लयोर्नामाद्वैतेन भ्रान्तेयं मुग्धा बाला। तदद्य क्षम्यताम् ॥१४८॥

(कराला यष्टिं विमुञ्चति)

पद्मा—(स्वगतम्) ललिदे, चिट्ठ चिट्ठ। तुह णिक्किदं कादुं एसा जडिलं गच्छन्ति म्हि [ललिते, तिष्ठ तिष्ठ। तव निष्कृतं कर्तुमेषा जटिलां गच्छन्त्यस्मि] (इति निष्क्रान्ता) ॥१४९॥

कराला—(चन्द्रावलीमवलोक्य) एहि भो कुडुङ्गकुडुम्बिणी, एहि। [एहि भो कुञ्जकुटुम्बिनि, एहि] (इति चन्द्रावलीमादाय शैव्यया सह निष्क्रान्ता) ॥१५०॥

श्रीकृष्णः—(सोच्छ्वासम्) वृन्दे! नूनं साधितार्थासि ॥१५१॥

वृन्दा—(अपने मन में) निश्चय ही पद्मा ने धूर्तता से शब्द छल का अवलम्बन लिया है। (स्पष्ट कहती है) आर्ये! गोवर्धन शब्द पर्वत और तुम्हारे पुत्र गोवर्द्धन मल्ल—इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—अतः यह युवति भ्रम में पड़ गई है। चन्द्रावली को गोवर्द्धन मल्ल के पास ले जाने की बजाय यहाँ गोवर्द्धन के निकट ले आई है। इसलिये आज इसे क्षमा कर दो ॥१४८।

[कराला लाठी फेंक देती है]

पद्मा—(मन में) अरी ललिते! ठहर जा, ठहर जा, तेरे उपकार का बदला चुकाने के लिये मैं भी जटिला के पास जा रही हूँ। (यह कहकर चली जाती है) ॥१४९॥

कराला—(चन्द्रावली को देखकर) अरी ओ कुञ्जकुटुम्बिनि! आ। (यह कहकर चन्द्रावली और शैव्या के साथ चली जाती है) ॥१५०॥

श्रीकृष्ण—(आनन्द सहित) वृन्दे! तूने निश्चय ही काम बना दिया है ॥१५१॥

वृन्दा – माधव ! रूपिणी माधवलक्ष्मीर्गौरीतीर्थे खेलति । तया चोपढौकितं सर्वस्वमिदं दरोन्मुद्रितं गन्धफलीद्वन्द्वम् ॥१५२॥

श्रीकृष्णः—(सानन्दमादाय) वृन्दे यावद्गवां चारणे वयस्यानवधाप्य तत्रानुसरामि तावद्भवतीग्यामपतः प्रस्थीयताम् (इति निष्क्रान्तः)॥

वृन्दा—(परिक्रम्य) ललिते, पुरः संभावयकदम्बसम्राजम् । (इत्युपेत्य) हन्त हन्त ।

> शङ्के पङ्कजसंभवोऽपि भवतः सौभाग्यभङ्गीभरं
> वक्तुं न क्षमते कदम्बनृपते वृन्दाटवीद्योतिनः ।
> पुष्पैर्यस्य रमासहोदरतयाप्युद्भासुरं कौस्तुभं
> दुर्लीलैरवहेलयद्भिरभित. शौरेरुरश्छाद्यते ॥१५४॥३१॥

वृन्दा—माधव ! माधव-लक्ष्मी रूपिणि (आपकी सम्पत्ति स्वरूपिणी -राधा) गौरी तीर्थ पर खेल रही है । उसने आपको अति प्यारी-ये दो अधखुली चम्पक कलियां उपहार मे भेजी हैं ॥१५२॥

श्रीकृष्ण—(आनन्दपूर्वक लेकर) वृन्दे ! जब तक मैं सखाओ को गोचारण में नियुक्त कर वहा आता हूं, जब तक तुम वहाँ चली जाओ। (यह कहकर श्रीकृष्ण चले जाते हैं ।) ॥१५३॥

वृन्दा—(लौटकर) ललिते ! देख तो सामने कदम्ब साम्राज्य को । (यह कहकर निकट आती है) अहा-हा !

हे श्रीवृन्दावन में उदयशील कदम्बराज ! मैं समझती हूँ ब्रह्मा भी तुम्हारे सौभाग्य की उत्कृष्टता को वर्णन करने मे समर्थ नही है । क्योंकि श्रीकृष्ण के वक्ष स्थल पर विराजमान लक्ष्मी की सहोदरा अति ज्योतिर्मय कौस्तुभमणि को भी तुम्हारे अति चञ्चल पुष्प समूह उसकी अवहेलना करते हुए आच्छादित किए रहते हैं । अर्थात् सदा तुम्हारे पुष्पो की माला वक्षस्थल पर धारण किये रहने से कौस्तुभ मणि भी उतनी शोभा प्रकाशित नही कर पाती ॥१५४॥३१

ललिता—(पुरो विलोक्य) वुन्दे ! इअ विसाहादुदिआ भअवदी माअन्दकुञ्जे पच्छन्न चिट्ठदि। [वृन्दे! इयं विशाखाद्वितिया भगवती माकन्दकुञ्जे प्रच्छन्न तिष्ठति] ॥१५५॥

वृन्दा—(लवङ्गलतान्तिके राधा विलोक्य) ललिते, पश्य पश्य।

किमियं सुषमा वपुष्मती किमभिव्यक्तिरलं गुणश्रियः ?
अथवा प्रणयाभिसंपद किमियं मूर्तिरुदेति राधिका ? ॥१५६॥३२॥

(पुनर्निर्वर्ण्य)

कर्णालिकृतकमला कुन्तलवेणीशिखाञ्चलकमला।
करकमलाधितकमला विडम्बयत्यलमसौ कमलाम् ॥१५६॥३३॥

(नेपथ्ये)

कर्णान्दोलितमुग्धगन्धफकलिकाद्वन्द्व कदम्बस्रजा
सवीतो मुरलीकरम्बितकरश्चूडाञ्चले चन्द्रिका।

ललिता—(सामने देखकर) वृन्दे ! यह देख, विशाखा के साथ भगवती पौर्णमासी आम्रकुञ्ज मे छिपी हुई है ॥१५५॥

वृन्दा—(लवगलता के निकट श्रीराधा को देखकर) ललिते ! देखो, दखो—

क्या यह गुणलक्ष्मी की शोभा मूर्ति धारण कर प्रकाशित हो रही है, अथवा प्रणय सम्पद की मूर्ति धारण कर यह श्रीराधा उदित हुई है ? ॥

(फिर देखकर)—आहा ! कानों में कमल विभूषित, केश-वेणी के अग्रभाग में कमल आन्दोलित, एव हाथ मे कमल सुशोभित हैं, जिनसे वह श्रीराधा कमला (लक्ष्मी) को अतिशय लज्जित कर रही है ॥१५७॥३३

[वेशगृह से आवाज आती है]

कानों में सुन्दर-चम्पक आन्दोलित, हाथ में मुरली, केशों में चन्द्रक कदम्ब माला से विभूषित, एव ललाट पर उज्ज्वल मनःशिल का तिलक

दूरादेव मनः शिलातिलकिना मालेन विभ्रद्‌द्युति
मूर्त्तः खेलति हन्त नन्दगृहिणीवात्सल्यलक्ष्मीरसः ॥१५८॥३४

ललिता—णूणं भअवदीए दूरे दिट्ठो कण्हो, जं वण्णीअदि। [नूनं भगवत्या दूरे दृष्टः कृष्णः, यद्वर्ण्यते] ॥१५९॥

वृन्दा—ललिते, सत्यमविदूरवर्त्ती मुरवैरी। तथा हि।

सखि कुण्डलीकृतशिखण्डमण्डलो
नटतीह ताण्डविकइतिरण्डजः।
न कदापि कृष्णमुदिरेक्षणं विना
मुदिरेक्षणे क्षणमपि श्वसित्यसौ ॥१६०॥३५॥

ललिता—सहि, दक्खिणेण पुंणाअसण्डे पेक्ख पुण्ड्अमण्डवेरणं। [सखि, दक्षिणेन पुंनागषण्डे पश्य पुण्ड्रकमण्डपे एनम्] ॥१६१॥

न्दा—(विलोक्य सहर्षम्)

चक्रं वशीकृतवतः किल नैचिकीनां
वंशीनिनादमधुना मधुसूदनस्य।

धारण किए, वह श्री यशोदा की वात्सल्य-लक्ष्मी मूर्तिमान रस-विग्रह होकर क्रीड़ा कर रही है ॥१५८॥३४

ललिता—वृन्दे! भगवती जिस रूप का वर्णन कर रही है, उससे निश्चय होता है कि इसने दूर से श्रीमाधव-कृष्ण का दर्शन किया है ॥१५९॥

वृन्दा—ललिते! यह सत्य है, वह माधव निकट ही वर्त्तमान है, क्योंकि—

हे खञ्जनलोचने! ताण्डविक मोर अपने पुच्छ-मण्डल को गोलाकृति में फैलाकर नृत्य कर रहा है। घन-श्याम के दर्शन बिना वह कभी भी जीवन धारण नहीं कर सकता ॥१६०॥३५

ललिता—सखि! दक्षिण दिशा में माधवी लता मण्डप में पुन्नाग वृक्ष को तो देख ॥१६१॥

वृन्दा—(देखकर हर्षपूर्वक) जिनकी वंशी की मधुर ध्वनि के द्वारा

आभीरशेखरगतिं प्रतिपादयन्ती

शोभा बभूव परमा परमस्य यष्टिः ॥१६२॥३६॥

ललिता—ण वुत्तं दाणिं पि दोण्णं अण्णोण्णदसणम् । केअलं रङ्गिणिअं पेक्खिअ लअङ्गकुडङ्गं पविसदि कण्हो । [न वृत्तमिदानीमपि द्वयोरन्योन्यदर्शनम् । केवलं रङ्गिणिकां प्रेक्ष्य लवङ्गकुञ्जं प्रविशति कृष्णः] ॥

वृन्दा—पश्य पश्य ।

विसमरान्परितो हरिमूर्त्तितः परिमलानुपलभ्य कलावती ।
इयमितः सखि पुण्ड्कमण्डपे स्मितमुखी तनुवल्लिमपावृणोत् ।।१६४।३७

(पुनर्निरूप्य सकौतुकम्)

व्यक्ति गताभिरभितो भुवि पांशुलायां
सद्यः पदाङ्कततिभिः कथिताध्वनोऽयम् ।
पश्चादुपेत्य नयने किल राधिकायाः
कम्प्रेण पाणियुगलेन हरिर्दधार ॥१६५॥३८॥

समस्त गोएं वशीभूत हो जाती हैं, उन्ही सर्वोतम श्रीकृष्ण की परमशोभाशालिनी लाठी उनको गोपचूड़ामणियो की चाल प्रदर्शित कर रही है ॥

ललिता—अभी उन्होने एक दूसरे को साक्षात् देखा नहीं है, केवल रङ्गिणी-हरिणी को देखकर ही श्रीकृष्ण ने लवग-कुञ्ज में गमन किया है ॥१६३॥

वृन्दा—देखो, देखो, सखि—

श्रीकृष्ण अङ्ग से चारों ओर प्रसारित होने वाली जो सौरभ निकल रही है, कलावती श्रीराधा ने उसे प्राप्त कर लिया है, और उसने मुस्कराते हुए लवग-कुञ्ज से माधवी-कुञ्ज में जाकर अपनी शरीर रूपी लता को छिपा लिया है ॥१६४॥३७

(फिर देखकर कौतुकपूर्वक) सखि, देख धूलियुक्त वन-भूमि पर श्री राधा के जाने से उनके पदचिह्न बन गए थे, श्रीकृष्ण ने श्रीराधा को जाते हुए नहीं देखा परन्तु उन्ही पदचिह्नों ने ही श्रीराधा के जाने का रास्ता बता दिया। श्रीकृष्ण ने उसी रास्ते से जाकर श्रीराधा के दोनों नेत्र बन्द कर दिये परन्तु उस समय उनके दोनों हाथ काँपने लगे ॥१६५॥३८

ललिता—हन्त हन्त, एसा पुलइदङ्गी वामा लीलाकमलेण ताडेदि कमलिक्खणम् । [हन्त हन्त, एषा पुलकिताङ्गी वामा लीलाकमलेन ताडयति कमलेक्षणम्] ॥१६६॥

वृन्दा—पश्य पश्य ।

भ्रूभेद: स्मितसंवृतो नहि नहीत्युक्तिर्मदेनाकुला
　　विध्नःग्तोद्धति पाणिरोधरचन शुष्कं तथा क्रन्दनम् ।
सृष्टो य: सखि राधया मुहुरयं संगोपनोपक्रमो
　　भावस्तेन हृदि स्थितो मुरभिदि व्यक्तः समन्तादमून् ॥१६७॥३६

ललिता—(सस्कृतेन)

प्रातिकूल्यमिव यद्विवृण्वती राधिका रदनखार्पणोद्धुरा ।
केलिकर्मणि गता प्रगल्भतां तेन तुष्टिमतुलां हरिर्ययौ ॥१६८॥४०॥

ललिता—हाय ! वह पुलकित-अङ्गी श्रीराधा वाम्य भाव मे आकर लीला कमल द्वारा कमल-लोचन (श्रीकृष्ण) को ताडना कर रही है ॥१६६

वृन्दा—देखो, देखो—सखि ! श्रीराधा श्रीकृष्ण से अपने हृदय के भाव को बारम्बार छिपाने के लिए जितना उपक्रम करती है, उससे वह भाव छिपा न रहकर बल्कि और अधिक प्रकाशित हो रहा है । श्रीराधा श्रीकृष्ण के प्रति जो असम्मति सूचक भ्रकुटि टेढी कर रही है उसमे थोडी-थोड़ी मुसक्यान जो मिल रही है, उससे उसको परम सम्मति प्रकट होती है और न-न इस प्रकार की निषेधोक्ति के साथ साथ उन्मत्त-आकुल स्वर-भग स्वीकृति प्रकाशित कर रहा है । हाथ का रोकना अनिच्छा प्रकट करते हुए भी श्रीराधा के हाथो मे उद्धता या चञ्चलता का अभाव परम अभीष्टता को ही जाहिर कर रहा है । वह क्रन्दन कर दुख जता रहो है परन्तु सूखा-रोना दुख के अभाव को ही प्रकाशित कर रहा है ॥१६७॥३६

ललिता—श्रीराधा केलि-विलास में प्रगल्भता दिखाते हुए दन्त-नखाघात से उद्धत होकर प्रतिकूलता का जो जो आचरण कर रही हैं, श्रीकृष्ण उसी मे ही अतिशय सन्तुष्ट हो रहे हैं ॥१६८॥४०

वृन्दा—(विहस्य)

नैरञ्जन्यमुपेयतु परिगलन्मोदाश्रुणी लोचने
स्वेदोद्धूतविलेपनं किल कुचद्वन्द्वं जहौ रागिताम् ?
योगौत्सुक्यमगादुरः स्फुरदिति प्रेक्ष्योदयं सङ्गिना
राधे निविरियं तव श्लथगुणा शङ्के मुमुक्षां दधे ॥१६६॥४१॥

ललिता—कध एद विअड्ढमिहुण माहवीकुडङ्गन्तरिद सवुत्तम्।
[कथमेतद् विदग्धमिथुन माधवीकुञ्जान्तरित सवृत्तम्] ॥१७०॥

वृन्दा—राधामाधवयोर्मध्या केलिमाध्वीकमाधुरीम्।
धयन्नयनभृङ्गेन कस्तृप्तिमधिगच्छति? ॥१७१॥४०॥

ललिता—हला, एदे गलन्तमरन्दपि माहवीपुप्फसदोहं मुक्किअ कीस भिङ्गा पुव्वाहिमुह धाअन्ति ? [सखि, एते गलन्मरन्दमपि माधवीपुष्पसदोहं मुक्त्वा कस्माद्भृङ्गा पूर्वाभिमुख धावन्ति ?] ॥१७२॥

वृन्दा—सखि, विमुच्य माधवीमण्डपं नागरमण्डलोत्तंसौ प्रस्थितौ,

वृन्दा—(हँसकर) राधे ! निरन्तर आनन्दाश्रुओ के बहने से तुम्हारे नेत्र अजनशून्य हो गए हैं एव स्वेद के द्वारा विलेपन धुल जाने से उरोजद्वय कुङ्कुम रहित हो गए हैं। तुम्हारा वक्ष स्थल योग (सङ्ग) के लिये उत्कण्ठित हो रहा है, अतएव हे सखि ! ऐसा ज्ञात होता है योगसिद्धी देखकर स्खलितगुणा नीवि भी मुक्ति लाभ करने की इच्छा कर रही है ।।१६६।।४१

ललिता—यह विदग्ध-सम्पत्ति माधवी कुञ्ज मे क्यों चली गई है? ॥

वृन्दा—श्रीराधा माधव की विशुद्ध केलि माधुरी आस्वादन कर किसके नेत्र-मधुकर परितृप्त होते हैं ? ॥१७१॥४२

ललिता—हे सखि ! गलित मकरन्दशाली माधवी पुष्पों को परित्यागकर मधुकरसमूह पूर्वदिशा म क्यो भाग रहे हैं? ॥१७२॥

वृन्दा—सखि ! नागरवृन्द-शिरोमणि श्री श्रीराधा-माधव माधवी मण्डप को छोड़कर चल गये हैं, उनकी अङ्ग सौरभ को प्राप्त कर भ्रमरगण

तयोरामोदमनुसर्पन्तः षट्पदा धावन्ति, तदेहि, लतामन्दिरालोकनेन नन्दयावश्चक्षुषी। (इति परिक्रम्य) ललिते पश्य पश्य ॥१७३॥

मनोहारी हारस्खलितमणिभिस्तारतरल
परिम्लायन्माल्यो मिलितपुरटालङ्कृतिकण।
अयं कुञ्जस्तल्पीकृतकुसुमपुञ्जप्रणयवान्
समन्तात्तुङ्गं पिशुनयति रङ्गं मुरभिद ॥१७४॥४३॥

ललिता—(निपुणं निरूप्य ससंस्कृतेन)
कृष्णाङ्गसङ्गममिलद्घुसृणाङ्गरागा
राधापदस्खलदलक्तकरक्तपार्श्वा।
सिन्दूरबिन्दुचितघर्मजलोक्षितेयं
नूनं धिनोति नयने मम पुष्पशय्या ॥१७५॥४४॥

वृन्दा—(सविस्मयम्)
चिक्रीड या रजसि रञ्जितसूत्रनद्ध-
गोकर्णमात्रचिकुरा नवविद्धकर्णा।

भाग रहे हैं। अतएव आओ, लता मन्दिर को देखकर नेत्रों को आनन्दित कर। (यह कह घूम कर) ललिते ! देख, देख—॥१७३॥

इस पुष्पराज की शय्या युक्त कुज मे हारो के मनोहर मुक्ता बिखरे पड हैं स्वर्ण भूषणो के कणो के फैल जाने से पुष्प म्लान हो रहे हैं—इससे जान पडता है श्रीमुरारि ने यहा अति उच्च विलास किया है ॥१७४॥४३

ललिता—(ध्यानपूर्वक देखकर) आहा ! श्रीकृष्ण-अङ्ग सङ्गम मे अङ्गराग कुसुमो से मिलित, श्रीराधा के चरण कमलो से छूटे अलता से रगी हुई तथा स्वेद जल से गाढी हुई सिंदूर की डेलियोयुक्त यह शय्या हमारे नेत्रो का सुख विधान कर रही है ॥१७५॥४४

वृन्दा—(विस्मय सहित) आहा ! रगीन सूत से एक बालिश्त भर के केश बाध हुए जो अभी धूलि मे ही खेलती है जिसके कान अभी बिधे गए

सेयं कुतः प्रवरविभ्रमकौशलानि
राधाध्यगीष्ट यत वैरजितं जिगाय ॥१७६॥४५॥

ललिता—(पूर्वतः प्रेक्ष्य) वुन्दे, पेक्ख, णादिदूरे सराहो माहवो। [वृन्दे, पश्य नातिदूरे सराधो माधवः] ॥१७७॥

वृन्दा—शृणुवः किमाह ॥॥१७८॥

(नेपथ्ये)

श्रीराधा—(संस्कृतेन)

कुरु कुवलयं कर्णोत्सङ्गे लवङ्गमङ्ग रं
विकिर चिकुरस्यान्तर्मल्लीस्रजं क्षिप वक्षसि।
अनघ जघने कादम्बीं मे प्रलम्बय मेखलां
कलयतु न मामालीवृन्दं हरे निरलंकृतिम् ॥१७९॥४६॥

वृन्दा— (स्मितं कृत्वा)

हैं, उस श्रीराधा ने किससे यह उत्कृष्ट विभ्रम-कौशल सीखा है ? जिससे अजित श्रीकृष्ण को भी उसने आज पराजित कर दिया है ॥१७६॥४५

ललिता—(पूर्व दिशा की ओर देखकर) वृन्दे ! वे श्रीराधा-माधव निकट ही विद्यमान है ॥१७७॥

वृन्दा—आओ सुनें, क्या कह रहे हैं ॥१७८॥

[वेशगृह में]

श्रीराधा—हे अनघ ! हे हरे ! मेरे कानों में कुण्डल सजा दो, केशों में अखण्डित लवंग, वक्षःस्थल में मोतियों की माला एवं कटि देश में कदम्ब पुष्पों की मेखला अर्पण कीजिए, ताकि सखिजन मुझे अलंकारों से रहित न देख पावें ॥१७९॥४६

वृन्दा—(हंसकर) आहा ! जिनके शरीर पर मंजीठ की तरह लाल रंग के अति सूक्ष्म सूत्राकार नख-चिन्ह स्पष्ट रूप से दीख रहे हैं, क्रीड़ा के

वहन्ती मञ्जिष्ठारुणिततनुसूत्रोज्ज्वलरुचो-
सखाङ्कान्खेलोर्मिस्खलितशिखिपक्षावलिरियम् ।
स्फुरन्मुक्तातुल्यैरलघुघनघर्माम्बुभिरल
समृद्धा मे मेधां मधुमथनमूर्तिर्मदयति ॥१८०॥४७॥

(ततः प्रविशति कृष्णः, प्रसाधिताङ्गी राधा च)

श्रीकृष्णः—

नीत पुनरुक्ततां भ्रमरकैः कस्तूरिकापत्रकं
नेत्राभ्यां विफलीकृतं कुवलयद्वन्द्वं च कर्णार्पितम् ।
हारश्च स्मितकान्तिभङ्गिभिरलं विष्टानुपेक्षीकृत.
किं राधे तव मण्डनेन नितरामङ्गैरसि द्योतिता ॥१८१॥४८

उभे—(उपसृत्य) सुन्दर ! इद परममजुल वासन्तीकुसुममण्डनम् ॥

श्रीकृष्णः—(स्तवकद्वन्द्वमादाय सहर्षम्)

श्येवेन मुक्तवृन्दस्य काम्यमाना मुहुर्मया ।
मुक्ता त्वमतिमुक्तानां श्रेण्या सुश्रोणि सेवितुम् ॥१८३॥४९॥

कारण जिनका मोर-पुच्छ स्खलित हो गया है एव जिनके शरीर पर उज्ज्वल मोतियो की भाति अनेक स्वेद बिन्दु चमक रहे हैं, उन श्रीकृष्ण की मधुर-मूर्ति मेरी बुद्धि को मूर्छित कर रही है ॥१८०॥४७

(तब श्रीकृष्ण अलकृत श्रीराधा के सग प्रवेश करते हैं)

श्रीकृष्ण—हे राधे ! तुम्हारे मस्तक पर अलकावली से तुम्हारी कस्तूरिका-बिन्दु ढल जाने से व्यथ सी हो रही है, कानो मे पहिरे हुए कुण्डलो को तुम्हारे दोनो नेत्र विफल कर रहे हैं, आपकी मुस्कराहट रूपी मणि शोभा से गले का हार चूर-चूर होकर निष्प्रभ सा हो रहा है। अतः हे प्रिये ! तुम्हारे इन अलकारो के धारण करने का क्या प्रयोजन ?—समस्त अङ्गो से ही आप आश्चर्यमयी शोभा विस्तार कर रही हैं ॥१८१॥४८

वृन्दा—ललिता—(निकट आकर) हे सुन्दर ! यह लो परम मनोहर माधवी पुष्प गुच्छ को ॥१८२॥

श्रीकृष्ण—(स्तवको को ग्रहणपूर्वक हर्ष सहित) हे सुश्रोणि ! सब मुक्तपुरुष मुझको सेवन करते हैं, वहा मैं बारम्बार प्रार्थना कर रहा हूँ कि

(इति राधामवतंसयति)

(नेपथ्ये)

अनुपरमति यामे काममह्नस्तृतीये
जलदसमयलक्ष्मीयौवनोज्जृम्भरोऽद्य ।
नवयवसकदम्बैस्तर्पितानां कदम्बं
कलयति सुरभीणां गोकुलायाभिमुख्यम् ॥१८४॥५०॥

ललिता—राहे ! अणुजाणेहि । रत्तिमण्डनत्थं दुल्लहं वसन्तकुसुमं गण्हिस्सम् । [राधे, अनुजानीहि । रात्रिमण्डनार्थं दुर्लभं वसन्तकुसुमं ग्रहीष्यामि] (इति निष्क्रान्ता) ॥१८५॥

श्रीकृष्णः—(स्मित्वा जनान्तिकम्) वृन्दे ! किञ्चिद्विनोदं विधातुकामोऽस्मि, तदत्र प्रियायाः प्रत्यायितेयं पुरो द्रुमाधिरूढा कक्खटी त्वया मत्पक्षग्राहिणि क्रियताम् ॥१८६॥

वृन्दा—भवतु । यतिष्ये ॥१८७॥

इस माधवी पुष्प-गुच्छ समूह को आप सेवन करो । यह कहकर श्रीराधा के कानों में उन्हें अर्पण कर देते है) ॥१८३॥४९॥

[वेशगृह से आवाज आती है]

आज अभी दिन का तृतीय प्रहर नही बीता है कि वर्षा ऋतु की प्रगाढ़ शोभा छा जाने से नवीन तृण समूह सुरभीगण तृप्त हो गई है और गोकुल की ओर जा रही हैं ॥१८४॥५०॥

ललिता—राधे आज्ञा दीजिये, मैं रात्रि के अलंकारों के लिए सब दुर्लभ वसन्त-कुसुम अभी लाऊँगी । (यह कहकर चली जाती है) ॥१८५॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कराते हुए हाथ की ओट में) वृन्दे ! मैं किञ्चित् क्रीड़ा करना चाहता हूँ । इसलिये तुम आगे जाकर वृक्ष पर बैठी उस कक्खटी वन्दरी को, जो प्रियतमा का पक्ष ले रही है, मेरी पक्षपातिनि करो ॥१८६॥

वृन्दा —ऐसा ही होगा, मैं यत्न करूँगी ॥१८७॥

श्रीकृष्णः—(राधामवेक्ष्य) प्रिये चन्द्रा- (इत्यर्द्धोक्ते कृत्रिमसंभ्रमं नाटयति) ॥१८८॥

श्रीराधिका:—(सखेदम्) हद्धी हद्धी, कधं एव्वं सुणन्त वि ण मे फुडिदं कण्णजुअलम् । [हा धिक् हा धिक्, कथमेवं शृण्वदपि न मे स्फुटितं कर्णयुगलम्] ॥१८६॥

वृन्दा—(स्वगतम्) पिच्छिकाभ्रमणेन कपटिकामुन्माद्य हरेरभीष्टं व्याहारयिष्ये। (इत्यलक्षितं तथा कृत्वा प्रकाशम्) सखि, रङ्गे मा भज वैमुख्यम् ॥१९०॥

श्रीकृष्णः—प्रिये चन्द्रानने, किमित्यकाण्डे विमनस्कासि? ॥१९१॥

(नेपथ्ये)

सामिणी इमिणा तुज्झ मुद्धत्तणेग ललिआ ण जीविस्सदि [स्वामिनि! अनेन तव मुग्धत्वेन ललिता न जीविष्यति] ॥१९२॥

श्रीकृष्ण—(श्रीराधा को देखकर) प्रिये चन्द्रा · · · · · · (इतना आधा वाक्य कहकर बनावटी भय प्रकाशित करते है) ॥१८८॥

श्रीराधिका—(दुख पूर्वक) हाय धिक्कार ! धिक्कार। यह सुनकर मेरे कान क्यों न फट गए ॥१८६॥

वृन्दा—(मन में) मोरपुच्छ का चामर ढुलाकर इस बन्दरी को मैं लुब्ध करूँगी और श्रीकृष्ण के अभीष्ट वचन कहूगी। (यह कहकर छिप कर वैसा करते हुए स्पष्ट कहती है) सखि राधे ! रङ्ग में भङ्ग मत डालो ॥

श्रीकृष्ण—प्रिये चन्द्रानने ! बिना कारण खिन्न क्यों हो रही हो ॥१६१

(वेशगृह से आवाज आती है)

हे स्वामिनि ! तुम्हारे इस मुग्धत्व से ललिता जीवित न रह पायेगी ॥१६२॥

श्रीराधिका:—(ऊर्ध्वमालोक्य स्वगतम्) णीसंदेहम्हि किदा कक्खडिआए (प्रकाशम्) पअण्डं क्खु कुलिसविप्फूज्जिदं कधं डिण्डिमाडम्बरेण सवरणिज्जं होदु ? [निःसन्देहास्मि कृता कक्खटिकया। प्रचण्डं खलु कुलिशविस्फूर्जितं कथं डिण्डिमाडम्बरेण संवरणीयं भवतु ?]. (इति परांमुखी भवति) ॥१६३॥

श्रीकृष्ण:—(अपवार्य)

समरोद्धरकामकार्मुकश्रीविजयिभ्रूयुगमाकुलाक्षिपद्मम् ।
विधुरीकृतमप्यतिक्रुधाग्रे मम राधावदनं मनो धिनोति ॥५१॥

(इति राधापटाञ्चलमुद्धार्य) सुन्दरि! मधुरेण समाप्यतां मधुविहारकौतुकम् ॥१६४॥

(पुनर्नेपथ्ये)

हद्धी हद्धी, भो पउमासिक्खे दुट्ठसारसि, तुमं पि मं कडक्खसि। ता कीस पराणं धारेमि। [हा धिक् हा धिक्। भो पद्माशिष्ये; दुष्टसारसि, त्वमपि मां कटाक्षयसि। तत्कस्मात्प्राणं धारयामि] ॥१६५॥

श्रीराधिका—(ऊपर की ओर देखकर मन ही मन में) कक्खटि ने मुझे निःसन्देह कर दिया है। (स्पष्ट कहती हैं) वज्राघात का प्रचण्ड शब्द क्या डुगडुगी से दबता है ? अर्थात् हे चन्द्रा–यह अर्द्ध सम्बोधन-ध्वनि (जो वज्राघात के समान है) हे चन्द्रानने ! —इस स्पष्ट सम्बोधन-ध्वनि से छिप सकती है ? (यह कहकर मुँह फेर लेती हैं) ॥१६३॥

श्रीकृष्ण—(मन मे) जिसकी भ्रकुटि चढ़ने से कन्दर्प के धनुष की शोभा फीकी पड़ जाती है, एवं जिसके नेत्र युगल कमलों की शोभा को व्याकुल करने वाले हैं, उस श्रीराधा का क्रोध लालिमायुक्त मुख मेरे मन को अतिशय आनन्द प्रदान कर रहा है। (यह कहकर श्रीराधा का पटांचल पकड़ते हुए) हे सुन्दरि ! इस वसन्त-विहार लीला को मधुरता से ही समापन कीजिये ॥१६४॥५१॥

(फिर वंशगृह से आवाज आती है)

—धिक्कार है, ओ पद्मा की शिष्या ! तुझे धिक्कार है, तू भी मेरे ऊपर कटाक्ष कर रही है। मैं फिर कैसे प्राण धारण करूँ ? ॥१६५॥

श्रीराधिका—(निशम्य सरोषमपसर्पन्ती) वुन्दे ! परं केत्तिअं विडम्बिदम्हि। ता झत्ति धारेहि एणं कवडपरिवाडाअसुत्तधारं भुअणमाराम्भिमुरलीसिक्खणीसङ्ककरालिआणत्तिणो कीलाकुरङ्गम्। [वृन्दे ! परं कियद्विडम्बितास्मि। तद्झटिति वारयैनं कपटपरिपाटीनाटकसूत्रधारं भुवनमारारम्भिमुरलीशिक्षानि:शङ्क करालिकानप्त्रीक्रीडाकुरङ्गम्] ॥१९६॥

श्रीकृष्ण:—(सानन्दस्मितम्) सखि वृन्दे! प्रसादाय राधाम् ॥१९७॥

वृन्दा—प्रिय सखि राधे ! विदग्धवधूनां मूर्धन्यासि। तदकाण्डे कठोरमानकाण्डेन नापसारय वल्लभकृष्णसारम् ॥१९८॥

श्रीराधिका:—(बाढमवज्ञामभिनीय) एत्थ अवत्थादुं ण जुत्तम्हि। [अत्रावस्थातुं न युक्तास्मि] (इति निष्क्रान्ता) ॥१९९॥

श्रीकृष्ण:—वृन्दे! बलीयसि रोषानले साममाध्वीकमुद्दीपनायैव। तदलमत्रानुयात्रया ॥२००॥

श्रीराधिका—(सुनकर क्रोधपूर्वक जाते हुए) वृन्दे ! कितनी बिडम्बना सहन करूँ मैं ? यह कपट परिपाटी मय नाटक का सूत्रधार है, चौदह भुवन में कन्दर्प जगा देने वाली मुरली शिक्षा में निशंक है। दूर कर इस करालिका-नप्त्रीवशवर्त्ती क्रीड़ा मृग को ॥ १९६॥

श्रीकृष्ण—(*आनन्द सहित मुसकराते हुए*) *सखि वृन्दे ! श्रीराधा* को प्रसन्न करो ॥१९७॥

वृन्दा—प्रिय सखि राधे ! रसिक-रमणियों की शिरोमणि है तू। फिर बिना कारण कठोर मन धारण कर कृष्णसार प्रीयतम का तिरस्कार न कर ॥१९८॥

श्रीराधिका—(अतिशय अवज्ञा को प्रकाशित करती हुई) मेरा यहाँ रहना ही ठीक नही है। (*यह कहकर चली जाती हैं*) ॥१९९॥

श्रीकृष्ण—वृन्दे ! वलवान क्रोधाग्नि में शान्ति के वाक्यरूप मधु का डालना और भी उसे प्रज्वलित करता है, अतएव तुम्हारा पीछे जाना उचित नही है ॥२००॥

वृन्दा—किमत्र युक्तम् ? ॥२०१॥

श्रीकृष्णः—वृन्दे, वरवर्णिनीवेषेण राधां साधयितुमिच्छामि। तदत्र भवत्या समाधानमध्यवसीयताम् ॥२०२॥

(वृन्दा साङ्गीकारं स्मितं करोति)

श्रीकृष्ण.—सखि ! गौराङ्गरागसङ्गतं वराङ्गनावेषसाधनं कथमत्राभिलप्स्ये ॥२०३॥

(प्रविश्य)

मधुमङ्गलः—पिअवअस्स ! अत्थि गोरीघरे तहाविहवेससामग्गी जा पउमाए मह हत्थे समप्पिदा। [प्रियवयस्य ! अस्ति गौरीगृहे तथाविधवेषसामग्री या पद्मया मम हस्ते समर्पिता] ॥२०४॥

श्रीकृष्ण —(सहर्षम्) वृन्दे, गौरीगृहगम्भीरिकायां भविष्यामि। तदात्मभगिनीभावेन समानेयोऽहम्। (इति सवयस्यो निष्क्रान्तः) ।२०५॥

वृन्दा—फिर क्या करना उचित है ? ॥२०१॥

श्रीकृष्ण—वृन्दे ! मैं चाहता हूँ उसे मैं एक सुन्दरी का रमणी वेश धारण कर प्रसन्न करूँ। इसलिये तुम वेश-रचना की सामग्री शीघ्र ले आओ ॥२०२॥

[वृन्दा सहमत होते हुए मुसकराती है]

श्रीकृष्ण—सखि ! अङ्गों को गौर रंग में बदल देने वाली सुन्दर रमणी वेश योग्य सामग्री यहां कैसे प्राप्त होगी ? ॥२०३॥

[मधुमङ्गल प्रवेश करता है]

मधुमङ्गल—प्रिय सखे ! सुन्दर रमणी के वेश योग सामग्री गौरी मन्दिर में मौजूद है, जो पद्मा ने मुझे दी थी ॥२०४॥

श्रीकृष्ण—(हर्ष सहित) वृन्दे ! मैं गौरी मन्दिर की गम्भीरिका (निचले स्थल) में रहूँगा। तू मुझमें अपनी भगिनी का भाव ही प्रकाशित करना। (यह कहकर मधुमङ्गल के साथ चले जाते हैं) ॥२०५॥

वृन्दा—(परिक्रम्य दूरे दृष्टिं क्षिपन्ती)

चम्पकलवङ्गबकुलान्यवचिन्वत्योर्वयस्ययोरत्र ।
स्फुटमिदमेव सलज्जं राधावृत्तं निवेदयति ॥२०६॥५१॥

(प्रविश्य तथाविधा राधा)

श्रीराधिका:—सहि तदो ! अहं अणुणेदुं पउत्तं एणं अवहीरिअ एत्थ पत्तम्हि । [सखि! ततोऽहमनुनेतुं प्रवृत्तमेनमवधीर्य प्राप्तास्मि] ॥२०७॥

ललिता—राहे ण क्खु तुमम्हि कण्हस्स गोत्तक्खलिदं सिविणे वि संभाविअदि । ता पइदिमत्ताणं पसूणं पलावे किदवीसम्भा तुम वञ्चिदासि । [राधे, न खलु त्वयि कृष्णस्य गोत्रस्खलितं स्वप्नेऽपि सम्भाव्यते । तत्प्रकृतिप्रमत्तानां पशूनां प्रलापे कृतविश्रम्भा त्वं वञ्चितासि] ॥२०८॥

विशाखा—हद्धी हद्धी । ललिदे ! पेक्ख अज्ज सोहग्गपुण्णिमाहे आरूढसंघरिसा वलिणो पडिवक्खा । ता विडम्बिदा म्ह देव्वेण । [हा धिक् हा धिक् । ललिते! पश्याद्य सौभाग्यपूर्णिमाहे आरूढसघर्षा बलिनः प्रतिपक्षाः । तस्माद्विडम्बिताः स्मो दैवेन] ॥२०९॥

वृन्दा—(घूमकर दूर तक देखती है) वहाँ श्रीराधा चम्पक, लवंग, वकुल पुष्प चुनती हुई ललिता-विशाखा इन अपनी दोनो सखियों को लज्जापूर्वक यह वृत्तान्त खोलकर कह रही है ॥२०६॥

[उसी अवस्था मे श्रीराधा प्रवेश करती हैं]

श्रीराधिका—सखि ! उसके बाद श्रीकृष्ण मेरी बहुत अनुनय करने लगे, परन्तु मैं उनकी अवज्ञा कर यहा चली आई हूँ ॥२०७॥

ललिता—राधे ! तुम्हारे प्रति श्रीकृष्ण का गोत्रस्खलन (अन्य नामोल्लेख से आह्वान करना) स्वप्ने मे भी सम्भव नहीं है । इसलिये तुम स्वाभाविक मत्त पशुओ के प्रलाप मे विश्वास कर वञ्चित हुई हो ॥२०८॥

विशाखा—धिक्कार है, धिक्कार, ललिते ! देख आज सौभाग्य पूर्णिमा के दिन विपक्षियो मे कृष्ण-प्राप्ति का सौभाग्य उदय होने से वे बलवान हो उठी हैं, इसलिए हम तो दैव से ही वञ्चित की गई हैं ॥२०९॥

ललिता—विसाहे, सच्चं कहेसि। एत्थ महूसवे जइ अम्हाणं मुहमालिण्णं सवत्तीओ पेक्खिस्सन्ति, तदो सोल्लुण्ठ कडक्खन्तीओ हसिस्सन्ति। [विशाखे ! सत्यं कथयसि। अत्र महोत्सवे यद्यस्माकं मुखमालिन्यं सपत्न्यः प्रेक्षिष्यन्ति, तदा सोल्लुण्ठं कटाक्षयन्त्यो हसिष्यन्ति] ॥२१०॥

श्रीराधिका—(स्वगतम्) साहु सहिओ मन्तेन्ति। ता किं एत्थ सरणम्। [साधु सख्यो मन्त्रयन्ति। तत्किमत्र शरणम्?] ॥२११॥

वृन्दा—(उपसृत्य) ललिते ! रामानुजस्य निदेशेन राममुपनेतुं प्रस्थितास्मि ॥२१२॥

ललिता—किं ति। [किमिति ?] ॥२१३॥

वृन्दा—वसन्तश्रीदर्शनाय ॥२१४॥

विशाखा—सहि वुन्दे ! खणं विलम्बिअ कुण संधिम्। [सखि वृन्दे! क्षणं विलम्ब्य कुरु संधिम्] ॥२१५॥

वृन्दा—सत्यं जानीहि मया दुष्करोऽद्य संधिः ॥२१६॥

ललिता—विशाखे ! सच कहती है तू। आज सौभाग्य पूर्णिमा के महोत्सव पर यदि विपक्षिणी हमारे मुख मालिन्यको देखेंगी, तो वे भी हमारे ऊपर परिहासपूर्वक कटाक्ष करते हुए मजाक उड़ायेंगी ॥२१०॥

श्रीराधिका(मन ही मन में) ठीक कहती हैं सखीगण। पर अब उपाय क्या है ? ॥२११॥

वृन्दा—(निकट आकर) ललिते ! रामानुज (श्रीकृष्ण) की आज्ञा से राम को लेने जा रही हूं ॥२१२॥

ललिता—किस लिए ? ॥२१३॥

वृन्दा—वसन्त शोभा देखने के लिये ॥२१४॥

विशाखा—थोड़ी देर रुको, मिलाप करा दो ॥२१५॥

वृन्दा—सत्य समझना मेरे द्वारा आज यह मिलाप न होगा ॥२१६॥

विशाखा—यह क्यों ? ॥२१७॥

विशाखा—कधं विअ ? [कथमिव ?] ॥२१७॥

वृन्दा—पृच्छ्यतामात्मसखी! ययाद्य दुरुक्तिभिरपरञ्जितः कञ्जेक्षणः ॥

श्रीराधिका—(निःश्वस्य) हला वुन्दे ! तुम ज्जेअ गदी । [हला वृन्दे! त्वमेव गतिः] ॥२१९॥

वृन्दा—(सव्याजरोपम्)

असूआ चण्डाली हुवि पदमिता चण्डि विविशु-
र्न यात्यस्ते पथ्या. श्रुतिसरणिसीमाञ्चलमपि ।
इदानीमौदास्य वशगमदिराक्षीततिरगा-
न्मुकुन्दो निर्द्वन्द्वीभव सखि मुधा निःश्वसिसि किम् ॥५३॥

ललिता—हला ! कहिं सो क्खु मोहणो ? [हला ! कुत्र स खलु मोहन ?] ॥२२१॥

वृन्दा—गौरीसद्मनि ॥२२२॥

ललिता—किं करोदि ? [किं करोति ?] ॥२२३॥

वृन्दा—अपनी सखी से पूछ, जिसने आज कठोर शब्दो से कमल-लोचन (श्रीकृष्ण) का तिरस्कार किया है ॥२१८॥

श्रीराधिका—(निश्वास छोडते हुए) सखि वृन्दे ! तुम ही मेरा एक मात्र आसरा हो ॥२१९॥

वृन्दा—(छल पूर्वक क्रोध सहित) हे क्रोधनि ! तुम्हारे हृदय मे असूया चण्डालिनी ने प्रवेश कर लिया है, हितकारी वचनो को कानो के अचल तक जाने ही नही देती हो । इस समय श्रीकृष्ण भी खञ्जनाक्षि (चन्द्रावली आदिक रमणियो के वशीभूत हो रहे है । अत उन्होने भी तुम्हारे प्रति उदसीनता (उपेक्षा) प्रकट की है । इसलिये हे राधे ! अब लम्बे साँस छोडने से क्या होता है ? निर्विरोध होकर रहो आओ ॥२२०॥

ललिता—सखि इस समय वे कहा है मोहन ? ॥२२१॥

वृन्दा—गौरी मन्दिर मे ॥२२२॥

ललिता—क्या कह रहे हैं ? ॥२२३॥

वृन्दा—निकुञ्जविद्यया सार्धं गोष्ठीं तनोति ॥२२४॥

तिस्रः—सहि का क्खु णिउञ्जविज्जा । [सखि ! का खलु निकुञ्ज-विद्या] ॥२२५॥

वृन्दा—(स्फुटं विहस्य) अहो मौग्ध्यं किशोरीणां यदमूरतिप्रसिद्धामपि निकुंजविद्यां न विदन्ति ॥२२६॥

तिस्रः—(सलज्जम्) सहि, कधेहि सच्चं । ण जाणीम्हे । [सखि, कथय सत्यम् । न जानीमः] ॥॥२२७॥

वृन्दा—हन्त भो विशुद्धाः, का नाम सा गोकुले बल्लववालिकास्ति या खलु स्वसारं मे भाण्डीरदेवतां न जानीते ॥२२८॥

ललिता—वुन्दे ! देहि तुमं मन्तं जेण एदं वैसम्मं सुहोदकं भवे । [वृन्दे ! देहि त्वं मन्त्रं येनेदं वैषम्यं सुखोदर्कं भवेत्] ॥२२९॥

वृन्दा—सखि ! गोकुलानन्दनिगूढविस्रम्भमणिमञ्जूषेयं निकुञ्जविद्या । तदेनां भजेम ॥२३०॥

वृन्दा—निकुञ्जविद्या के साथ बात-चीत कर रहे हैं ॥२२४॥

ललिता-विशाखा एवं राधा—सखि ! निकुञ्जविद्या कौन ? ॥२२५॥

वृन्दा—(जोर से हँसकर) अहो ! कैसी है इन शिरोमणियों की मुग्धता ? जो अति प्रसिद्ध निकुञ्जविद्या को नहीं जानतीं ॥२२६॥

तीनों—(लज्जित होकर) सच कह, हम नहीं जानती हैं उसे ॥

वृन्दा—कैसा आश्चर्य है, तुम सरल स्वभावा गोकुल-रमणियों पर ! जो तुम मेरी बहन भाण्डीरवन के देवता को नहीं जानती हो ॥२२८॥

ललिता—वृन्दे ! तुम ही सलाह दो, जिससे हमारी यह विषमता आगे चल सुखदायी हो ॥२२९॥

वृन्दा—सखि ! यह निकुञ्जविद्या गोकुलानन्द (कृष्ण) की विगूढ़ विश्वस्त मणि-पिटारी है, उसी का हम लेंगी आसरा ॥२३०॥

(इति सर्वाः परिक्रामन्ति)

श्रीराधिका—वुन्दे ! एवं इं अ गौरीमण्डवम् । ता एत्थ पबिसिअ सण्णाए कड्ढ णिउंजविज्जम् । [वृन्दे ! इदमेव गौरीमण्डपम् । तदत्र प्रविश्य सञ्ज्ञयाकर्ष निकुंजविद्या ॥२३१॥

वृन्दा—(कृतोग्रीविकमालोक्य स्वगतम्) हन्त! गौरीमिव किशोरीं द्वारि पश्यामि । (प्रकाशम्) सख्यः केवलमेकात्र भाण्डीरदेवतैव शिखण्डेन कुण्डलं कुर्वती वर्तते ॥२३२॥

तिस्रः—असच्चसंसिणि ! चिट्ठ चिट्ठ । जं एसो ताण्डविअसिहण्डी पंगणे चिट्ठदि । [असत्यशंसिनि ! तिष्ठ तिष्ठ । यदेषस्ताण्डविकशिखण्डी प्राङ्गणे तिष्ठति] ॥२३३॥

वृन्दा—हन्त भो दाक्षिण्यशून्याः ! स्वयमागत्य समीक्ष्यताम् । किमत्रा-नुमानेन ॥२३४॥

ललिता—हला ! फुड तन्दाउलदा चन्दइणो जादा जं णिक्कमन्तो

[यह कहकर सब चली जाती हैं]

श्रीराधिका—वृन्दे ! यह रहा गौरी-मण्डप, इसमे जाकर इशारे से बुला ला निकुञ्जविद्या को ॥२३१॥

वृन्दा—(गर्दन उठाकर देखती हुई मन ही मन मे) आहा ! गौरी की भांति ही श्रीकृष्ण को किशोरी देख रही हूँ। (स्पष्ट कहती है) हे सखियो ! यहा तो केवल एक भाण्डीर देवता ही मोरपुच्छ द्वारा अलकृत होकर विराज-मान है ॥२३२॥

तीनों—ओ मिथ्यावादिनि ! ठहर जा, ठहर, यह तो नृत्यकारी मोर प्राङ्गण मे बैठा है ॥२३३॥

वृन्दा—बड़ा आश्चर्य है ! ओहो, तुम में कुछ भी चतुरता या मनन शीलता नही है। स्वयं आकर देखो न, अनुमान मात्र करने का यहा क्या प्रयोजन ? ॥२३४॥

ललिता—सखि ! यह स्पष्ट है कि यहा से जब कृष्णचन्द्र गए हैं, तब

चन्दअमउली इमिणा ण लक्खिदो। [हला ! स्फुटं तन्द्राकुलता चन्द्रकिणी जाता यन्निष्क्रमन् चन्द्रकमौलिरनेन न लक्षितः।] ॥२३५॥

श्रीराधिका—हला ! घरं पविसिअ णिउंजविज्जं पुच्छम्ह। [हला ! गृहं प्रविश्य निकुंजविद्यां पृच्छामः] ॥२३६॥

(इति सर्वाः प्रवेशं नाटयन्ति)

(प्रविश्य)

जटिला—भणिदम्हि पेम्मेण पउमाए-अज्जे जडिले, दिट्ठिआ वड्ढसि। गोअद्धणो विअ तुम्ह पुत्तो वि गोकोडीसरो हुविस्सदि। जं दिट्ठं मए अज्ज गौरीतित्थे राहिए गोरी आराहीअदिति ता गदुअ वहूडिह् आसिसाहिं वड्ढयिस्सम्। (इति परिक्रम्य रङ्गणीमङ्गने दृष्ट्वा सानन्दम्) साहु पउमे, साहु। असच्चभासिणी णासि। (पुनर्निभाल्य सखेदम्) हद्धी हद्धी। कहं गोरीसिहस्स सिरे तण्डविओ चिट्ठइ। ता परावट्टिअ पुत्तं आणिस्सम्। [भणितास्मि प्रेम्णा पद्मया-'आर्ये जटिले, दिष्ट्या वर्धसे। गोवर्धन इव तव पुत्रोऽपि गोकोटीश्वरो भविष्यति। यद्दृष्टं मयाद्य गौरीतीर्थे राधया गौर्याराध्यते' इति। तद्गत्वा वधूमाशीर्भिर्वर्धयिष्यामि। साधु पद्मे, साधु। असत्य-

---

इस मोर की झपकी लग रही थी , जिससे यह उन्हें नहीं देख पाया है ॥२३५

श्रीराधिका—सखि ! अन्दर चलकर निकुञ्जविद्या से पूछें। (इस कार कहकर सब अन्दर प्रवेश करती हैं) ॥२३६॥

(इतने में जटिला प्रवेश करती है)

जटिला—पद्मा ने प्रेमवश मुझसे कहा—आर्ये जटिले ! भाग्यवश तुम समृद्धिवान हो गई हो। अब गोवर्द्धन की भांति तुम्हारा पुत्र अभिमन्यु भी करोड़ गौओं का अधिपति बन जायेगा। क्योंकि मैंने देखा है गौरीतीर्थ पर श्रीराधा गौरी का आराधना कर रही है। तब चलो बहू-राधा को आशीर्वाद देकर समृद्ध करेंगी। (यह कहकर वहां चली जाती हैं। और वहां रङ्गिणी हरिणी को देखकर आनन्दित होकर कहती हैं) ठीक है पद्मे ! ठीक कहा है तूने। तुमने झूठ नहीं कहा। (फिर ध्यानपूर्वक देखकर दुखसहित) हाय ! धिक्कार ! गौरी-सिंह के सिर पर नृत्यकारी मोर बैठा है अब तो वापस

मापिणी नात्थि। हा धिक् हा धिक्। कथं गौरीसिंहस्य शिरसि ताण्डविकस्तिष्ठति? तत्परावृत्य पुत्रमानेष्यामि] (इति धावन्ती निष्क्रान्ता)॥

श्रीराधिका—(जनान्तिकम्) सहीओ! पेक्खध लोओत्तरं किंपि गोरीए सौन्दरिम् [सख्यः! प्रेक्षध्वं लोकोत्तर किमपि गौर्याः सौन्दर्यम् ॥

सख्यौ—हला! सच्चं सच्चम्। ठाणे कण्हस्स पेम्मवीसम्भसंभाविदा एसा। [हला! सत्यं सत्यम्। स्थाने कृष्णस्य प्रेमविश्रम्भसंभावितैषा]॥

श्रीराधिका—एणं अदिट्ठपुव्वं संभासिदुं ससंभमम्हि। [एनामदृष्टपूर्वां संभाषितुं ससंभ्रमास्मि] (इत्यपत्रपां नाटयति)॥२४०॥

(नेपथ्ये)

यामि वृन्दे, नूनं राधया नाहं परिचीये मया तु सहस्रधेयमनुभूयमानास्ति ॥२४१॥

वृन्दा—(स्वगतम्) चित्रं चित्रम्, साक्षादङ्गनाकण्ठध्वनिरेवायम् ॥

जाकर पुत्र अभिमन्यु को ले आती हूँ। कृष्ण सङ्गिनी वधू-राधा को उसे दिखाऊँगी। (यह कहकर दौड़ी चली जाती है)॥२३७॥

श्रीराधिका—(धीरे से कान मे) हे सखियो! देखो तो गौरीतीर्थ का कैसा अलौकिक सौन्दर्य है?॥२३८॥

सखीगण—राधे! सत्य है सत्य, कृष्ण-प्रेमका इस प्रकार सौन्दर्य उपयुक्त ही है॥२३९॥

श्रीराधिका—इसे तो मैंने पहले कभी नहीं देखा, अतः इसके साथ बोलने में शर्म सी आती है॥ (इस प्रकार कहकर निर्लज्जता प्रकाश करती है)॥२४०॥

[वेशगृह से आवाज आती है]

वृन्दे! मैं तो जा रही हूं, श्रीराधा मुझे जानती ही नहीं है, किन्तु मैंने तो इसे हजारों बार देखा है॥२४१॥

वृन्दा—(मन में) अति चमत्कार! यह तो साक्षात् स्त्रियों की सी कण्ठ ध्वनि है॥२४२॥

श्रीराधिका—वुन्दे ण जाणे कीस पसह णिउञ्जविज्जाए सिणिज्झदि मे हिअअम् । [वृन्दे, न जाने कस्मात्प्रसभ निकुञ्जविद्यायां स्निह्यति मे हृदयम्] ।।२४३।।

वृन्दा—सखि ! तत्त्व जाने । न चित्रमिद यदसावपि चिर त्वय्यनुरज्यति ।।२४४।।

श्रीराधिका—(सानन्दमनुसृत्य) हला, णिउञ्जविज्जे, कहिं सो तुह णिउञ्जणाअरो ? [हला ! निकुञ्जविद्ये, कुत्र स तव निकुञ्जनागर] ।।२४५

(नेपथ्ये) सखि ! कस्त जनो जानाति । २४६।।

ललिता—सहि णिउञ्जविज्जे ! मुञ्च परिहासच्छलम् । अप्पवग्गो दे अम्हारिसो जणो । [सखि ! निकुञ्जविद्ये, मुञ्च परिहासच्छलम् । आत्मवर्गस्तेऽस्मादृशो जन] ।।२४७।।

(नेपथ्ये)

बाढ तत्त्वमविज्ञाय तप्यमान कृशानुना ।
कथ शारदपद्माक्षि पारद परिलभ्यते ।।२४८।।५४।।

श्रीराधिका—वृन्दे ! न जाने मेरा मन वरवश इस निकुञ्जविद्याके प्रति क्यों प्रेम से भरा जा रहा है ? ।।२४३।।

वृन्दा—सखि ! इसमें आश्चय नही है, मैं यथार्थ जानती हूँ कि यह निकुञ्जविद्या भी तुमसे अनेक दिन से प्रेम करती है । २४४।।

श्रीराधिका—(आनन्दपूवक निकट जाकर) सखि निकुञ्जविद्ये ! तुम्हारा निकुञ्ज-नागर कहा है ? ।।२४५।।

[वेशगृह से आवाज आती है]

—सखि ! उसे कौन जानता है ? ।।२४६।।

ललिता—सखि निकुञ्जविद्ये ! परिहास-छल छोड़ो , हम सब तुम्हारी अपनी ही हैं ।।२४७।।

[वेशगृह से आवाज आती है]

हे शारदीय कमलनयने ! तुम निगूढ तत्त्व को न जानकर मान-अग्नि

वृन्दा—(जनान्तिकम् ।)

स्मेरा कपोलपाली शंसति दूत्यं निकुञ्जविद्यायाः ।
राधे मृदुलय तदिमां स्नेहेनाभ्यर्च्य भव्येन ॥२४९॥५५॥

श्रीराधिका—हला णिउंजविज्जे ! कीस वुन्देव्व णाणुवन्धसि सिणेहवन्धम् ? [हला निकुञ्जविद्ये ! कस्माद्वृन्देव नानुबन्धासि स्नेहबन्धम्] ॥२५०॥

(नेपथ्ये)

विधिः पद्मे पादौ नवकदलिके सक्थियुगलं
मृणाले दोर्द्वन्द्वं तव शशिनमापाद्य वदनम् ।
मृदूनामर्थानां न कठिनमवष्टम्भकमृते
स्थितिः स्यादित्यन्तर्व्यधित हृदयं नूनमशनिम् ॥२५१॥५६॥

श्रीराधिका—वृन्दे ! पेक्ख साणुराअहासं परिहसिआमि णिउंजवि-

में दग्ध हो रही हो, पारद को क्यों उपलब्ध कर पाओगी ।—अर्थात् उत्तप्त व्यक्ति को पारद (पारा) से लाभ नहीं होता ॥२४८॥५४॥

वृन्दा—(हाथ की ओट करके) मृदु-मुस्कानयुक्त कपोल स्थल निकुंज विद्या के दूत्यकार्य की सूचना दे रहे हैं, अतएव हे राधे ! मङ्गलरूप स्नेह सहित प्रार्थना पूर्वक इसकी कोमलता सम्पादन कर ॥२४९॥५५॥

श्रीराधिका—सखि निकुंजविद्ये ! वृन्दा की तरह तू हमसे क्यों नहीं स्नेह-बन्धन जोड रही है ? ॥२५०॥

[वेशगृह से आवाज आती है]

हे राधे ! विधाता ने कमल द्वारा तुम्हारे चरण, नवीन कदली से तुम्हारे ऊरुयुगल, मृणाल से दोनो भुजाएं तथा चन्द्र से तुम्हारे मुख का निर्माण करने के बाद यह अनुभव किया कि कोमल पदार्थ कठोर वस्तु का सहयोग लिये बिना स्थिर नही रह सकते, अतएव हे सखि ! जान पड़ता है उसने इसलिए तुम्हारे हृदय को वज्र से ही निर्माण किया है ॥२५१॥५६

श्रीराधिका—वृन्दे ! देख इसकी सानुराग मुसकराहट । निकु-

ञ्जाए। ता गदुअ मिलिस्सम्। [वृन्दे ! पश्य सानुरागहासं परिहस्ये निकुञ्जविद्यया। तद्गत्वा मिलिष्यामि] (इति निष्क्रान्ता) ॥२५२॥

वृन्दा—गोकुलरामाप्रेयसि निकुंजविद्ये कठोरधीस्त्वमसि।
यत्प्रवणामपि पुरतः परिरभ्य सखीं न रंजयसि ॥२५३॥५७॥

विशाखा—इअं राही णिउंजविज्जं परिरद्धं भुअवल्लीं उल्लासेन्ती पेम्मवीसद्धं जप्पदि। [इय राधिका निकुञ्जविद्यां परिरब्धुं भुजवल्लीमुल्लासयन्ती प्रेमविश्रब्धं जल्पति]

(नेपथ्ये)

हला भाण्डीरदेअदे, पेक्ख। गोउलपवेसवेला पच्चासीअदि, ता कारिज्जउ अम्हेसु लीलारङ्गसंगमिदो कण्हस्स पसाओ। [हला भाण्डीरदेवते! पश्य। गोकुलप्रवेशवेला प्रत्यासीदति, तत्कार्यतातूर्णमस्मासु लीलारंगसङ्गमितः कृष्णस्य प्रसादः] ॥२५४॥

ललिता—वुन्दे ! एसा तुज्झ बहिणी राहिअं परिरम्भिअ चुम्बदि। [वृन्दे ! एषा तव भगिनी राधिकां परिरभ्य चुम्बति] ॥२५५॥

विशाखा—(सशङ्कम्) दिट्ठा णिल्लज्जिआए तुज्झ णिउंजविज्जाए

विद्या मेरा परिहास कर रही है। इसलिए अब इससे जाकर मिलती हूँ॥ (यह कहकर चली जाती हैं)॥२५२॥

वृन्दा—(हँसते हुए) हे गोकुलरमणियों की प्रियेतमे निकुंजविद्ये ! तू बड़ी कठोर बुद्धि है। नम्र-स्वभावा राधा तुम्हें आलिंगन करने के लिए आ रही है, और तू इसे आलिंगन द्वारा सुखी नहीं कर रही है ? ॥२५३॥५७

विशाखा—यह श्रीराधा निकुंजविद्या को आलिंगन करने के लिए अपनी भुजलताओं को बढ़ाकर प्रेममय विश्वास से कह रही है-"हे सखि भाण्डीरदेवत ! देख गोकुल में जाने का समय निकट आ गया है। हमारे साथ लीला-रंग संग शीघ्र ही सम्पन्न कर, जिससे श्रीकृष्ण प्रसन्न हों ॥२५४

ललिता—वृन्दे ! यह तुम्हारी बहन श्रीराधा को आलिंगन कर चुम्बन कर रही है ॥२५५॥

विशाखा—(शङ्का सहित) वृन्दे ! निर्लज्जा निकुंजविद्या में तो मैं

पुरिसधम्मलुद्धदा । ज एसा राहावक्खोरुहे णहरङ्कुर अप्पेदि । [दृष्टा निर्लज्जया तव निकुञ्जविद्यया पुरुषधर्मलुब्धता । यदेषा राधावक्षोरुहे नखराकुरानर्पयति] ॥२५६॥

— वृन्दा—(सस्मितम्) सखि, माऽसूयां कृथा. । प्रेमोत्कर्षविलासोऽयम् ॥२५७॥

(प्रविश्य सोत्कम्पा)

श्रीराधिका—(सभ्रूभङ्गम) वुन्दे, जुत्तं जुत्तं अम्हेसु तुम्ह जिम्हत्तणम् । [वृन्दे ! युक्त युक्तमस्मासु तव जिह्मत्वम्] ॥२५८॥

वृन्दा—(विहस्य) सखि ! न वेद्मि किं तवाकूतम् ॥२५९॥

सख्यौ—(सस्मितम्) वुन्दे ! विण्णदा दे मोहिणीभूदा णिउञ्जविज्जा । [वृन्दे ! विज्ञाता ते मोहिनीभूता निकुञ्जविद्या] ॥२६०॥

(तत प्रविशति सपुत्रा जटिला)

जटिला—वच्छा हिमण्णो ! पेक्ख पङ्गणे रङ्गिणी तह तण्डविओ वि

पुरुषो के धर्म उदित हुए देखती हूं । देखो, यह श्रीराधा के उरोजद्वय मे नखाघात कर रही है ॥२५६॥

वृन्दा—(मुसकराकर) सखि ! बुरा मत मान, यह है प्रेमोत्कर्ष का विलास ॥२५७॥

[कपकपी सहित प्रवेश कर]

श्रीराधिका—(भ्रकुटि टेढ़ी करते हुए) वृन्दे ! ठीक है, युक्त है तुम्हारी हमारे प्रति कुटिलता ॥२५८॥

वृन्दा—(हँसकर) सखि ! मैं तुम्हारा अभिप्राय नही समझी ॥२५९

ललिता-विशाखा—(मुसकराते हुए) वृन्दे ! जान लिया हमने मोहिनी स्वरूपा तुम्हारी निकुञ्जविद्या को ॥२६०॥

[तब वहा अभिमन्यु के साथ जटिला आती है]

जटिला—पुत्र अभिमन्यो ! देख, रङ्गिणी तथा ताण्डविक मोर प्रागण में बैठे हैं ॥२६१॥

सिहण्डी चिट्ठदि । ' वत्साभिमन्यो ! पश्य प्राङ्गणे रङ्गिणी तथा ताण्डवि कोऽपि शिखण्डी तिष्ठति ।'] ॥२६१॥

अभिमन्यु—अम्ब ! सच्चं कहेसि । ज दिट्ठं मए गोगोवमण्डलेण सद्ध एक्को ज्जेव रामो गोउलें पइट्ठो । [अम्ब ! सत्यं कथयसि । यद्दृष्टं मया गोगोपमण्डलेन सार्धमेक एव रामो गोकुल प्रविष्ट.] ॥२६२॥

जटिला—वच्छ ! एसा विसारिणी कावि सोरब्भधारा ज्जेव्व त साहसिअमिहुणं एत्थ कहेइ ॥ [वत्स ! एषा विसारिणी कापि सौरभ्यधारैव तद् साहसिकमिथुनमत्र कथयति ।] ॥२६३॥

अभिमन्यु:—अम्ब भवदीए णिदेसो वि मए पडिवालिदो अज्ज सवुत्तो ता दाणि राहिअं महुरापुरे णइस्सम् । [अम्ब ! भगवत्या निदेशोऽपि मया प्रतिपालितोऽद्य सवृत्तः । तदिदानीं राधिका मथुरापुरे नेष्यामि] ॥२६४॥

जटिला—पुत्त ! दिट्ठिआ । एक्कदुआर घर । ता दुआरभित्तिए लग्गा भविअ सुहम्ह, पत्थावम् । [पुत्र ! दिष्ट्या एकद्वार गृहम् । तद्द्वारभित्त्या लग्ना भूत्वा शृणुम प्रस्तावम्] (इति तथा स्थितौ) ॥२६५॥

(प्रविश्य)

अभिमन्यु—मा ! सच कह रही हो, तभी तो मैंने देखा कि गौओं तथा गोपवालकों के साथ अकेले श्रीबलराम ही आज गोकुल में आए थे ॥

जटिला—पुत्र ! यहाँ फैली हुई सौरभ-धारा किसी एक साहसिक-दम्पति की सूचना देती है ॥२६३॥

अभिमन्यु—'मा! आज मैंने भगवती पौर्णमासी की आज्ञा का पालन किया है' अब यहाँ से राधा को मैं मथुरा ले जाऊँगा ॥२६४॥

जटिला—पुत्र ! सौभाग्य की बात है कि हमारे घर का एक ही दरवाजा है । हम दीवार के सहारे बैठकर इनके प्रस्ताव को सुनते हैं (यह कहकर दोनों वहीं बैठ जाते हैं) । २६५॥

[श्रीकृष्ण (रमणीवेश में) प्रवेश करते हैं]

श्रीकृष्ण —(सस्मितम्) राधे ! मास्म कार्षीरतिदुर्लभेऽस्मिन्नर्थे प्रार्थनाम् ।।२६६।।

श्रीराधिका—(सनर्मस्मितम्) अइ देइ ! पसीद पसीद । [अयि देवि ! प्रसीद प्रसीद] ।।२६७।।

(गृह प्रविश्य)

अभिमन्यु —हं साहसिणि ! पच्चक्ख हत्थाहत्थि गहीदासि । [हं साहसिनि ! प्रत्यक्ष हस्ताहस्ति गृहीतास्मि] ।।२६८।।

श्रीकृष्ण —(स्वगतम्) हन्त ! स्वरादभिमन्युमभिज्ञाय कातरेय प्रिया यष्टिवद्भूमौ निपपात ।।२६९।।

जटिला—(सविस्मयमगुल्या दर्शयन्ती) वच्छ ! लोओत्तरेण लाअ-ण्णभरेण का एसा गौरीघर उज्जालेइ ? [वत्स ! लोकोत्तरेण लावण्यभरेण कैषा गौरी गृहमुज्ज्वलयति ?] ।।२७०।।

अभिमन्यु —(विमृश्य) अम्ब! देइ पसीद पसीद, त्ति भणिअ राहीए दण्डपणामो किदोत्थि । ता एसा दिव्वरूआ महेसरहिसो फुड पादुब्भूदा ।

श्रीकृष्ण—(मुसकान सहित) राधे ! इस दुर्लभ विषय की प्रार्थना मत करना ।।२६६।।

श्रीराधिका—(परिहास पूर्वक मन्द मुसकाते हुए) हे देवि ! प्रसन्न होवो, प्रसन्न होवो ।।२६७।।

अभिमन्यु—(घर मे प्रवेश कर) हे साहसिनी ! आज तुम्हें हाथो हाथ पकड लिया है ।।२६८।।

श्रीकृष्ण—(अपने मन में) हाय ! आवाज से अभिमन्यु को पहिचान कर प्रियतमा व्याकुल होकर लाठी की तरह पृथ्वी पर गिर गई है ।।

जटिला—(विस्मयपूर्वक अँगुली से दिखाते हुए) पुत्र ! लोकातीत लावण्य प्रभा से गौरी-गृह को किसने उज्ज्वल कर रखा है ? ।।२७०।।

अभिमन्यु—(विवेचना कर) मा ! "देवि, प्रसीद, देवि प्रसीद" ऐसा कहते हुए श्रीराधा ही दण्डवत प्रणाम कर रही हैं अत स्पष्ट दास

[अम्ब ! देवि, प्रसीद प्रसीदेति भणित्वा राधया दण्डवत्प्रणामः कृतोऽस्ति। तदेषा दिव्यरूपा महेशमहिषी स्फुटं प्रादुर्भूता] ॥२७१॥

श्रीकृष्णः—(सहर्षमात्मगतम्) गौरीनेपथ्यं मम सुष्ठु पथ्यं बभूव ॥

सख्यौ—(सानन्दम्) गोवुत्तम ! तुम्हाणं अम्बेडिदेण अम्हेहि आराहिज्जन्ती गोरी पडिमादो णिक्कमिदा। [गोपोत्तम ! युष्माकमाम्रेडितेनास्माभिराराध्यमाना गौरी प्रतिमातो निष्क्रान्ता] ॥२७३॥

अभिमन्युः—विसाहे ! किं दाणिं देईपादे सुदुल्लहं राहीए अब्भत्थिदम् ? [विशाखे ! किमिदानी देवीपादे सुदुर्लभं राधयाभ्यर्थितम्?]॥२७४

श्रीकृष्ण.—वीराभिमन्यो ! दारुणं किमपि संकटं तवोपस्थितम्। तन्निवृत्तिमिय याचते ॥२७५॥

अभिमन्युः—(सशङ्कम्) भअवदि ! केरिसं तम्? [भगवति ! कीदृश तत्] ॥२७६॥

श्रीकृष्ण —वृन्दे ! तदभिव्यक्तये सकुचन्ति मे वचनानि। ततस्त्वया कथ्यताम् ॥२७७॥

रहा हैं कि दिव्यरूपधारिणी महेश-महिषि-गौरी आविर्भूत हो गई है ॥२७१॥

श्रीकृष्ण—(आनन्दपूर्वक मन मे) गौरीवेश धारण मेरे लिये तो यथेष्ट उपकार जनक हुआ है ॥२७२॥

ललिता-विशाखा (आनन्दपूर्वक) हे गोपोत्तम अभिमन्यो ! तुम हमारे वारम्बार बुलाने पर गौरो पूजा करने आए हो. देखो, गौरी हमारी पूजा से प्रसन्न होकर प्रतिमा से बाहर प्रत्यक्ष हो गई है ॥२७३॥

अभिमन्यु—विशाखे ! राधा ने देवी के चरणो में पडकर किस दुर्लभ वर की प्रार्थना की है ? ॥२७४॥

श्रीकृष्ण—वीर अभिमन्यो ! तुम्हारे ऊपर जो कोई दारुण सकट आ उपस्थित हुआ है। उसकी निवृति के लिए राधा प्रार्थना कर रही है ॥२७५

अभिमन्यु—(शङ्का सहित) भगवति ! संकट कैसा ? ॥२७६॥

श्रीकृष्ण—वृन्दे ! यह बात कहने में मेरी वाणी संकुचित हो रही है। इसलिए तुम ही कह दो ॥२७७॥

वृन्दा—मानिन्नभिमन्यो ! परश्वस्त्वं भोजेश्वरेण भैरवाय·सामुपहारीकर्तव्योऽसि ॥२७८॥

जटिला—(सवैक्लव्यम्) देइ ! पसीद पसीद । जीअवुत्तीअं मं करेहि । [देवि ! प्रसीद प्रसीद । जीवत्पुत्रिकां मां कुरु] ॥२७९॥

श्रीराधिका—(सहर्षमुत्थाय) देइ ! पसीद पसीद । [देवि ! प्रसीद प्रसीद] ॥२८०॥

श्रीकृष्णः—(स्मित्वा) राधे ! वर्णितमेव ते यदद्य दुर्निवारमिदम् ॥

श्रीराधिका—(सकाकुभरं प्रणम्य) हन्त बल्लवीउलदेअदे ! किं पि असक्कं दे णत्थि । ता तुए णाहेण अविप्पओअं पसादीकदुअ अणुगेणहीअदु एसो जणो । [हन्त वल्लवीकुलदेवते ! किमप्यशक्यं ते नास्ति । तत्त्वया नाथेनाविप्रयोगं प्रसादी कृत्यानुगृह्यतामेष जनः] ॥२८२॥

श्रीकृष्णः—(स्मित्वा)

वशीकृतास्मास्मि वशीन्द्रदुष्करैस्तवाद्य राधे नवभक्तिदामभिः ।
तदिष्टसिद्धि कृतगोकुलस्थितिः सदा मदाराधनतस्त्वमाप्स्यसि ॥२८३॥५८॥

वृन्दा—मान्यवर अभिमन्यो ! कंसराज परसूं सन्ध्या समय तुम्हें भैरव की बलि चढ़ायेगा ॥२७८॥

जटिला—(व्याकुलता पूर्वक) देवि ! प्रसन्न हो, प्रसन्न हो, मेरा पुत्र जीता रहे ॥२७९॥

श्रीराधिका—(आनन्दपूर्वक उठकर) देवि, प्रसन्न हो प्रसन्न हो ॥

श्रीकृष्ण—(मुसकराकर) राधे ! तुमने जो आज प्रार्थना की है वह संकट तो निवारण होगा नहीं ॥२८१॥

श्रीराधिका—(विनयपूर्वक प्रणाम करते हुए) हे गोपीकुलदेवते ! आप किसी विषय में असमर्थ नहीं है, अतएव मुझे स्वामी रहित न करके मुझ दीनजन पर अनुग्रह कीजिए ॥२८२॥

श्रीकृष्ण—(मुसकराकर) हे राधे ! मैं मुनीवृन्द के द्वारा भी कभी वशीभूत नही होती हूँ, किन्तु आज तुम्हारी नव-भक्ति डोरी में वन्ध कर

अभिमन्यु —(सोच्छ्वासम्) अइ भत्तजणवच्छले ! कदावि महु राहिमुही मए ण राहिआ कादव्वा । ता इह वसन्ती तुम एसा आराहेदु । [अयि भक्तजनवत्सले ! कदापि मथुराभिमुखी मया न राधिका कर्तव्या । तदिह वसन्ती त्वामेषाराधयतु ॥२८४॥

जटिला —(राधामालिङ्ग्य) अइ गोउलणन्दिणि ! रक्खिदम्हि । [अयि गोकुलनन्दिनि ! रक्षितास्मि] ॥२८५॥

वृन्दा—(अभिमन्युमवेक्ष्य)

विध्वंसयति हि पुंसा साध्वी परिवादितायूंसि ।
परदेवतात्र गौरी भावग्राहिण्यसौ वदतु ॥२८६॥५६॥

श्रीकृष्ण —धन्याभिमन्यो ! कल्याणसाधिका ते राधिका । तदस्या नाविश्रब्धेन भवितव्य भवता ॥२८७॥

अभिमन्यु —देइ ! राहोवेस कदुअ सुअलेण अम्बा मे परिहसिज्जइ ।

वशीभूत हो गई हूं। अत यदि तुम सदा के लिए गोकुल मे ही रहकर सर्वदा मेरी आराधना करती रहोगी तो तभी तुम्हारा मनोवाञ्छित पूरण हो सकता है ॥२८३॥५८॥

अभिमन्यु—(उत्कण्ठा सहित) हे भक्तजन वत्सले ! मैं कभी भी राधा को मथुरा नही ले जाऊंगा । आप सदा यहा उपस्थित रहो और यह राधा सदा आपकी आराधना करती रहेगी ॥२८४॥

जटिला—(श्रीराधा को आलिंगन कर) हे गोकुलनन्दिनि ! तुमने बचा लिया हमे ॥२८५॥

वृन्दा—(अभिमन्यु की तरफ देखकर) जो पुरुष साध्वीपतिव्रता का अपवाद करता है, वह अपवाद ही उस पुरुष का आयु को नष्ट कर देता है। परमदेवता भक्तिग्राहिणी गौरी यही कह रही हैं ॥२८६॥५६॥

श्रीकृष्ण—हे बडभागी अभिमन्यो ! तुम्हारा कल्याण साधन करने वाली है यह राधिका । इसलिये इसके प्रति कभी अविश्वास न करना ॥

अभिमन्यु—देवि ! सुबल राधावेश धारण कर मेरी माता से परि॰

तं पेक्खिअ मच्छरी अणहिण्णो लोओ मिच्छाहिसत्तिं उप्पादेदि। [देवि! राधावेशं कृत्वा सुबलेनाम्ना मम परिहस्यते। तत्प्रेक्ष्य मत्सरी अनभिज्ञोलोको मिथ्याभिसक्तिमुत्पादयति] । २८८ ।

ललिता— अहिमण्णो ! दिट्ठआ सअं जेव्व वीसत्थोसि । [अभिमन्यो ! दिष्टचा स्वयमेव विश्वस्तोऽसि] ।।२८९।।

अभिमन्युः—अम्ब ! एहि मम घरंसव्वस्साइं महुरापुरे णेदुं णिजुत्तं जणं णिवारेम्ह । [अम्ब ! एहि मम गृहसर्व्वस्वानि मथुरापुरे नेतुं नियुक्तं जनं निवारयामः] (इत्यम्बया सह हरिं प्रणम्य निष्क्रान्तः) ।।२९०।।

सख्यौः—(राधामाश्लिष्य सास्रम्) हा पिअसहि ! कधं पामरेहिं तुमं महुरापुरे णेदुं णिच्छिदासि ? [हा प्रियसखि ! कथं पामरैस्त्वं मथुरापुरे नेतुं निश्चितासि ?] ।।२९१।।

(प्रविश्य) पौर्णमासी—(सानन्दस्मितम्)

अङ्गरागेण गौराङ्गो हिरण्यद्युतिहारिणो ।
मामग्रे रञ्जयत्येषा निकुञ्जकुलदेवता ।।२९२।।६०।।

हास करता हैं, उसे देखकर इस अनभिज्ञ मत्सर-परायणा ने लोक में झूंठा कलङ्क फैला रखा है ।।२८८।।

ललिता—अभिमन्यो ! बड़ा सौभाग्य है तुम स्वयं यहां चले आए और तुम्हे विश्वास हो गया ।।२८९।।

अभिमन्यु—माँ ! आओ घर चलें, मैंने जिन लोगों को घर का सामान मथुरा ले जाने के लिये नियुक्त किया था, उन्हे रोक दें । (यह कह अभिमन्यु श्रीराधा को प्रणाम कर माता-जटिला के साथ बाहर चला जाता है) ।।२९०।।

ललिता-विशाखा—(श्रीराधा को आलिंगन पूर्वक अश्रु प्रवाहित करते हुए) हाय प्रिय सखी ! इस पामर ने तुम्हें मथुरा ले जाने का *निश्चय कर रखा था ।।२९१।।*

(पौर्णमासी प्रवेश करती है)

पौर्णमासी—(आनन्दपूर्वक मन्द मुसकाते हुए) स्वर्ण की द्युति

श्रीकृष्णः—(प्रणम्य) भगवति ! वन्दे ॥२८३॥

पौर्णमासी—आशी.शतम् । हन्त यशोदामातः ! दिष्टया भवताद्य संवर्धितास्मि, यदहं राधिकाविच्छेदवेदनानामनभिज्ञीकृता ॥२८४॥

श्रीकृष्णः—उत्तीर्णा परमभयाद्बभूव राधा
निर्बाधाजनि भवती गताधिसूचिः ।
निःशङ्कं प्रमदमितास्तथाद्य सख्यः
कर्तव्यं भगवति किं प्रियं तवास्ति ? ॥२८५॥ ६१॥

पौर्णमासी—(सानन्दास्रम) गोकुलबन्धो ! बाढमवन्ध्यजन्मास्मि कृता, तथापि किंचिदभ्यर्थये ॥२८६॥

प्रथयन्गुणवृन्दमाधुरीमधिवृन्दावनकुञ्जकन्दरम् ।
सह राधिकाया भवान्सदा शुभमभ्यस्यतु केलिविभ्रमम् ॥२८७॥६२

को हरने वाले अङ्गराग से यह गौराङ्गी निकुञ्जदेवता के सामने हमें सुख प्रदान कर रही है ॥२८२॥६०॥

श्रीकृष्ण—(झुककर) भगवति ! तुम्हें प्रणाम है ॥२८३॥

पौर्णमासी—शत-शत आशीर्वाद । हे यशोदा माता ! भाग्यवश आज मैं तुम्हारे द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुई हू, क्योंकि राधिका के विरह की वेदना तुमने भुला दी है ॥२८४॥

श्रीकृष्ण—भगवति ! श्रीराधा परम भय से पार हो गई हैं, आपके मन की वेदना दूर हो गई है एवं सखीगण भी आज निश्चित आनन्द को प्राप्त हुई हैं । अब आपको मैं क्या सेवा करूँ, आज्ञा कीजिए ॥२८५॥६१॥

पौर्णमासी--(आनन्दाश्रु प्रवाहित करते हुए) गोकुल बन्धो ! मुझे सार्थक जीवन कर दिया है, फिर भी कुछ प्रार्थना करती हूँ ॥२८६॥

आप वृन्दावन कुंज कन्दरा में गुण समूह माधुरी का विस्तार करते हुए श्रीराधा के साथ सदा मङ्गलमय केलि-विलास करते रहो ॥२८७॥६२॥

किञ्च ।

अन्तःकन्दलितादरः श्रुतिपुटीमुद्धाटयन्सेवते
यस्ते गोकुलकेलिनिर्मलसुधासिन्धूत्थबिन्दूनपि ।
राधामाधविकामधो मधुरिमस्वाराज्यवश्यार्जनु-
साद्घीयान्मवदीयपादकमले प्रेमोमिरुन्मीलतु ।।२६८।।६३।।

श्रीकृष्णः—(स्मित्वा) भगवति ! तथास्तु । तदेहि, गोदोहावसाने मामप्रेक्ष्य चिन्तयिष्यन्तौ पितराववलिम्ब्य गोकुलं प्रविश्य नन्दयामः ! (इति निष्क्रान्तः) ।।२६६।।

(इति निष्क्रान्ता)

इति श्री श्रीविदग्धमाधव-नाटके गौरीतीर्थविहारो नाम सप्तमोऽङ्कः ।।७।।

ग्रन्थसमाप्तिः ।

राधाविलासवीताङ्कं चतुःषष्टिकलाधारम् ।
विदग्धमाधवं साधु शीलयन्तु विचक्षणाः ।।१।।

और जो व्यक्ति अन्तःकरण में आदर सहित, कर्णपुटों को खोल कर आपके गोकुल-केलि रूप निर्मल सुधा-सिन्धु की एक बूँद का भी सेवन करे, वह श्रीराधामयी माधवी-मधुर-मधुरिमा रूप स्वराज्य को प्राप्त कराने वाली दृढ़तर प्रेमतरङ्ग के द्वारा आपके चरण कमलों को प्राप्त करे यही मेरी प्रार्थना है ।।२६८।।६३।।

श्रीकृष्ण—(मुसकरा कर) भगवति ! ऐसा ही हो । अब आओ, गो-दोहन का समय हो गया है । मेरे माता-पिता मुझे न देखकर चिन्ता में पड़ जायेंगे । अतः गोकुल चलकर उनको आनन्दित करें । (यह कहकर चले जाते हैं) ।।२६६।।

[इसके बाद सब चले जाते हैं]

इस प्रकार श्रीश्यामदासानुवादित श्री श्रीविदग्धमाधव नाटक का गौरीतीर्थ विहार नामक सातवां अङ्क समाप्त हुआ ।।७।।

ग्रन्थ समाप्ति

इस श्रीविदग्धमाधव नाटक के सम्पूर्ण अङ्कों में चौंसठ कलामय

मन्दसिन्धुरबाणेन्दु (१५८९) संख्ये संवत्सरे गते ।
विदग्धमाधवं नाम नाटकं गोकुले कृतम् ॥२॥

शान्तश्रियः परमभागवताः समन्ताद्दं व्यपुञ्जमपि सद्गुणतां नयन्ति ।
दोषावलीमपरितापितया मृदूनि ज्योतींषि विष्णुपदभाञ्जि विभूषयन्ति ॥३॥

॥समाप्तमिदं श्रीविदग्धमाधवं नाम नाटकम् ।

श्रीराधा-विलास वर्णित हुआ है । जो रस को जानने में चतुर महत् पुरुष हैं, वे इसका अनुशीलन करें ॥१॥

सम्वत् १५८९ में श्रीवृन्दावन में इस श्रीविदग्धमाधवनाटक की रचना (श्रीपाद रूपगोस्वामी द्वारा) की गई ॥२॥

दोषावली (अर्थात् अनेकों दोषयुक्त)—रात्रि में शीतलतागुण रहने से उसे मृदु ज्योतिर्मय तारागण आकाश में जैसे विभूषित करते हैं, उसी प्रकार शीलस्वभाव-सम्पत्ति सम्पन्न परम भागवतजन भी हर प्रकार से दोष-समूह-युक्त व्यक्ति को भी सद्गुणवान मानते हैं ॥३॥

इस प्रकार श्रीविदग्धमाधव नाटक का श्रीश्यामदास कृत अनुवाद
वैशाख शुक्ला एकादशी सम्वत् २०३० रविवार को
समाप्त हुआ ॥

